जैन विश्वभारती संस्थान

¼eku; fo'ofo|ky;½

ykMuw & 341 306 ¼jkt LFkku½

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

स्नातकोत्तर (एम.ए.) उत्तरार्द्ध

विषय-अहिंसा एवं शांति

पंचम पत्र

शान्ति शिक्षा एवं अहिंसा प्रशिक्षण

Peace Education and Training in Nonviolence

विशेषज्ञ समिति

1. प्रो. राधाकृष्णन
चेन्नई

2. प्रो. जयप्रकाशम
मदुरई

3. प्रो. जे.एन. शर्मा
चण्डीगढ़

4. प्रो. बच्छराज दूगड़
विभागाध्यक्ष, अहिंसा एवं शान्ति विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज)

5. डॉ. वी. अरुण कुमार
कोटा

6. डॉ. अनिलधर
सह–आचार्य, अहिंसा एवं शान्ति विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज)

7. डॉ. समणी सत्यप्रज्ञा
सह–आचार्य, अहिंसा एवं शान्ति विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज.)

7. डॉ. अनिलदत्त मिश्रा
सहायक निदेशक, गांधी संग्रहालय
दिल्ली

कॉपीराइट :
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ - 341 306 (राजस्थान)

लेखक :
प्रो. बच्छराज दूगड़

संस्करण : 2015

मुद्रित प्रतियाँ : 100

मुद्रक :

अनुक्रमणिका

शांति शिक्षा एवं अहिंसा प्रशिक्षण

इकाई–1 : शांति शिक्षा 01-12

1. शांति की अवधारणा : शांति का स्वरूप, शांति के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण, शांति की अविभाज्यता
2. शांति शिक्षा
3. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद शांति शिक्षा का विकास : अंतर्राष्ट्रीय समझ के लिए शिक्षा, राजनैतिक शिक्षा, वैश्विक शिक्षा

इकाई–2 : शांति शिक्षा के विविध आयाम 13-34

1. शांति शिक्षा की वैधता
2. शांति शिक्षा और निःशस्त्रीकरण शिक्षा
3. शांति–शिक्षा की दुविधाएं
4. शांति शिक्षा की सीमाएं
5. सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा
6. जनतन्त्र और शिक्षा
7. अन्तर्राष्ट्रीयता और शिक्षा
8. इक्कीसवीं शताब्दी की शिक्षा

इकाई – 3 : मूल्यपरक शिक्षा 35-97

1. मूल्य की अवधारणा : आवश्यकता, मूल्यों के प्रकार
2. मूल्यपरक शिक्षा
3. जीवन विज्ञान
4. अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय
5. गांधी की मूल्यपरक शिक्षा– नयी तालीम
6. सर्वधर्म समभाव

इकाई–4 : अहिंसा प्रशिक्षण : हृदय परिवर्तन 98-149

1. अहिंसा प्रशिक्षण : स्वरूप, अहिंसा प्रशिक्षण क्यों?, अहिंसा के विविध पक्ष, अहिंसा प्रशिक्षण की पृष्ठभूमि, अहिंसा प्रशिक्षण के आयाम
2. अहिंसा प्रशिक्षण की विकास यात्रा
3. अहिंसा प्रशिक्षण (आचार्य महाप्रज्ञ प्रणीत) : विविध आयाम, हृदय परिवर्तन दृष्टिकोण परिवर्तन

इकाई–5 : जीवन शैली एवं व्यवस्था परिवर्तन 150-185

1. जीवन–शैली परिवर्तन
2. व्यवस्था परिवर्तन
3. सत्याग्रह

इकाई – 1
शांति शिक्षा

उद्देश्य

1. शांति की अवधारणा को समझना।
2. शांति शिक्षा के स्वरूप का अध्ययन करना।
3. शांति शिक्षा के विकास क्रम का परिचय प्राप्त करना।

संरचना

1. शांति का स्वरूप
    - 1.1 शांति का भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण
    - 1.2 शांति का अर्थ
2. शांति के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण
    - 2.1 संस्थात्मक दृष्टिकोण
    - 2.2. कार्यात्मक दृष्टिकोण
    - 2.3.आरोग्यकर दृष्टिकोण
3. शांति की अविभाज्यता
    - 3.1 अस्तित्ववादी तर्क
    - 3.2 कार्यकारण तर्क
4. शांति शिक्षा
    - 4.1 शांति शिक्षा के विचार का विकास
5. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद शांति शिक्षा का विकास
    - 5.1 अन्तर्राष्ट्रीय समझ के लिए शिक्षा
    - 5.2 राजनैतिक शिक्षा
    - 5.3 वैश्विक शिक्षा
6. अभ्यास प्रश्न

1. शांति का स्वरूप

विश्वशांति मानव–जाति के अस्तित्व, विकास एवं प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। युद्ध या युद्ध का भय, विकास एवं प्रगति के सभी साधनों को शांतिपूर्ण उपयोग से हटाकर युद्ध या युद्ध की तैयारियों के लिए मोड़ देता है। मानव–इतिहास के रक्तरंजित पृष्ठ युद्ध की भयानकता व विनाशकता के जीवन्त उदाहरण हो। जब–जब मानवता युद्ध से त्रस्त हुई, तब–तब शांति की अधिकतम आवश्यकता अनुभव की गई। बीसवीं शताब्दी से पूर्व विश्वशांति के सामूहिक प्रयास बहुत कम हुए। कलिंग–युद्ध के पश्चात् सम्राट अशोक ने युद्ध का परित्याग कर अहिंसा के मार्ग पर चलने का प्रण किया। बाद में एशिया, अफ्रीका, यूरोप आदि क्षेत्रों में युद्धोपरान्त जो संधियां हुईं, उनका उद्देश्य द्विपक्षीय विवादों को समाप्त कर क्षेत्रीय शांति कायम करना था। प्रथम विश्वयुद्ध की वीभत्सता को दृष्टिगत रखते हुए युद्ध टालने एवं शांति कायम करने हेतु ''लीग ऑफ नेशन्स'' की स्थापना हुई लेकिन युद्ध संकट फिर भी न टल सका तथा द्वितीय विश्वयुद्ध में महाविनाश का सामना करना पड़ा। शांति स्थापना तथा परस्पर विवादों के हल हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई। संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों में विश्वशांति तथा सुरक्षा को कायम रखना एवं शांति के लिए उत्पन्न खतरों को सामूहिक सुरक्षा द्वारा रोकना प्रमुख है।

1.1 शांति का भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण

शांति की स्थापना हेतु मानव सभ्यता के आदिकाल से ही प्रयासरत भी रहा है। यह सत्य है कि शांति का सर्वकालिक और सार्वदेशिक महत्त्व है फिर भी अभी तक शांति की कोई सामान्य परिभाषा संभव नहीं हो पाई है और न ही इसकी स्थापना की कोई सर्वमान्य पद्धति खोजी जा सकी है। वास्तव में अभी तक इस विषय में मतैक्य नहीं है कि शांति स्वयं में कोई साध्य है या साध्य की प्राप्ति हेतु आवश्यक साधन।

शांति की परिभाषा साध्य या साधन के रूप में उसके स्तर तथा उसकी स्थापना के लिए प्रभावी कार्य नीति आदि समस्त बिन्दुओं के संदर्भ में मूलतः मानव और उसके क्षेत्र के आधार पर विभिन्न विचारधाराएं परिकल्पित होती रही हैं। भारतीय और पश्चिमी विचार परम्परा तथा इन दोनों परम्पराओं की विविध धाराओं में विद्यमान विभिन्नताओं को समझने के लिये इस बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है कि विपरीत परिस्थितियों में उत्पन्न दोनों परिकल्पनाओं की विभिन्नता का स्वरूप क्या है।

भारतीय परम्परा में शांति संघर्षों का समाधान नहीं, अपितु परम साध्य को दृष्टि में रखकर जीवन के विभिन्न पक्षों के नियमन से सहज प्राप्त होने वाली स्थिति है। भारतीय परम्परा में ब्रह्म से एकाकार हो जाना ही परम लक्ष्य है। इस हेतु अर्थ व काम को धर्म द्वारा नियंत्रित किया जाना अपेक्षित है। ये जीवनशैली व्यक्ति के आवेगों, हितों व इच्छाओं का दमन नहीं, अपितु शमन करती है और परिणाम शांति होता है। बाह्य दृष्टि से धर्म द्वारा अर्थ और काम का नियमन व्यक्ति को व्यक्तिगत तथा सामुदायिक सापेक्ष बनाता है साथ ही साथ परम पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धी में भी सहायक होता है। चूकि अर्थ और काम धर्म द्वारा नियंत्रित है तथा मोक्ष अंतिम लक्ष्य है अतः अन्य व्यक्तियों से प्रतिस्पर्धा अथवा संघर्ष का अवसर उपस्थिति नहीं होता, व्यक्ति की आवश्यकताओं का अनियंत्रित विस्तार नहीं होता और शांति सहज रूप से स्थापित हो जाती है।

शांति के संदर्भ में एक दूसरा दृष्टिकोण भी है जो कि संघर्ष की समाप्ति से उत्पन्न अवस्था को शांति की अवस्था मानता है। इस दृष्टिकोण में शांति को टकराव और द्वंद्व के विद्यमान रहते हुए भी एक ऐसी स्थिति माना जाता है जिसे भौतिक बलप्रयोग से प्राप्त किया जा सकता है।

इस दृष्टिकोण में हितों की एकता के स्थान पर हितों में विरोध अधिक स्वीकार्य होता है और अपने हितों की प्राप्ति के लिये एक पक्ष दूसरे पक्ष को क्षति भी पहुंचा सकता है। ऐसे में उत्पन्न संघर्ष को टालने के लिये

विविध प्रयास किये जाते हैं जैसे – दोनों पक्षों के बीच समझौता, शांति वार्ता आदि। यह दृष्टिकोण भौतिक उपलब्धियों को ही हित के रूप में परिभाषित करता है। चूंकि भौतिक उपलब्धियाँ स्वयं में सीमित होती हैं परिणामतः संघर्ष होता है। इस दृष्टिकोण की विशेषता यह है कि यह शांति को द्वंद्वों के समापन व स्थगन से उत्पन्न स्थिति मानता है तथा यह भी स्वीकार करता है कि अशांति की आशंका लगातार बनी रह सकती है द्वंद अथवा संघर्ष के तत्कालिक समापन को ही शांति मानना इस दृष्टिकोण की विशेषता है। यह दृष्टिकोण अशांति की स्थायी आशंका के रहते शांति स्थापना का अस्थायी प्रयास करता रहता है और इसी कारण शांति बनाये रखने के लिये संस्थागत और सामुहिक प्रयासों के महत्त्व को रेखांकित करता है। इस दृष्टिकोण में शाश्वत शांति की स्थापना व्यक्तियों की आतंरिक चेतना पर अधिक निर्भर नहीं होती, अपितु अशांति के निवारण के लिये व्यक्तियों अथवा समूहों के मध्य टकराव टालने के लिए कार्य साध्य प्रयोग पर बल दिया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शांति के दोनों दृष्टिकोणों में आधारभूत भिन्नता है। दोनों ही दृष्टिकोणों में शांति की परिभाषा तथा उसे अर्जित करने के लिये अपनाई जाने वाली कार्यनीति और प्रयास में भी भिन्नता है। प्रथम दृष्टिकोण शांति के लिये व्यक्ति की चेतना पर निर्भर करता है, जबकि दूसरा दृष्टिकोण शांति को बाह्य वस्तु मानकर बल प्रयोग के द्वारा उसे पाने का प्रयास करता है।

इस प्रकार हमने देखा कि पाश्चात्य दृष्टिकोण में शांति का सामान्य सा अर्थ यह किया जाता है कि युद्ध से मुक्ति शांति है अथवा युद्धरत राष्ट्रों के बीच शांति–संधि भी शांति है। यहाँ युद्ध से मुक्ति अथवा युद्ध मुक्ति के लिये शांति–संधि शांति की परीधि में आते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या शांति केवल युद्धमुक्ति अथवा शांति संधि तक ही सीमित है, अथवा उसका स्वरूप इससे कहीं अधिक व्यापक है। शांति की जिज्ञासा के सन्दर्भ में पॉनविट्ज का यह कथन महत्वपूर्ण है–युद्ध के विरूद्ध कई संभावित कारण हो सकते हैं, लेकिन जब तक हम यह नहीं जान लेते कि शांति क्या है और यह कैसे संभव है, तब तक ये कारण हमारे लिये कैसे सहयोगी हो सकते हैं। इस कथन का एक विशेष अर्थ यह भी है कि सर्वप्रथम हम शांति के स्वरूप का निर्धारण करे। स्वरूप निर्धारण के पश्चात् ही युद्ध के विरूद्ध कारण शांति में सहयोगी हो सकते हैं। इस प्रकार पॉनविट्ज शांति व युद्ध के सम्बन्ध को स्थापित करने की कोशिश करते हैं। उनका यह मानना है कि युद्ध और शांति के बीच संबंध स्थापित करने से पूर्व हमें कई प्रकार के तथ्यों पर ध्यान देना होगा और उनके मध्य विरोध को समाप्त करना होगा।

1.2 शांति का अर्थ

विभिन्न धर्म–दर्शनों एवं राजनीतिज्ञों ने शांति की अलग–अलग व्याख्याएं प्रस्तुत की हो। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार ''शांति'' शब्द का अर्थ है–युद्ध से मुक्ति, दो युद्ध शक्तियों में शांति संधि। अर्थात् युद्ध की समाप्ति तथा युद्धरत राष्ट्रों में संधि कर शांति स्थापित की जा सकती है।

पॉनविट्ज का मत है–''हमारे पास युद्ध के विरुद्ध संभावित कारण हो सकते हो–जब तक हम यह नहीं जानते कि शांति क्या है, कैसे हो सकती है, तब तक ये कारण हमारी सहायता कैसे कर सकते हो?'' अर्थात् पॉनविट्ज के अनुसार युद्ध और शांति का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने से पूर्व कई विरोधाभासों का समन्वय करना अनिवार्य है–

- विगत अनुभवों के आधार पर शांति के सही स्वरूप की समीक्षा।
- यह जानना कि भविष्य में क्रियात्मक रूप से किस प्रकार शांति स्थापित की जा सकती है तथा
- श्रेष्ठ प्रकार की शांति की परिभाषा जो अन्ततः प्राप्त करनी है।

क्विंसी राईट के अनुसार–''शांति किसी समाज की वह अवस्था है, जिसमें आंतरिक रूप से इसके सदस्यों तथा बाह्य रूप से इसके अन्य समुदायों के साथ सम्बन्धों में व्यवस्था तथा न्याय का बोलबाला हो।'' कुछ समाज–शास्त्रियों जैसे लियोहेमन, जुलेस मॉक आदि ने शांति को ''युद्ध न होने'' (Warlessness) के रूप में व्याख्यायित किया है। प्रो. गाल्टुंग ने इस दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए शांति से सम्बन्धित दो भिन्न अवधाराणाएं दीं–पश्चिमी अवधारणा और पूर्वी अवधारणा। पश्चिमी अवधारणा के अनुसार युद्ध या आयोजित सामूहिक हिंसा का अभाव शांति है। तनाव, शोषण और संरचनात्मक हिंसा के अभाव को भी शांति कहा जा सकता है। शांति से सम्बन्धित इन विचारों को निषेधात्मक शांति की संज्ञा दी जाती है। इसलिए शांति के दूसरे पक्ष भावात्मक शांति पर भी विचार अपेक्षित है।

लियो हेमेन ने युद्धविहीनता की स्थिति को शांति के रूप में परिभाषित किया है। 'युद्ध का न होना शांति है', यह परिभाषा पश्चिमी जगत में काफी चर्चित रही है। युद्ध के साथ हिंसा, तनाव, शोषण आदि का अभाव भी युद्ध के अभाव के साथ शांति की परिभाषा के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता रहा है। इसी तरह से सरंचनात्मक हिंसा के अभाव को भी शांति के रूप में देखा जाता रहा है। युद्ध का न होना अनिवार्य रूप से शांति की स्थिति को नहीं दर्शाता, इसलिये तनाव, शोषण और संरचनात्मक हिंसा के अभाव को मिला कर शांति के क्षेत्र को कुछ विस्तृत किया गया। जीवन के हर क्षेत्र में हिंसा, तनाव और शोषण व्याप्त है, जबकि संरचनात्मक हिंसा नौकरशाही के संगठनों, जमीदारी प्रथा, उद्योग और वाणिज्य के अन्तर्गत उत्पादन और विनिमय सम्बन्धों, शैक्षणिक कर्णधारों एवं विद्यार्थियों के सम्बन्ध, सामाजिक संस्थाओं आदि में देखी जा सकती है। इन संबंधों में साम्यभाव की स्थिति शांति की स्थिति कही जा सकती है।

अहिंसाशास्त्रियों का यह विचार रहा है कि अभी भी एक विचार 'सामंजस्य सहयोग या स्थिरता शांति है' को गलत रूप से देखा जा रहा है। ऊपरी तौर पर सहयोग सामंजस्य आदि को शांति के रूप में देखा जा सकता है, किन्तु शांति की अनुभूति के लिये एक निश्चित मात्रा में साम्य अवस्था होनी चाहिये। हम परम्परागत युरोपियन समाज और भारतीय जाति व्यवस्था में स्थिरता को देख सकते हैं, किन्तु वहां एक वर्ग दूसरे वर्ग पर प्रभुत्व स्थापित करता दिखाई देता है। ऐसा शायद इसलिये है कि या तो वे शारीरिक रूप से अशक्त हैं या फिर मानसिक रूप से विपन्न हैं। यहाँ मूलरूप से परिणामात्मक साम्यभाव की स्थिति होनी चाहिये, तभी वहां शांति की स्थिति कही जा सकती है। अतएव स्थिरता, सहयोग या सामंजस्य की स्थिति के साथ साम्य भाव का होना भी शांति के लिये आवश्यक है।

भारतीय शांति चिंतक सुगतदास के अनुसार सामाजिक और मानवीय विकास की प्रक्रिया को भावात्मक शांति कहा जा सकता है। उनके अनुसार शांति का यह अर्थ गांधी ने प्रारंभ किया था पर उन्होंने शांति के प्रतिपक्ष हिंसा की व्याख्या पहले की थी। हिंसा से उनका अर्थ केवल शक्ति प्रयोग, खूनी क्रांति आदि ही नहीं, पर सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक शोषण भी है। भले ही यह शोषण एक राष्ट्र के द्वारा किसी दूसरे राष्ट्र का किया जाए या एक व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति का या किसी पुरुष द्वारा स्त्री का। शांति का रचनात्मक व भावात्मक स्वरूप है–समाज व मनुष्य का समग्र विकास, एकता, सहयोग और स्थिरता। इसलिए एक तरफ तो समाज में हिंसा व शोषण रुकना चाहिए, जबकि दूसरी तरफ मनुष्य व समाज का समग्र विकास भी होना चाहिए। यही शांति का समग्र रूप है। शांति का केन्द्र मानवीय मस्तिष्क है, इसलिए अंतिम रूप से शांति व्यक्ति को अनुभव होनी चाहिए। एक व्यक्ति जब शांति की अवस्था में होगा, तब वह केवल अवरोधों व तनावों से ही स्वतंत्र नहीं होगा, वरन् भावात्मक रूप से संतुष्टि व आनन्द का भी अनुभव करेगा। इसलिए शांति का न्यूनतम रूप है–प्रत्यक्ष और संरचनात्मक हिंसा का अभाव और अधिकतम रूप है–पूर्ण शांति।

इस प्रकार शांति के संदर्भ में प्रस्तुत विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर हम युद्ध के अभाव, हिंसा, तनाव और शोषण के अभाव को निषेधात्मक शांति कह सकते हैं, जबकि मानवीय और सामाजिक विकास की प्रक्रिया को भावात्मक शांति के रूप देख सकते हैं। इसके साथ ही मानव केन्द्रित योजनाबद्ध और सतत सामाजिक परिवर्तन को भी भावात्मक शांति का अंग माना जा सकता है। मानव विकास और समाज विकास की प्रक्रियाओं का मार्ग मानव केन्द्रित, योजनाबद्ध और सतत परिवर्तन से ही गुजरता है। चूंकि परिवर्तन मानवकेन्द्रित है, इसलिये परस्परता, सहयोग, सामंजस्य और न्याय का होना आवश्यक होता है। किन्तु जब तक शांति की अनुभूति मानव मस्तिष्क को नहीं होती, तब तक उसे पूर्ण शांति के रूप में नही देखा जा सकता। पूर्ण शांति के लिये यह अनिवार्य शर्त है कि मानव मस्तिष्क शांति का अनुभव करे और शांति के इस अनुभव के लिये आवश्यक है–साम्य भाव की अनुभूति। इसलिये शांति का केन्द्र बिन्दु मानव मस्तिष्क है। अन्तिम रूप से शांति की अनुभूति व्यक्ति को होनी चाहिए। व्यक्ति का मस्तिष्क जब शांति की अवस्था में होगा, तब वह न केवल नकारात्मक भावों और बाधाओं से स्वतंत्र होगा, बल्कि उसे भावात्मक रूप से संन्तुष्टि और आनन्द की अनुभूति भी होगी।

संक्षेप में शांति का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है–

- युद्ध या संगठित रूप से सामूहिक हिंसा का अभाव।
- नकारात्मक शांति–हिंसा के साथ हिंसात्मक सम्बन्धों का अभाव तथा जिसका प्रमुख आधार शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व हो।
- सकारात्मक शांति जिसमें परस्पर सहयोग हो पर कभी–कभी हिंसा की घटनाएं सम्भव हो।
- अवर्गीकृत शांति, जिसमें हिंसा की पूर्ण अनुपस्थिति परस्पर सहयोग के साथ सम्बन्धित हो।

2. शांति के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों एवं प्रतिरक्षा सम्बन्धी साहित्य में युद्ध के विकल्प एवं शांति के प्रति दृष्टिकोणों पर कई प्रस्ताव सुझाये गये हो। इनमें से कुछ युद्ध के कारणों को जानने तथा कुछ अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से हल करने पर बल देते हो जबकि कई विभिन्न प्रकार की सुरक्षा नीतियों एवं उपायों की खोज को महत्त्व प्रदान करते हो। निम्नांकित तीन दृष्टिकोण अधिकांशतः शांति दृष्टिकोणों के रूप में मान्य हो–

2.1 संस्थात्मक दृष्टिकोण

शांति स्थापित करने के लिए संस्थाओं का प्रावधान 20वीं शताब्दी से पूर्व नहीं था। संस्थाओं द्वारा शांति शांति स्थापना हेतु संगठनों या संस्थाओं का विकास एक महत्वपूर्ण विचार था। यद्यपि 18वीं और 19वीं शताब्दी में विविध सम्मेलनों यथा – हेग, जेनेवा सम्मेलन आदि के माध्यम से युद्ध की रोकथाम, अस्त्र–शस्त्रों पर नियंत्रण और शांति स्थापना के लिये प्रयास किये गये थे, किन्तु स्पष्ट रूप से संस्थात्मक स्वरूप का अभाव सा ही था। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् इस दिशा में कारगर कदम उठाया गया और शांति की स्थापना के लिये संस्थात्मक दृष्टिकोण की क्रियान्विती हेतु राष्ट्र संघ की स्थापना की गई। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय स्तर पर विभिन्न संस्थाओं का उदय हुआ, जिनका मुख्य उद्देश्य था विश्वशांति बनाए रखना। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अतिरिक्त विभिन्न देशों के मध्य अनेक संधियों के सम्पन्न होने के परिणाम स्वरूप कई क्षेत्रीय संस्थाओं का भी उदय हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात तो संगठन और संस्थाओं के विकास की बाढ़ सी आ गई थी। कई क्षेत्रीय और अर्न्तराष्ट्रीय संस्थाओं का उदय हुआ। इन सभी संस्थाओं का लक्ष्य विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिर्स्पधा और संघर्ष को समाप्त कर शांति स्थापना करना था। विगत के अनुभव यह बताते हैं कि इन संघठनों ने अर्न्तराष्ट्रीय स्तर पर शांति स्थापना हेतु महत्वपूर्ण योगदान दिया हैं। इन संस्थानों के प्रयासों का ही

यह फल रहा है कि अभी तक हम तीसरे युद्ध से बच सके हैं। इन संस्थानों ने कई क्षेत्रीय और छोटे युद्धों को भी बंद करने में सफलता प्राप्त की जिससे राष्ट्रों के मध्य शांति स्थापना संभव हो सकी है।

2.2. कार्यात्मक दृष्टिकोण

यह दृष्टिकोण सुरक्षा संगठनों को स्थापित करने की अपेक्षा सामान्य हितों तथा आत्मनिर्भरता पर बल देता है। विभिन्न राष्ट्रों के बीच विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग कार्यात्मक दृष्टिकोण को दर्शाता है। ऐसे सहयोग से भी न केवल शांति स्थापना में, बल्कि शांति बनाए रखने में भी सहयोग मिलता है। राष्ट्रों के बीच विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग उनकी परस्पर अर्न्तनिर्भरता को बढ़ाता है और अर्न्तनिर्भिरता जितनी अधिक होती है उतनी ही यह शांति के लिये गारंटी भी है। विभिन्न क्षेत्रों में ऐसा सहयोग राजनैतिक सहयोग के अभाव में भी संभव है। राजनैतिक चिन्तक पॉमर और पार्किन्स के अनुसार, ''कार्यात्मक दृष्टिकोण का लक्ष्य है– राष्ट्र के मध्य सहयोग बढ़ाना, जो राजनैतिक स्तर पर लगभग दुर्लभ है। दूसरी तरफ राष्ट्र आर्थिक, सामाजिक और तकनीकी क्षेत्रों में परस्पर साथ मिलकर कार्य करने के इच्छुक होते हैं। ऐसा सहयोग शांति स्थापना में न केवल मूल्यवान है, अपितु इससे ऐसे वातावरण निर्माण में भी सहायता मिलती है, जिससे व्यक्तियों और राष्ट्रों को एक सूत्र में बांधा जा सके।'' पॉमर और पार्किन्स का यह कथन शांति के भावात्मक पक्ष को उजागर करता है। आर्थिक, सामाजिक और तकनीकी क्षेत्र में सहयोग से उन राष्ट्रों के नागरिकों के बीच एकात्मकता बढ़ाई जा सकती है। ऐसा सहयोग उन राष्ट्रों की अर्न्तनिर्भरता को दर्शाता है जो उनके बीच एकसूत्रता स्थापित कर शांति को सुनिश्चित करते हैं। ऐसा सहयोग शांति के कार्यात्मक दृष्टिकोण को उजागर करता है। बहुधा सहयोग के अभाव में भी आर्थिक और तकनीकी सहयोग के लिये समझौते किये जाते हैं। ऐसे समझौते धीरे–धीरे उन राष्ट्रों के बीच राजनैतिक सहयोग की पृष्ठभूमि भी तैयार करते हैं। कार्यात्मक दृष्टिकोण के अनुसार आर्थिक और तकनीकी कल्याण के कार्यक्रम अपने प्रतिद्वंदी राष्ट्रों में संचालित किये जाते हैं। यद्यपि उनके बीच राजनैतिक सहयोग का अभाव होता है, तथापि धीरे–धीरे ऐसे कार्यक्रम दोनों राष्ट्रों के परस्पर पूर्वाग्रहों को तोड़कर उनमें राजनैतिक सहयोग की नींव डालते हैं।

2.3. आरोग्यकर दृष्टिकोण

आरोग्यकर दृष्टिकोण मुख्यतः समाज और देश में व्याप्त अशांति के लिये जिम्मेदार कारणों पर सुनियोजित तरीके से प्रहार है जिसका दीर्घकालीन परिणाम शांति स्थापना है।आरोग्यकर दृष्टिकोण मुख्यतः ऐसे कार्यक्रमों पर आधारित होता है जिनके दूरगामी प्रभाव होते हैं। इन कार्यक्रमों के परिणाम शांतिपरक होते हैं। बहुत सी ऐसी सामाजिक व आर्थिक बुराइयाँ होती हैं जो अशांति का कारण बनती हैं। उन बुराईयों पर तत्काल रोक या नियंत्रण प्रायः संभव नहीं होता। इसलिये योजनाबद्ध तरीके से इन बुराइयों पर नियत्रंण स्थापित करने के लिये दीर्घकालिक कार्यक्रम निश्चित किये जाते हैं और इनका परिणाम शांति स्थापना में सहयोग होता है। जातीयता, वर्ग–भेद, छुआछूत, सामाजिक ऊँच–नीच, पूर्वाग्रह, सामाजिक रीतिरिवाज जैसी सामाजिक बुराईयाँ, गरीबी, शोषण, विषमता जैसी आर्थिक बुराइयां एवं अकाल, बाढ़, भूकम्प जैसी प्राकृतिक विनाशकारी घटनाएं समाज और राष्ट्र में शांति और स्थिरता के स्थान पर अशांति का कारण बनती हैं। सरकारी नीतियों का शांति की दृष्टि से मुख्य केन्द्र बिन्दु इन बुराईयों तथा प्राकृतिक विपदाओं पर नियंत्रण स्थापित करना है। उदाहरणतः शोषण और विषमता की समाप्ति के लिये आरक्षण एवं श्रम कानून, सामाजिक बुराइयों की समाप्ति के लिये सामाजिक न्याय मंच, मानवाधिकार आयोग तथा इनसे संबंधित केन्द्रिय मंत्रालय आदि कार्यक्रम तथा व्यवस्थाएं इन बुराइयों को रोकने के लिए दीर्घकालिक प्रयासों के उदाहरण हैं। भारत में अतिवृष्टि के फलस्वरूप बाढ़ से अशांति और अव्यवस्था से बचने के लिये देश के सभी बड़ी नदियों को जोडने की योजना, भूकम्प एवं तूफान आदि की पूर्व सटीक चेतावनी देने के लिये अतिंवेदनशील उपकरणों से सज्जित केन्द्रों की स्थापना आदि भी

दीर्घकालिक शांति स्थापना के प्रयासों के उदाहरण हैं। स्वास्थ्य के क्षेत्र में मलेरिया उन्नमूलन का कार्यक्रम, कुछ मुख्य बीमारियों की रोकथाम के लिये टीकाकरण, कुपोषण को रोकने के लिए पोषाहार कार्यक्रम, कोढ़ एवं चेचक जैसी महामारियों के पूर्णतः निमूर्लन आदि से संबंधित दीर्घकालीन योजनाओं का अप्रत्यक्ष लक्ष्य शांति स्थापना ही है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हो कि स्थायी शांति हेतु आरोग्यकर दृष्टिकोण ही उपयुक्त है क्योंकि इसी दृष्टिकोण के द्वारा राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याएं जो युद्ध या तनाव को जन्म देती है, को स्थानीय स्तर पर ही हल करके अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को चिरस्थायी बनाया जा सकता है।

3. शांति की अविभाज्यता

विश्व में शांति से संबंधित दो अवधारणाएं प्रचलित हो– पश्चिमी अवधारणा और पूर्वी अवधारणा। पश्चिमी अवधारणा के अनुसार युद्ध का अभाव मात्र शांति है। इसलिए पश्चिमी शांति कार्यकर्त्ता युद्धों को रोकने के लिए प्रयत्नशील हो। उनका चिंतन है कि ''युद्ध नहीं होंगे तो अशांति भी नहीं होगी।'' इस अवधारणा के अनुसार शांति का एक अर्थ है–संगठित और सामूहिक हिंसा का अभाव और दूसरा अर्थ है सामंजस्य (Harmony)। दो विरोधी पक्षों में यदि सामंजस्य स्थापित है तो वहां अशांति का कोई कारण नहीं। अर्थात् सामंजस्य का अभाव भी अशांति का जनक है। पूर्वी अवधारणा शांति के इन अर्थों को नकारात्मक शांति (Negative Peace) की संज्ञा देकर सकारात्मक शांति (Positive Peace) के विचार को विकसित करती है। उनके अनुसार शांति संगठित और सामूहिक हिंसा के अभाव से कहीं अधिक है क्योंकि राष्ट्रों और व्यक्तियों के बीच असमानता, गुलामी, शोषण आदि भी अशांति के महत्त्वपूर्ण कारण बनते हो। पूर्वी अवधारणा के अनुसार समाज के हर पक्ष से संबंध होने के कारण शांति समग्र अवधारणा है। इसलिए मनुष्य व समाज के समग्र विकास की प्रक्रिया, योजनाबद्ध एवं मानवोपयोगी समाज परिवर्तन ही वास्तविक शांति है और यह परिवर्तन भी सामंजस्य के आधार पर नहीं अपितु समता के आधार पर होना चाहिए। अतः शांति के लिए केवल प्रत्यक्ष और आरोपित हिंसा और शोषण का अभाव ही पर्याप्त नहीं अपितु संरचनात्मक हिंसा (Structural Violence) का अभाव भी जरूरी है। पश्चिमी युद्ध विरोधी प्रचार का उद्देश्य मात्र संगठित हिंसा को समाप्त करना ही नहीं अपितु सभी प्रकार की हिंसा और समाज के सभी स्तरों में व्याप्त सभी प्रकार के शोषण व असमानता को दूर करना भी होना चाहिए। इसलिए हमें यह मानना ही होगा कि समग्र शांति की अवधारणा आध्यात्मिक जगत् का जितना आधारभूत सत्य है उतना ही व्यावहारिक जगत् का यथार्थ व अनिवार्य तत्त्व भी है।

शांति समग्र है, अविभाज्य है–इस कथन की सिद्धि के लिए हम कम से कम दो प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हो–

3.1 अस्तित्ववादी तर्क

अस्तित्व शांति रूपीसाध्य का साधन है। अस्तित्व विविध आयामी है और उसका लक्ष्य समग्र शांति है। प्रो. गाल्टुंग के अनुसार अस्तित्व के पांच प्रकार हो–प्रकृति, मानव, समाज, विश्व और संस्कृति। उनके अनुसार इन पांचों अस्तित्वों का साध्य भिन्न–भिन्न होते हुए भी परम साध्य के रूप में ये शांति की अपेक्षा रखते हो–

प्रकृति का साध्य	–	परिस्थिति का संतुलन है
मानव का साध्य	–	बोधि प्राप्त करना है
समाज का साध्य	–	विकास है

विश्व का साध्य – शांति है और

संस्कृति का साध्य – पर्याप्तता है।

गहराई से विचार करने पर ये सभी तत्त्व परस्पर अन्तर्ग्रथित दिखाई देते हो। अलग–अलग करके देखने पर हम शांति को नहीं जान सकते। इसका कारण है–मनुष्य, विश्व में घटित प्रत्येक घटना से प्रभावित होता है तथा प्रत्येक घटना को वह स्वयं भी प्रभावित करता है। इसलिए हम किसी एक भी तत्त्व की अवहेलना करके शांति स्थापित नहीं कर सकते। उदाहरणतः यदि प्रकृति का संतुलन ठीक नहीं होगा तो शेष चार तत्त्व भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहेंगे। ''प्रत्येक तत्त्व दूसरे तत्त्व की शांति पर निर्भर करता है'', इस तथ्य को हम इस रूप में भी कह सकते हो कि सबकी शांति में मेरी शांति निहित है। अस्तित्व के विभिन्न प्रकारों की परस्पर निर्भरता से शांति की अखण्डता सिद्ध होती है। प्रो. गाल्टुंग ने ठीक ही लिखा है–''जब हम शांति के बारे में चर्चा या विचार–विमर्श करते हो तो इसका आशय इतना ही नहीं है कि शांति केवल राष्ट्रों के बीच में ही हो, बल्कि शांति तो समाज की रग–रग में, मानव जातियों में और यहां तक कि प्रकृति में भी शांति व्याप्त होनी चाहिए।''

3.2 कार्यकारण तर्क

हम पहले यह देखें कि शांति की पूर्वावस्था क्या है? तनाव व संघर्षों के अंत को हम शांति की पूर्वावस्था के रूप में देख सकते हो। वैयक्तिक स्तर से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के तनाव शांति को भंग करते हो। प्रश्न होगा तनाव किन कारणों से उत्पन्न होता है? क्या तनाव का एकमात्र कारण युद्ध ही है? निश्चित ही नहीं, गरीबी और असमान विकास भी तनाव के कारण हो। एकमात्र गरीबी को भी तनाव का कारण नहीं कह सकते। यदि ऐसा होता तो विकसित राष्ट्र जहां पैसे की कोई कमी नहीं है, अशांत नहीं होते। इसलिए यह मानना होगा कि असमान विकास भी अशांति का एक कारण है। एक तरफ समृद्धि है दूसरी तरफ 87 करोड़ व्यक्ति पढ़ लिख नहीं सकते, 50 करोड़ व्यक्तियों के पास रोजगार नहीं, 13 करोड़ बच्चे स्कूल जाने में सक्षम नहीं, 45 करोड़ भूख व कुपोषण से पीड़ित हो, एक करोड़ 20 लाख बच्चे प्रथम जन्मोत्सव से पहले ही खत्म हो जाते हो। 2 अरब लोगों के पास पीने का पानी नहीं है, 25 करोड़ व्यक्ति झुग्गी–झोपड़ियों में रह रहे हो। समृद्ध भी अशांत है और गरीब भी अशांत। समृद्ध अशांत है क्योंकि उन्हें सैनिक भय सता रहा है, सांस्कृतिक विपन्नता उच्छृंखलता पैदा कर रही है, समाज की टूटन रिक्तता बढ़ा रही है, संदेह, भय, संत्रास, प्रदूषण उन्हें भविष्य के प्रति त्रस्त बनाए हुए है। गरीब राष्ट्र अशांत होता है तो विश्व के दूसरे राष्ट्र अशांति से बच नहीं सकते। एक राष्ट्र की टूटन दूसरे की अशांति का कारण बन जाती है। यही कारण है कि आज अमेरिका जैसे समृद्ध राष्ट्र अविकसित राष्ट्रों के विकास के लिए प्रयत्न कर रहे हो, उनके उत्थान के लिए मार्शल योजना जैसी कई योजनएं क्योंकि ऐश्वर्य की अट्टालिकाओं की ऊंचाइयों से उन्हें अपनी कब्रों की गहराइयां भी नजर आ रही हो। इन कब्रों की गहराइयों को पाटे बिना उनका ऐश्वर्य ज्यादा दिनों तक सुरक्षित नहीं रह सकता।

वस्तुतः हमें इस तथ्य को स्वीकार करना होगा–शांति अविभाज्य है, उसे खण्ड–खण्ड करके कोई भी शांति से नहीं रह सकता। इसलिए गांधी ने समग्र विकास की बात कही। जयप्रकाश नारायण ने सम्पूर्ण क्रान्ति को आवश्यक माना। सबका समग्र व हर क्षेत्र में समान विकास नहीं होता तो शोषक और शोषित, शासक और शासित, पूंजीपति और श्रमिक आदि दो वर्ग सदैव बने रहेंगे और एक वर्ग की अशांति दूसरे वर्ग को भी अशांत बना देगी। इसलिए यह आवश्यक है कि हम शांति को समग्र व अविभाज्य मानकर सम्पूर्ण समाज के समग्र व समान विकास के लिए प्रयत्न करें।

4. शांति शिक्षा

वर्तमान में शांति शिक्षा की अभिरूचि केवल शांति और युद्ध की समस्या तथा राजनैतिक संघर्षो के विश्लेषण एवं अध्ययन तक ही सीमित है। शांति की नवीन परिभाषा के अनुसार युद्ध या हिंसा, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षो में सतत विद्यमान है। क्योंकि कुविकास (Maldevelopment), गरीबी, आंतरिक हिंसा और युद्ध में एक निकट सम्बन्ध देखा जा सकता है। इसलिए युद्ध विरोधी साधनों का विकास व खोज आवश्यक है। इन युद्ध विरोधी साधनों का उद्देश्य केवल युद्ध और हिंसा को समाप्त करना ही नहीं है अपितु सभी प्रकार की हिंसा और समाज में सभी स्तरों में व्याप्त सभी प्रकार के शोषण को समाप्त करना है। इसलिए शांति शिक्षा का आन्दोलन वस्तुतः सम्पूर्ण व मूलभूत परिवर्तन का है। अहिंसा हिंसा का विरोध मात्र नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की सम्पूर्ण शक्ति है। इस प्रकार शांति शिक्षा का विचार नये समाज के निर्माण के लिए है। शांति शिक्षा में शांति के इस नवीन संप्रत्यय को सम्मिलित करना होगा जिससे समाज परिवर्तन के साथ अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तन व कलह–शमन भी सम्भव हो सके।

4.1 शांति शिक्षा के विचार का विकास

पाश्चात्य जगत् में शांति शिक्षा का विचार सर्वप्रथम कोमेनियस ने 1667 में प्रकाशित अपनी पुस्तक ''एंजेल ऑफ पीस'' में रखा था। बाद में रूसो शांति शिक्षा के विकास में मील के पत्थर बने। उनके शांति शिक्षा सम्बन्धी विचार का आधार था–''मनुष्य स्वभाव से शांतिप्रिय है, जब उसे अपने जीवन पर कोई खतरा नजर आता है, तभी वह हिंसक बनता है।'' रूसो के पश्चात् पेस्टालॉजी व फ्रोबल ने शांति शिक्षा को एक नई दिशा दी। फ्रोबल का मानना था–बच्चे की प्रारंभिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण तथ्य शांति शिक्षा है। वयस्कों के लिए जीने का शांतिपूर्ण तरीका हो, जिससे भाषा, विचार और क्रिया के बीच सामंजस्य स्थापित हो सके। 19वीं शाताब्दी में शांति शिक्षा समाजवाद से प्रभावित हुई। मार्क्स, लेनिन आदि समाजवादियों ने कहा–शिक्षा सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए होनी चाहिए। 20वीं शदी में शांतिशिक्षा को अमेरिका में विकासशील शिक्षा (Progressive Education) तथा सोवियत संघ में स्वतंत्र शिक्षा (Free Education) की संज्ञा दी गई।

प्रथम विश्वयुद्ध के पहले शांति शिक्षा का विषय नहीं था। 1890 में केवल नीदरलैण्ड में इसे पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया था, जहां मोल्केनबोवर ने इसे अध्यापकों को पढ़ाने के लिए कहा। बाद में ब्रूमन, मॉण्टेसरी, बैकमेन, डेसबर्ग आदि कई शिक्षाशास्त्री शांति शिक्षा से जुड़े। ये सभी शिक्षाशास्त्री नीदरलैण्ड की शांति शिक्षा से प्रभावित थे। इसी समय शांति शिक्षा के साथ–साथ शांति के लिए शिक्षा का विचार भी सामने आया। शांति शिक्षा का अर्थ है–शांति स्थापित करने के लिए लोगों को शिक्षित–प्रशिक्षित करना। शांति के लिए शिक्षण का उद्देश्य है–युद्ध व शस्त्रीकरण का समाज पर क्या दुष्परिणाम होगा, इससे सम्बन्धित जानकारी लोगों को बताना तथा उन दुष्परिणामों को दूर करने के उपायों को सुझाना। शांति के लिए शिक्षण के तीन मुख्य प्रतिनिधि हुए हो–फोयरस्टीर, मॉण्टसरी व ओएस्टरिच, जिन्होंने शांति शिक्षा का विकास किया।

फोयरस्टीर का मानना था–''मनुष्य अपने प्राकृतिक स्वभाव का दमन कर आध्यात्मिक उत्थान का प्रयत्न करता है। आध्यात्मिक उत्थान तभी सम्भव हो सकता है जब वह विश्वात्मा से मिल जाए, इसके लिए शांति शिक्षा प्रभावी है क्योंकि शांति का अर्थ ही है–विश्वात्मा के समकक्षता।'' मॉण्टसरी का मानना था–''बच्चे का निर्माण तो स्वयं होता है। शिक्षा का कर्त्तव्य बस इतना ही है कि वह उस निर्माण में जो बाधाएं आयें, उसे दूर कर दें।'' अर्थात् एक ऐसा पर्यावरण तैयार कर देना, जिसमें बच्चा स्वयं के सिद्धान्तों के आधार पर अपना निर्माण व विकास कर सके। ओएस्टरिच का मानना था–''शांति केवल संस्कृति के पुनर्निर्माण से ही सम्भव हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति इस संस्कृति का एक घटक है। व्यक्तिगत स्तर पर वह एक अंश दिखाई देगा जबकि समूह में भाईचारे व मानवीयता की भावना विकसित होगी जो उत्पादक और सम्पूर्ण शिक्षा से ही आएगी तथा

ऐसी शिक्षा शांतिपूर्ण होगी।'' उन्होंने यह भी कहा–शांति शिक्षा, यह एक पुनरुक्ति है। सही शिक्षा, सभी के लिए सभी लोगों में–यही तो शांति का आदर्श है।''

शांति शिक्षा के विकास में ड्यूवी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। ड्यूवी ने कहा–''वह वातावरण जिसमें शिक्षा ली जाती है, शिक्षा की गुणवत्ता पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है। शांति शिक्षा हमारे जीवन जीने का रास्ता होना चाहिए। समाजवादी विचारकों में केवल टॉलस्टाय ने ही शांति शिक्षा के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण प्रभाव छोड़ा। उन्होंने कहा–''एक व्यक्ति स्वयं में आस्था, नैतिकता, भाईचारे व शांति के लिए ही शिक्षित होना चाहिए।''

5. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद शांति शिक्षा का विकास

शांति शिक्षा का जो स्वरूप वर्तमान में है, उसका विकास द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हुआ है। 1945 के पश्चात् शांति शिक्षा में तीन बातें जुड़ीं–

- अन्तर्राष्ट्रीय समझ विकसित करने के लिए शिक्षा
- राजनैतिक शिक्षा एवं
- वैशविक शिक्षा।

अन्तर्राष्ट्रीय समझ को शांति शिक्षा में सम्मिलित करने का विचार यूनेस्को के प्रयत्नों से सम्भव हुआ। राजनैतिक शिक्षा का विचार 1960 में कोरिया और वियतनाम के युद्धों के परिणाम स्वरूप सामने आया। वैशविक शिक्षा का विचार प्रो. गाल्टुंग एवं फैरी के इस सिद्धान्त से विकसित हुआ–''शांति शक्ति के समान बंटवारे व संसाधनों के समान बंटवारे के बिना कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती।''

शांति शिक्षा सम्बन्धी विचार को भारतीय वाङ्मय के आधार पर इस रूप में रखा जा सकता है–विश्वशांति तभी सम्भव है, जब प्रत्येक व्यक्ति अपने मन–मस्तिष्क को इस हेतु तैयार करे और ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब व्यक्ति के शरीर, मन, भाव और भाषा के बीच सही समन्वय हो अर्थात् सम्पूर्ण मानव का निर्माण हो।

5.1 अन्तर्राष्ट्रीय समझ के लिए शिक्षा

यद्यपि इस विचार का उद्गम 1940 से पूर्व ऐसे संगठनों में हो चुका था जो अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के क्षेत्र में कार्यरत थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् शांति के प्रति आदर्शों को व्यवहार में लाने हेतु नये संगठनों (Friendship among Children and Youth and American Friends School Affiliation Services) का उदय हुआ। पुराने प्रतिद्वन्द्वी फ्रांस और फैडरल जर्मनी के बीच शांति की शुरुआत के लिए पेस क्रिस्टी (Pase Chiristi) ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन संगठनों का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय समझ को विकसित करना था, जिससे विश्व और अधिक शांतिपूर्ण हो सके।

1974 में यूनेस्को ने अन्तर्राष्ट्रीय समझ, सहयोग और शांति के लिए शिक्षा तथा मानवाधिकार एवं मूलभूत स्वतंत्रता से सम्बन्धी शिक्षा को अनुशंसित किया, जो शांति शिक्षा के प्रति एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कदम था।

5.2 राजनैतिक शिक्षा

शांति शिक्षा के विकास का दूसरा कदम शीतयुद्ध, कोरिया संकट एवं वियतनाम संकट के प्रतिक्रिया स्वरूप उठाया गया, जिसका पूर्ण विकास 1970 में हुआ तथा राजनैतिक शिक्षा को स्वीकृति मिली। यद्यपि शिक्षाशास्त्रियों द्वारा शांति शिक्षा के विचार को गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया गया। अधिकांश लोगों की मान्यता थी–शांति राज्य का मामला है, इसलिए सरकार से सम्बन्धित है।

अन्तर्राष्ट्रीय समझ के प्रति घटती आशा के बावजूद परमाणु शस्त्रों के खतरे एवं शांति आन्दोलनों के अनुभव–इन दो तत्त्वों ने शांति शिक्षा के इस नये स्वरूप को उजागर किया। नये स्वरूप के विचार में यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अनुभव था कि शांति की दिशा में संरचनात्मक परिवर्तन राजनैतिक परिवर्तनों का परिणाम है।

शांति शिक्षा के इस संप्रत्यय का प्रबल पक्षधर गियासेकी (Giesecke) था जिसने 1960 में अपना सिद्धान्त विकसित कर समाज के सभी स्तरों के मूलभूत प्रजातंत्रीय ढांचे पर बल दिया। गियासेकी ने अपने सिद्धान्त के व्यावहारिक रूप को व्याख्यायित करते हुए शांति शिक्षा के निम्न उद्देश्यों की चर्चा की–

- संघर्षों को विश्लेषित करना सीखना।
- सामाजिक सन्दर्भों में संघर्षों का परीक्षण करना।
- ऐतिहासिक चेतना को उभारना।
- राजनैतिक सहभागिता के अनुभव का चातुर्य प्राप्त करना।

5.3 वैश्विक शिक्षा

1970 के पश्चात् यह विचार सामने आया कि सत्ता के समान खण्ड एवं संसाधनों के समान बंटवारे के बिना शांति कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती। यह विचार जो न्याय व संरचनात्मक हिंसा के विश्लेषण पर आधारित था–शांति शिक्षा के क्षेत्र में एक नया विकास था, इसे ही वैशविक शिक्षा का नाम दिया गया।

गाल्टुंग के विचार में वैशविक शिक्षा राष्ट्रों के बीच रचनात्मक सहयोग पर बल देती है तथा अत्याचारियों द्वारा आरोपित प्रतिस्पर्धा एवं विरोधों को समाप्त करती है। इसी संदर्भ में फ्रेयरी (Freire) का कहना है–मनुष्य विश्व को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने तथा बदलने के लिए स्वयं इससे अलग हो सकता है तथा इस आलोचनात्मक दृष्टि तथा स्वयं की चेतना के आधार पर अपने विश्व की रचना स्वयं कर सकता है।

गाल्टुंग व फ्रेयरी के इन्हीं विचारों पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय शांति–शोध एसोसियेशन के शांति–शिक्षा कमीशन ने ऐसे लोगों से संचार की एक कार्य–योजना तैयार की है जो इस अत्याचार की प्रक्रिया के अंग हो। नेपल्स, बोगलोर, न्यूयार्क, अमस्टरडम, मेलबोर्न की गन्दी बस्तियों में रह रहे लोग अत्याचार के इस तंत्र के विरूद्ध संघर्ष कर रहे हो तथा अपनी स्थितियों को सुधारने हेतु संगठन एवं संचार का प्रयत्न कर रहे हो। इसके कार्यों में नेपल्स व बोगलोर के संगठन सहायता व मार्गनिर्देशन कर रहे हो।

6. अभ्यास प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. शांति शिक्षा पर एक विस्तृत लेख लिखिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. शांति की अविभाज्यता को प्रमाणित कीजिए।
2. द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शांति शिक्षा के विकास को स्पष्ट कीजिए।

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. प्रथम विश्व युद्ध के बाद वैश्विक शांति के लिए किस संगठन की स्थापना हुई?

अ. संयुक्त राष्ट्र संघ　　ब. राष्ट्र संघ

स. अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय　　द. उपरोक्त में से कोई नहीं।

2. किस विचारक ने शांति को ''युद्धविहीनता'' की स्थिति के रूप में व्याख्यायित किया है?

अ. क्विंसीराइट ब. गाल्टुंग

स. लियोहेमेन द. पॉनविट्ज

3. युद्ध के साथ किसका निकट सम्बन्ध है?

अ. कुविकास ब. गरीबी

स. आंतरिक हिंसा द. उपरोक्त सभी

4. शांति शिक्षा का विचार सर्वप्रथम कब प्रस्तुत किया गया?

अ. 1667 ब. 1669

स. 1668 द. 1666

5. किस देश में शांति शिक्षा को सर्वप्रथम पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया?

अ. इंग्लैण्ड ब. जर्मनी

स. नीदरलैण्ड द. अमेरिका

6. निम्न में से कौन–सी शिक्षा राष्ट्रों के बीच रचनात्मक सहयोग पर बल देती है–

अ. राजनैतिक ब. अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा

स. नैतिक शिक्षा द. वैश्विक शिक्षा

7. ..... उपलब्धियां स्वयं में सीमित होती है, परिणामतः संघर्ष होता है।

8. युद्ध नहीं होंगे तो ..... भी नहीं होगी।

9. प्रकृति का साध्य ..... परिस्थिति का संतुलन है।

10. ..... समाज परिवर्तन की सम्पूर्ण शक्ति है।

इकाई – 2
शांति शिक्षा के विविध आयाम

उद्देश्य

1. शांति शिक्षा के विविध आयामों का अध्ययन करना।
2. अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शांति शिक्षा के स्वरूप को जानना।
3. शांति शिक्षा की समस्याओं और सीमाओं की जानकारी प्राप्त करना।

संरचना

1. शांति शिक्षा की वैधता
    - 1.1. शांति शिक्षा सब प्रकार की हिंसा का निषेध करती है–
    - 1.2. आक्रामकता का निषेध
    - 1.3. संघर्ष निराकरण
    - 1.4. पूर्वाग्रहों की समाप्ति पर बल
    - 1.5. वैश्विक नागरिकता की स्थापना
    - 1.6. शांति के लिए कार्य
2. शांति शिक्षा और निःशस्त्रीकरण शिक्षा
    - 2.1 आदर्शवादी संकल्पना
    - 2.2 वैज्ञानिक संकल्पना
    - 2.3 वैचारिक संकल्पना
    - 2.4 राजनीतिक संकल्पना
3. शांति–शिक्षा की दुविधाएं
4. शांति शिक्षा की सीमाएं
5. सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा
    - 5.1 सामाजिक पुनर्निर्माण क्यों
    - 5.2 सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा एक साधन
        - 5.2.1. भारत में अंग्रेजी शिक्षा के कारण सामाजिक पुनर्निर्माण
        - 5.2.2. भारत में मूल्यपरक शिक्षा के कारण सामाजिक पुनर्निर्माण का प्रयास
        - 5.2.3. जर्मनी में शिक्षा द्वारा सामाजिक परिवर्तन
        - 5.2.4. सोवियत संघ में शिक्षा द्वारा समाजवाद का व्यापक प्रचार

5.3 शांति शिक्षा द्वारा वर्तमान विश्व के कायापलट का प्रयास

5.4 सामाजिक पुनर्निर्माण कैसे करें?

6. जनतन्त्र और शिक्षा

6.1 जनतंत्रात्मक सिद्धान्तों की व्यावहारिकता तथा आदर्शवाद

6.2 जनतंत्र में शिक्षा के उद्देश्य

6.2.1. आत्म विकास का उद्देश्य

6.2.2. मानव सम्बन्ध की स्थापना का उद्देश्य

6.2.3. आर्थिक परिपूर्णता के विकास का उद्देश्य

6.2.4. नागरिक उत्तरदायित्व के निर्वाह का उद्देश्य

6.3 जन शिक्षा

6.4 जनतन्त्रात्मक शिक्षा का पाठ्यक्रम

7. अन्तर्राष्ट्रीयता और शिक्षा

7.1 अन्तर्राष्ट्रीयता की समस्या

7.1.1 भग्नाशा और शोषण की प्रवृति

7.1.2 शक्ति, प्रतिष्ठा और लाभ की प्राप्ति की प्रेरणा

7.2. अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध के प्रयास

7.3 अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध हेतु शिक्षा की आवश्यकता

7.4 अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा

7.4.1 शिक्षा सिद्धान्तों का अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए चयन

7.4.2. अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा–पाठ्यक्रम तथा शिक्षण

7.4.3 अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में अध्यापक का दायित्व

7.4.4 अन्तर्राष्ट्रीयता और शिक्षालय

8. इक्कीसवीं शताब्दी की शिक्षा

9. अभ्यास प्रश्न

प्रस्तावना

सन् 2000 में यनूस्को द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सांस्कृतिक वर्ष की घोषणा की थी जिसका मेनीफेस्टो निम्नतः है–

- बिना किसी भेद के प्राणीमात्र को आदर व सम्मान देना है।
- किसी भी प्रकार की हिंसा को अस्वीकारना जैसे लैंगिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक विशेषकर बच्चों के लिए।
- राजनीतिक, आर्थिक व अन्य कार्यों में शक्ति का सकारात्मक सद् उपयोग हो।
- स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति हो, संस्कृति आदि की पूर्ण सुरक्षा हो।
- सारी पृथ्वी को संतुलित व सुन्दर रखने के लिए एक अच्छी सोच का विकास हो।
- समाज में आपस में सहयोग हो, स्त्रियों का आदर हो, प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों का सम्मान हो।

आधुनिक शांति शिक्षा के विकास में दो बड़े घटकों का बड़ा योगदान रहा है–

- महान साहित्यकारों का व शिक्षाशास्त्रियों का।
- उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य उदय हुआ समाजवाद।

समाजवाद की तीन विचारधाराओं का शांति शिक्षा में महान योगदान रहा है। ये तीनों विचार निम्न हैं–

- मार्क्सवाद के मतावलम्बियों के विचार जिसका डांतमदव ने संरक्षण दिया था।
- प्रजातांत्रिक समाजवाद, जिसका नई शिक्षा नीति व आंदोलनों में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।
- सेना के विरूद्ध अराजकता की धारा, जिसके मुख्य सचेतक महान विचारक टालस्टॉय थे।

शांति शिक्षा के प्रारम्भ में इसका क्षेत्र केवल युद्ध और राजनैतिक संघर्षों के अध्ययन के विश्लेषण तक ही सीमित था। वर्तमान राजनैतिक विश्लेषकों की दृष्टि से शांति का क्षेत्र केवल यहीं तक सीमित नहीं है। संघर्ष एवं युद्ध, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों में सतत् विद्यमान है, क्योंकि कुविकास या असंतुलित विकास, गरीबी, आंतरिक हिंसा और युद्ध में एक दूसरे के सम्बन्ध देखा जा सकता है। इस दृष्टि से युद्ध विरोधी अथवा हिंसा विरोधी साधनों का विकास अति आवश्यक है।

वर्तमान काल में हिंसा यदि समग्र नहीं होती तो मानव अस्तित्व का संकट मानव जाति के समक्ष नहीं होता। संभवतः शांति शिक्षा की प्रगति इतनी आगे नहीं बढ़ पाती। वस्तुतः देखा जाए तो शांति शिक्षा के विचारों को द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् ही अधिक बल मिला, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इससे पूर्व शांति शिक्षा का विचार नहीं था। भारतीय आगम साहित्य में शांति शिक्षा के विचार बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किए गए हैं। बौद्धिक शिक्षा के साथ उनका शिक्षण जीवन में हर क्षण की शिक्षा के साथ था, जिसे हम चरित्र की शिक्षा या मूल्यपरक शिक्षा कह सकते हैं।

1. शांति शिक्षा की वैधता

शांति शिक्षा की वैधता वस्तुतः वर्तमान समाज और राजनैतिक स्थितियों में शांति शिक्षा के औचित्य पर विचार है। शांति शिक्षा का यह दृष्टिकोण उसकी विषयवस्तु एवं शांति शिक्षा के व्यवहार के अंतर पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में शांति शिक्षा का औचित्य तभी सिद्ध हो सकता है जब शांति शिक्षा की विषयवस्तु एवं

उसके व्यवहार में न्यूनतम अंतर हो। शांति शिक्षा के इस दृष्टिकोण को हम निम्नांकित बिन्दुओं के अंतर्गत देख सकते हैं–

1.1. शांति शिक्षा सब प्रकार की हिंसा का निषेध करती है–

शांति शिक्षा सैनिक विरोधी अभिवृत्ति के निर्माण का प्रयत्न करती है। समाज में हिंसा का प्रसार मुख्यतः बाल्यकाल के अनुभवों से होता है। बाल्यकाल में जिस तरह की अंतर्क्रियाएं और अनुभव बच्चों को दिये जाते हैं वैसी ही अभिवृत्तियों का निर्माण बच्चों में होता है। शांति शिक्षा युद्ध एवं अस्त्र–शस्त्रों से सम्बन्धित खेल–खिलौनों तथा हिंसक प्रचार का निषेध करती है। यूनेस्को ने इस बात पर बल दिया है कि अस्त्र–शस्त्रों एवं युद्ध सम्बन्धी सामग्री पर आधारित खिलौने बच्चों को न दिये जाये क्योंकि इससे उनमें सैनिक विरोधी अभिवृत्ति का निर्माण होगा। यूनेस्को ने पाठ्यक्रम में सम्मिलित इतिहास की सामग्री को भी बदलने की सिफारिश की है क्योंकि इससे सैनिक अभिवृत्ति का निर्माण होता है। यूनेस्को के अनुसार इतिहास लेखन इस तरह से होना चाहिए कि बच्चों में सैनिक अभिवृत्ति का निर्माण न होकर के साहस, पराक्रम जैसे मूल्यों का विकास हो।

1.2. आक्रामकता का निषेध

शांति शिक्षा व्यक्ति और समाज में व्याप्त आक्रामकता को कम करने का प्रयास करती है ताकि अहिंसा पर आधारित समाज का निर्माण किया जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शांति शिक्षा आक्रामकता के कारणों और इन पर नियंत्रण के उपायों की प्रक्रिया का अध्ययन करवाती है ताकि आक्रामकता पर नियंत्रण किया जा सके तथा आक्रामकता से होने वाली क्षति से व्यक्ति व समाज को बचाया जा सके। इस दृष्टि से भी वर्तमान समाज में शांति शिक्षा का औचित्य है।

1.3. संघर्ष निराकरण

शांति शिक्षा संघर्ष निराकरण को अपना एक मुख्य अंग मानती है। संघर्ष जीवन का अनिवार्य अंग है और समाज का अपरिहार्य हिस्सा है। संघर्ष को न तो जीवन से अलग किया जा सकता है और न ही ऐसा करना वांछनीय भी है किन्तु संघर्षों से निपटना और उनका निराकरण करना आवश्यक है। शांति शिक्षा का लक्ष्य लोगों को यह अवगति देना है कि मानव समूह और समाज का एक महत्त्वपूर्ण घटक संघर्ष है, इसलिए संघर्ष से भागना कतई उचित नहीं है। संघर्ष का भय व्यक्ति को निषेधात्मक भावों की ओर ले जाता है। इसलिए शांति–शिक्षा के माध्यम से यह बताना आवश्यक है कि संघर्ष के भय और उससे पलायन की अपेक्षा संघर्ष का अहिंसात्मक निराकरण कैसे किया जाये।

1.4. पूर्वाग्रहों की समाप्ति पर बल

संघर्ष का एक मुख्य कारण व्यक्ति व समाज के पूर्वाग्रह हैं। इन पूर्वाग्रहों के कारण व्यक्ति, समाज व राष्ट्र अपने विरोधी को सुनने के लिए तत्पर नहीं होता। फलस्वरूप संघर्ष निराकरण की वार्ताएं भी असफल हो जाती हैं। शांति शिक्षा का यह प्रयास होता है कि पूर्वाग्रहों तथा विरोधी के प्रति एकाकी दृष्टिकोण को समाप्त कर व्यक्ति व संस्कृति के प्रति सही एवं स्वस्थ समझ को विकसित करना चाहिए ताकि हम विरोधी की बात को भी सम्मान दे सकें जिससे संघर्ष निराकरण की दिशा में गति हो सके।

1.5. वैश्विक नागरिकता की स्थापना

एक व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र दूसरे के हितों को गौण कर केवल अपने ही हितों की पूर्ति करना चाहता है जिसके फलस्वरूप संघर्ष को बढ़ावा मिलता है। शांति शिक्षा के माध्यम से इस विचार को बल मिलता

है कि हम विश्व नागरिकता की दिशा में आगे बढ़ें। जिससे व्यापक हितों की ओर हम ध्यान दे सकें। विश्व सरकारों को, राष्ट्रों को उनकी सम्प्रभुता देना भी आवश्यक है ताकि उनका समुचित विकास हो सके।

1.6. शांति के लिए कार्य

सामान्यतः एक व्यक्ति स्वयं हिंसा या शांति के लिए कार्य करता है। यदि व्यक्ति के मस्तिष्क में युद्ध के बीज हैं तो वह युद्ध के लिए काम करेगा और यदि उसके मन में शांति के बीज हैं तो वह शांति के लिए कार्य करेगा। इसलिए व्यक्ति का यह दायित्व है कि वह सत्ता व प्रभाव के उन क्षेत्रों को उखाड़ फैंके जो अशांति पैदा करते हैं। साथ ही व्यक्ति अपने रचनात्मक सहभागिता, सहयोग, आत्मविश्वास एवं ज्ञान के माध्यम से समाज में परिवर्तन करे।

उपर्युक्त बिन्दुओं के आधार पर यह सहज ही कहा जा सकता है कि वर्तमान समाज में शांति शिक्षा का औचित्य है भले ही पूर्वाग्रहों को खत्म करना हो अथवा संघर्ष एवं संघर्ष प्रक्रिया को समझना हो, चाहे आक्रामकता पर नियंत्रण का प्रश्न हो अथवा सैनिक अभिवृत्ति न हो इसके प्रयास हों और भले ही रचनात्मक सहयोग एवं सहभागिता का प्रश्न हो। इन सभी दृष्टियों से शांति शिक्षा का औचित्य स्वयंसिद्ध है।

2. शांति शिक्षा और निःशस्त्रीकरण शिक्षा

2.1 आदर्शवादी संकल्पना

इस विचार का विकास यूनेस्को के उस घोषणा–पत्र से हुआ, जिसमें यह कहा गया है–''युद्ध मानव–मस्तिष्क में जन्म लेते हो।'' वर्तमान अशांतिपूर्ण स्थितियों, जिनमें राष्ट्र सुरक्षा हेतु बड़े पैमाने पर शस्त्रीकरण करते हो, का समाधान वर्तमान पीढ़ी के विचारों में शांतिपूर्ण भविष्य हेतु क्रमशः रूपान्तरण है। यह एक आदर्शवादी सिद्धान्त है जिसका विश्वास है–सहिष्णुता तथा परस्पर स्वीकृति के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों से पैदा होने वाली अशांति के स्थान पर शांतिपूर्ण भविष्य का निर्माण किया जा सकता है।

2.2 वैज्ञानिक संकल्पना

इस सिद्धान्त के अनुसार युद्ध के कारणों तथा शस्त्रीकरण के समूचे तंत्र के प्रभावों से सम्बन्धित वैज्ञानिक शोध के निष्कर्षों को स्कूल के पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना चाहिए। यथासंभव पूर्व और पश्चिम दोनों में एक समान पाठ्य–पुस्तकें तथा अध्यापन सामग्री हो।

2.3 वैचारिक संकल्पना

इस सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा समाज परिवर्तन का ही साधन नहीं है अपितु यह सामाजिक प्रक्रिया तथा तंत्र के पुनः प्रस्तुति का भी साधन है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रभावशाली नियंत्रण में पूर्ण एवं सामान्य निःशस्त्रीकरण शांति–शिक्षा का लक्ष्य नहीं है, अपितु यह शस्त्र नियंत्रण के प्रभावशाली ढंग के बारे में शिक्षा है जो शस्त्रों की ऊपरी सीमा के लिए स्वीकृति प्रदान करता है।

2.4 राजनीतिक संकल्पना

यह सिद्धान्त शासक व शासित के सम्बन्धों पर निर्भर है जो यह बताता है कि शासितों को अपनी स्थितियों के प्रति सचेत हो जाना चाहिए तथा शोध एवं शिक्षा की समन्विति के प्रयोग द्वारा शांतिपूर्ण विश्व का निर्माण करना चाहिए। अर्थात् इस अर्थ में शांति शिक्षा युद्ध के कारणों व अविकास सेसम्बन्धित ज्ञान का स्रोत

ही नहीं अपितु यह उन स्थितियों जिनमें ऐसी शिक्षा का निर्णय हुआ है तथा शिक्षा की विषयवस्तु के बीचसम्बन्धों की भी आलोचनात्मक समझ है।

3. शांति–शिक्षा की दुविधाएं

राजनीतिक एवं अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह प्रश्न सदैव उठता रहा है कि क्या शांति अस्त्र–शस्त्रों से हो सकती है या निःशस्त्रीकरण से? क्या हिंसा शांति का अथवा अहिंसा विकास का कारण हो सकता है? व्यवस्थाओं में परिवर्तन करके शांति स्थापना एवं विकास को सुनिश्चित किया जा सकता है? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो अंतर्राष्ट्रीय जगत में सदैव उठते रहे हैं तथा जिन पर मतवैभिन्य मिलता रहा है। कुछ ऐसे राजनीतिक शास्त्री हैं, जिनका मानना है– निःशस्त्रीकरण से शांति की स्थापना नहीं की जा सकती क्यांकि निःशस्त्रीकरण से आर्थिक अव्यवस्था का सूत्रपात होगा जो अशांति पैदा करेगा। उनके अनुसार शक्ति संतुलन ही शांति का आधार है। इसलिए वे अस्त्र–शस्त्रों की आवश्यकता अथवा उसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं। कुछ राजनीतिशास्त्रियों का यह भी मानना है कि संघर्ष सदैव अशांति नहीं पैदा करते, वे विकास के द्वार भी खोलते हैं। किन्तु संघर्षों का समाधान अहिंसात्मक साधनों से नहीं किया जा सकता, उनका समाधान युद्ध ही है, इसलिए वे युद्ध को शांति स्थापना का आधार स्वीकार करते हैं।

अर्थशास्त्रियों का यह मानना है कि आय और विकास दर ही शांति को सुनिश्चित कर सकती है। वही समाजशास्त्री यह मानते हैं कि सामाजिक व्यवस्थाओं के परिवर्तन से शांति स्थापित की जा सकती है। जब तक सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्थाओं में अन्याय एवं विषमता को समाप्त नहीं किया जायेगा तब तक शांति स्थापना का स्वप्न साकार नहीं हो सकेगा।

ये और ऐसी ही कुछ अन्य दुविधाएं शांति शिक्षा के समक्ष हैं। शांति शिक्षा की दुविधा दो मूलभूत प्रश्नों को लेकर है पहला क्या हिंसा के द्वारा शांतिपूर्ण समाज रचना संभव है या शांतिपूर्ण समाज रचना केवल अहिंसक कार्यों एवं अहिंसक साधनों से ही संभव है? दूसरा क्या शांतिपूर्ण समाज रचना संरचनात्मक परिवर्तनों से संभव है अथवा मानवीय विकास से?

उपर्युक्त प्रश्नों पर विचार करें तो हम यह पायेंगे कि यद्यपि इन प्रश्नों पर एकमतता लगभग असंभव है। किन्तु शांतिपूर्ण विश्व की दृष्टि से यदि हम बात करें तो यह स्पष्ट होगा कि सैनिक शिक्षा, युद्ध अथवा हिंसा से कभी भी शांति स्थापना संभव नहीं हो सकती। जो समाज शास्त्री एक साधन के रूप में हिंसा को स्वीकार करते हैं वे भी हिंसा को जीवन शैली व जीवन दर्शन का अंग नहीं मानते। यदि हिंसा से कहीं सफलता मिलती भी है तो उसके साथ घृणा, विद्वेष शत्रुता आदि सदैव साथ रहते हैं। इसलिए युद्ध या हिंसा को शांति स्थापना के कारण के रूप में नहीं देख सकते। पूंजीवादी व समाजवादी ढांचों के ढह जाने से यह और भी स्पष्ट हो चुका है। शांति केवल अहिंसक कार्यों एवं साधनों से ही संभव है। जैसा कि हम गांधी व मार्टिन लूथर किंग के कार्यों व प्रयोगों में देख चुके हैं। उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन में अहिंसक शक्ति का पूर्ण परिचय दिया था। यदि कहीं अहिंसा असफल भी हुई तो भी हमें प्रेम, सौहार्द व सहयोग ही सौगात के रूप में मिलेंगे जो शांति स्थापना के लिए पृष्ठभूमि का कार्य करेंगे।

शांति स्थापना के लिए संरचनात्मक परिवर्तन का विचार समकालीन विचार है। इस विचार के पक्षधर प्रसिद्ध समाजशास्त्री जॉन गाल्टुंग रहे हैं। इस विचार के अंतर्गत सामाजिक व राजनीतिक आर्थिक संरचना को बदलने पर बल दिया है। गाल्टुंग का मानना है कि शिक्षा शासक वर्ग की इच्छओं की पूर्ति में ही लगी रही है और यह उच्च या शासक वर्ग शिक्षा के लक्ष्यों का निर्धारण अपने ढ़ांचे की सुरक्षा के लिए ही करते हैं। जो वस्तुतः हिंसा की संस्कृति है। जब तक हम शिक्षा के लक्ष्यों को बदलकर समाज में व्याप्त विषमता व अन्याय

को दूर करने की ओर उन्मुख नहीं करेंगे तब तक विषमता व अन्याय को समाप्त नहीं किया जा सकेगा। हमें इस हिंसा की संस्कृति को संरचनात्मक परिवर्तन के माध्यम से समाप्त करना होगा क्योंकि हिंसा असमान सम्बन्धों की प्रतीक है। हमें इस ढांचे को बदलने के लिए प्रयत्न करना चाहिए तथा अन्याय पर आधारित व्यवस्था को न्याय पर आधारित करने के रूपान्तरण के प्रयास करने चाहिए।

मानवीय सुधार द्वारा शांति स्थापना के दृष्टिकोण में मनुष्य को केन्द्र में रखा गया व उन्हें महत्त्व दिया गया है। पूर्व व पश्चिमी कई धर्मों व दार्शनिकों ने मनुष्यों को केन्द्र में रखकर मानवीय विकास के लिए आचार शास्त्र की सर्जना की है। मनुष्य को गुलाम अथवा साधन के रूप में प्रयुक्त कर मानवीय विकास की आशा नहीं की जा सकती। प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट ने मनुष्य को साध्य मानकर शांति स्थापना के दृष्टिकोण को काफी महत्त्व दिया है। उनके अनुसार युद्ध कोई ईश्वरीय कार्य अथवा दैविक निर्णय नहीं है। शांति वर्तमान की आवश्यकता है जिसे भविष्य के लिए नहीं टाला जा सकता। यदि राजनीति शांति शिक्षाशास्त्रियों व कार्यकर्त्ताओं को अवकाश दे तो शांति का विकास संभव है। शांति आत्मविश्लेषण विशेषकर नैतिक परिप्रेक्ष्य में आत्मविश्लेषण का अवसर देती है। इसके लिए हमें प्रारम्भ में सामान्य चीजों जैसे सहयोग के लिए तत्पर रहना, अनुभवों से सीखना, जैसी चीजों को अपने जीवन का अभिन्न अंग बना लेना चाहिए। काण्ट के ये विचार मानवीय सुधार द्वारा शांति स्थापना करने के दृष्टिकोण को उजागर करते हैं। यह सही है कि युद्ध कोई ईश्वरीय कृत्य नहीं, मानव मस्तिष्क की उपज है तथा यह एक मानवीय कमजोरी अथवा मनुष्य की बाध्यता है। और यह भी सही है कि शांति के प्रयत्नों को भविष्य के लिए नहीं टाला जा सकता। शांति वर्तमान की आवश्यकता है। हम शांति स्थापना के लिए अपनी जिम्मेदारी को स्वीकार कर लें तथा अतीत के अनुभवों से शिक्षा लेकर परस्पर सहयोग के लिए आगे आये तथा शांतिपूर्ण सहअस्तित्व को सुनिश्चित करें।

4. शांति शिक्षा की सीमाएं

इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि पिछले लगभग तीन दशकों से शांति शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हो। पवित्र उद्देश्यों तथा बहुत से प्रयत्नों के बावजूद शांति शिक्षा का कार्यक्रम कई कारणों से बाधित रहा है, विशेषकर तीसरी दुनिया के परिप्रेक्ष्य में।

शांति शिक्षा का कार्यक्रम केवल कुछ उच्च वर्ग तक सीमित रहा है तथा यह मानव–समूहों तक पहुंचने में असफल रहा है।

सम्पूर्ण शांति आन्दोलन बौद्धिक व संगठनात्मक–दोनों ही स्तरों पर यूरोप केन्द्रित रहा है। तीसरी दुनिया के व्यक्ति, संस्थाएं तथा संगठन परिधि में ही रहे हो।

परमाणु अस्त्र–शस्त्रों का खतरा तथा तीसरी दुनिया में भूख, कुपोषण, अविकास, सामाजिक अन्याय, आतंकवाद आदि अधिक महत्त्वपूर्ण रहे हो। राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इन समस्याओं से जूझने के प्रयत्न ही प्रमुख रहे हो फलस्वरूप शांति शिक्षा की तरफ लोगों व राष्ट्रों का ध्यान कम गया है।

व्यक्तिगत स्तर पर भी शांति शिक्षा की कुछ समस्याएं हो। चूंकि शांति शिक्षा अभी तक उच्च वर्ग तक पहुंच पाई है जबकि ऐसे आधुनिकता वाले उच्च वर्गीय व्यक्ति अपने जीवन को भौतिकता की चकाचोध के कारण खाली एवं अर्थहीन पाते हो।

उपर्युक्त सीमाओं के बावजूद शांति शिक्षा को नकारा नहीं जा सकता है। इसकी आवश्यकता पूरे विश्व को है, भविष्य में निर्णय पर इसकी आवश्यकता को नहीं छोड़ा जा सकता।

5. सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा

मानव समाज प्राचीनकाल से आज तक निरन्तर विकसित और परिवर्तित होता चला आ रहा है। प्राचीन और मध्यकाल में जब शिक्षा का प्रसार नहीं था, समाजिक पुनर्निर्माण का कार्य समाज की विभिन्न संस्थाओं द्वारा किया जाता था। आज जब शिक्षा का पर्याप्त प्रसार हो गया है, तो शिक्षा को ही सामाजिक पुनर्निर्माण का प्रमुख साधन माना जाता है। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में–''शिक्षा परिवर्तन व पुनर्निर्माण का साधन है। जो कार्य साधारण समाजों में परिवार, धर्म और सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं द्वारा किया जाता था, वह आज शिक्षा द्वारा किया जा रहा है।''

भारतीय शिक्षा आयोग 1964–66 ने सामाजिक पुनर्निर्माण को आधुनिकीकरण से जोड़ा, जिससे नवीन विचार, नवीन ज्ञान–विज्ञान, तकनीकी आदि द्वारा समान्य जीवन की भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन आ रहा है तथा समस्त समाज का जीवन परिवर्तित हो रहा है। सुख–संवृद्धि की संभावनाएं अधिक प्रशस्त हो रही हो। मानवीय कौशल, ज्ञान और गतिशीलता में अन्तर आ रहा है जो सम्पूर्ण समाज के आर्थिक और सामाजिक ढांचे को प्रभावित करता है। समाज एक स्थिति से उठकर उन्नत स्थिति की ओर बढ़ता है। इस प्रकार की दशा पुनर्निर्माण की दशा होती है।

सामाजिक पुनर्निर्माण हमारे सोचने–समझने और तौर–तरीकों में ऐसा अन्तर है जो हमारे जीवन में आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, सभी पक्षों में सुधारात्मक प्रभाव लाता है। राबर्ट हीन ब्रोनर ने सामाजिक पुनर्निर्माण को ''महान् आरोहण'' की संज्ञा दी है। उनका मत है–''आर्थिक विस्तार के लिए अनिवार्य पूंजी या संसाधनों की पूर्ति से ही परम्पराओं से जकड़े हुए समाज का पुनरुद्धार नहीं हो सकता तथा इस रूपान्तरण के लिए व्यापक सामाजिक कायापलट भी पर्याप्त नहीं है अपितु आदतों में आमूल परिवर्तन, समय, प्रतिष्ठा,धन और कार्य संबंधी मूल्यों का परिवर्तन तथा स्वयं के दैनिक जीवन के ताने–बाने को भी बदलकर सामाजिक पुनर्निर्माण को संभव बनाया जा सकता है।''

सामाजिक पुनर्निर्माण का संबंध आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था में बदलाहट से लगाया जाता है। समाज की आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था में जब सुधारात्मक परिवर्तन होता है, तब समाज में नवीन प्रवृत्तियों का उदय होता है, नये प्रतिमान स्थापित होते हो। पुरातन मान्यताएं खण्डित होती हो तथा विकास की संभावनाएं प्रशस्त होती हो। रेडोवान ने लिखा है–सभी विकासोन्मुख समाजों में सारे सचेतन प्रयास इस हेतु किये जा रहे हो कि वे ऐसी संस्कृति को जन्म दें जो तकनीकी युग और सार्वभौमिकता की मांगों को पूरी कर सके।''

5.1 सामाजिक पुनर्निर्माण क्यों

विश्व के विभिन्न समाजों का अध्ययन करें तो यह जानने को मिलेगा कि विश्व में कुछ समाज ऐसे हो जो बहुत अधिक विकसित हो। यह विकास आर्थिक और भौतिक है। यहां संस्कृतियों का विनाश हो रहा है। परिवार, विवाह जैसी सामाजिक संस्थाएं टूट रही हो। व्यक्ति अकेलापन महसूस कर रहा है। भौतिक चकाचोध उसे सुखशांति नहीं अपितु तनाव और संघर्ष दे रही है। दूसरी तरफ कुछ समाज ऐसे हो जहां विकास नगण्य है। भूखमरी, बेकारी, गरीबी, कुपोषण इन समाजों को त्रस्त किये हुए है परिणामतः ये समाज भी अशांत हो, संघर्षरत हो। एक तरफ समृद्धि है एक तरफ गरीबी। यह कुविकास अशांति का कारण है, अतः इस कुविकास को दूर कर संतुलित विकास के लिए इन दोनों ही समाजों के पुनर्निर्माण की आवश्यकता है। यह पुनर्निर्माण विश्व–बन्धुत्व, परस्पर सहयोग एवं सौहार्द द्वारा ही हो सकता है, जिसके लिए शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होगी।

सामाजिक विकास, परिवर्तन और पुनर्निर्माण का आधार मनुष्य ही है। मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही आविष्कार करता है। जब इच्छाएं असीम हो जाती हो तब परस्पर संघर्ष अवश्यंभावी हो जाता है। मनुष्य के जीवन की श्रेष्ठता इस बात में है कि वह सामाजिक पुनर्निर्माण के अनुकूल आचारण करना सीखे तथा स्वयं को उन परिवर्तनों के अनुकूल ढाले। इस प्रकार मनुष्य पुनर्निर्माण प्रक्रिया में दो प्रकार से भाग लेता है–एक तो समाज में आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन लाने का प्रयास करता है तथा दूसरे वह उत्पन्न परिवर्तन के अनुरूप स्वयं को ढालने का प्रयत्न करता है। अर्थात् परिवर्तन मनुष्य स्वयं लाता है तथा मनुष्य का अपना तदनुरूप आचारण ही उस परिवर्तन को लागू करता है।

5.2 सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा एक साधन

शिक्षा द्वारा अनेक देशों एवं समाजों का पुनर्निर्माण किया गया है। इस हेतु निम्नलिखित तथ्य ज्ञातव्य हो–

5.2.1. भारत में अंग्रेजी शिक्षा के कारण सामाजिक पुनर्निर्माण

अंग्रेजी शिक्षा के प्रवेश से भारत ने कई सदियों की कुम्भकर्णी निद्रा का परित्याग कर अपने समाज में असाधारण आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक परिवर्तन किये। सामाजिक पुनर्निर्माण का श्रेय राजा राममोहन राय, टैगोर, केशवचन्द्र सैन, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि महान् व्यक्तियों को प्राप्त हुआ। इन्होंने सती प्रथा, कन्या वध, बालविवाह आदि कुप्रथाओं का अंत कर हमारे समाज की कायापलट कर दी। राजनैतिक पुनर्निर्माण का श्रेय दादाभाई नौरोजी, गोखले, गांधीजी व नेहरूजी को जाता है। यह सच है कि देश के शैक्षिक विचारों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के बिना आधुनिक भारत की सामान्य जागृति संभव नहीं होती।

5.2.2. भारत में मूल्यपरक शिक्षा के कारण सामाजिक पुनर्निर्माण का प्रयास

प्राचीन भारत के निवासियों में धर्म और नैतिकता में आस्था होने के कारण न्याय, सहयोग, सहिष्णुता, सह–अस्तित्व, निःस्वार्थता आदि मूल्यों पर सदैव बल दिया गया है। उन्होंने आध्यात्मिक मूल्यों की तुलना में भौतिक मूल्यों को निरन्तर स्थान दिया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्रों में स्वार्थ व शोषण की भावनाएं प्रबल हो गई थीं तथा सहयोग व सहिष्णुता का स्थान अलगाव, घृणा व द्वेष ने ले लिया था। सामाजिक परिवर्तन और विघटन की इस प्रक्रिया में सबसे शक्तिशाली तत्त्व विज्ञान की शिक्षा का विकास था।

आज अलगाववाद, असहिष्णुता आदि को दूर कर सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए मूल्यपरक शिक्षा पर बल दिया जा रहा है ताकि सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास संभव हो सके तथा सहयोग व भ्रातृत्व पर आधारित समाज का पुनर्निर्माण हो सके।

5.2.3. जर्मनी में शिक्षा द्वारा सामाजिक परिवर्तन

सन् 1860 में जेना के युद्ध में नेपोलियन द्वारा धूल–धूसरित कर दिये जाने के कारण जर्मन लोगों की देश–प्रेम, राष्ट्रीयता, बलिदान आदि भावनाओं पर घातक प्रभाव हुआ था। इन भावनाओं का पुनर्निर्माण करके अपने समाज को पूर्व रूप में परिवर्तित करने के लिए शिक्षा का सहारा लिया गया था।

5.2.4. सोवियत संघ में शिक्षा द्वारा समाजवाद का व्यापक प्रचार

सोवियत संघ में जार के सामन्तवादी विचारों के स्थान पर समाजवादी समाज के पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा का सहारा लिया गया था। समाजवाद को विश्वव्यापी बनाने के लिए भी सोवियत संघ ने शिक्षा का भरपूर सहारा लिया।

5.3 शांति शिक्षा द्वारा वर्तमान विश्व के कायापलट का प्रयास

वर्तमान में विश्व के असंतुलित विकास या कुविकास को खत्म करने, शस्त्रीकरण को रोकने तथा अहिंसक व शांतिवादी विश्व समाज की रचना के लिए शांति शिक्षा व निःशस्त्रीकरण की शिक्षा का सहारा लिया जा रहा है। इस प्रकार समाज के पुनर्निर्माण में शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में सामने आई है। भविष्य की राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अनुरूप सामाजिक पुनर्निमाण के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा इस तरह की आयोजित की जाए कि वह बालकों में परिवर्तन व नवीन प्रवृत्तियों पर आलोचनात्मक ढंग से विचार कर सकने की योग्यता दे।

सामाजिक पुनर्निर्माण हेतु दो स्तरों पर प्रयत्न करने आवश्यक हो–

- भौतिक संसाधनों का विकास व उनका समान वितरण
- मानवीय संसाधनों का विकास व उनका पूर्ण उपयोग।

शिक्षा इन दोनों क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। व्यक्ति को नये मूल्य देने, उसकी प्रवृत्ति, सोचने–विचारने के ढंग और नये परिवर्तन के प्रति आस्था उत्पन्न करने का कार्य शिक्षा ही करती है। रूस में क्रांति के बाद समाज के पिछड़े ग्रामीण और परम्परागत स्थिति को उन्नत, विकासशील और आधुनिक समाज में बदलने का कार्य विद्यालयों को ही सोपा गया था। कोठारी आयोग ने उचित ही कहा था–''हमारा देश जिस प्रकार के समाजवादी ढंग का समाज निर्मित करना चाहता है, वह समाज व्यक्तिगत या समूहगत संकीर्ण निष्ठा व स्वार्थता के द्वारा नहीं अपितु राष्ट्रीय विकास के सभी घटकों के प्रति व्यापक निष्ठा व उसके प्रति उत्सर्ग से ही बन सकेगा और इस हेतु शिक्षा अहम साधन होगी।''

5.4 सामाजिक पुनर्निर्माण कैसे करें?

सामाजिक पुनर्निर्माण दो प्रकारों से किया जा सकता है–

- संगठित व नियोजित रूप से धीरे–धीरे परिवर्तन लाकर।
- क्रांति अथवा आन्दोलन द्वारा एकाएक परिवर्तन लाकर।

इन दोनों विधियों में प्रथम विधि उपयोगी एवं संतोषजनक है। दूसरी विधि घृणा, अत्याचार, हिंसा और अशांति उत्पन्न कर सकती है। 1688–89 की इंग्लैण्ड की, 1783 की फ्रांस की, 1917 की रूसी क्रांतियां इसकी प्रमाण हो।

योजनाबद्ध सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा तीन प्रकार से सहयोग कर सकती हो–

- व्यक्तियों में यह समझ विकसित की जाए कि वे अच्छी व उपयोगी परम्पराओं और व्यवस्थाओं का चयन कर सकें तथा अनुपयोगी एवं बुरी परम्पराओं तथा रूढ़ियों को छोड़ सकें।
- व्यक्ति निर्भीक एवं स्वतंत्र होकर सामाजिक बुराइयों की आलोचना कर सके।
- व्यक्ति योग्य बनकर सुनियोजित एवं सुनिश्चित योजना में सहयोग दे सके।

यद्यपि वर्तमान शिक्षा सामाजिक पुनर्निर्माण के स्वरूप को निश्चित करने में असफल रही है। प्रो. सचदेवा के शब्दों में–''शिक्षा, जिसे सामाजिक व्यवस्था को नवीन रूप प्रदान करने में नेतृत्व करना चाहिए था, उसकी चाटुकार सहचरी के रूप में कार्य करके संतोष का अनुभव कर रही है।'' इसलिए वर्तमान शिक्षा में परिवर्तन की बात बहुत जोरों से की जा रही है। शिक्षा में आज मूल्यों का अकाल–सा पड़ गया है, इसी कारण विश्व

कुविकास की समस्या से ग्रस्त है। वर्तमान शिक्षा में मूल्यों तथा अहिंसा एवं शांति के तत्त्वों के समावेश से विश्व द्वारा चाहे जा रहे संतुलित सामाजिक पुनर्निर्माण को संभव बनाया जा सकता है।

6. जनतन्त्र और शिक्षा

जनतन्त्र आधुनिक शासन–व्यवस्थाओं में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। जनतन्त्र में जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनकर शासन करने का अवसर देती है। जनता ही शासक वर्ग की निर्माता होती है। यदि शासक वर्ग जनता के हित में न रहकर स्वेच्छा से कार्य करता है तो जनता उसे हटाकर ऐसे व्यक्तियों को अपना शासक चुनती है जो उनके हितों की रक्षा कर सके। जनतंत्र में प्रत्येक नागरिक का अधिकार है कि वह राज्य की ओर से अपने विकास के लिए समान अवसर, वातावरण और सुविधायें प्राप्त करें। जनतंत्र में व्यक्ति के विकास के लिए शिक्षा–व्यवस्था की जाती है और प्रत्येक नागरिक को उपयुक्त स्वतंत्र शैक्षिक वातावरण देकर उनके विकास का अवसर दिया जाता है। इसमें किसी वर्ग, जाति, धर्मादि का भेद नहीं रखा जाता। यदि जनता अशिक्षित, असंस्कृत और चरित्रहीन होती है तो उसके प्रतिनिधि जो जनतन्त्रात्मक शासन चलाते हैं, चरित्रहीन और स्वार्थी हो जाते हैं। ऐसी दशा में जनतंत्र कभी सफल नहीं होता। इसलिए जनतंत्र को सफल बनाने के लिए शिक्षा का प्रसार आवश्यक है।

6.1 जनतंत्रात्मक सिद्धान्तों की व्यावहारिकता तथा आदर्शवाद

जनतंत्रात्मक सिद्धान्तों द्वारा जिन आदर्शों की स्थापना की गई है, उन्हें व्यावहारिक रूप देकर ही जनतंत्रात्मक सफलता प्राप्त की जा सकती है। इन सिद्धान्तों के अनुसार प्रथम आदर्श यह है कि राज्य प्रत्येक नागरिक को शिक्षा द्वारा यह ज्ञान दे कि उनके कर्तव्य और अधिकार क्या है। जब शिक्षा द्वारा इस आदर्श की पूर्ति के लिए प्रयास किया जाता है तो नागरिकों को अपने कर्तव्यों तथा अधिकारों का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उनके निर्वाह योग्य बनाने की चेष्टा की जाती है। ऐसा करने से उनमें विविध योग्यता, गुण और कुशलता उत्पन्न हो जाती हैं। राज्य द्वारा अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करके साक्षरता लाना, साक्षरता के साधन द्वारा अग्रिम ज्ञानार्जन का अवसर देना, नागरिकों का शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक, आत्मिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक तथा राजनैतिंक विकास करना आदि बातों के लिए प्रयास करना होता है। राज्य द्वारा जनतंत्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर व्यावसायिक कुशलता तथा योग्य नागरिकता के गुण उत्पन्न करके उन्हें योग्य शिक्षक, चिकित्सक, कृषक, इन्जीनियर, अधिवक्ता, राजनीतिक, कलाकार आदि बनाना होता है। जनतंत्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों को स्वतंत्र चिन्तन, स्वतंत्र निर्णय, स्वतं वही उपादेय होती है जो शिक्षार्थी के जीवन से सम्बन्धित हो जिससे कि वह उसके जीवन का एक अंग बन त्र भाव–प्रकाशन के अवसर देकर स्वतंत्र कार्य करने के गुण को ग्रहण करने दिया जाय। शिक्षा जाय। ऐसी शिक्षा विद्यार्थियों में स्वावलम्बन और व्यावहारिकता की कुशलता उत्पन्न करती है। जनतंत्र में उदारता, सहनशीलता, सहकारिता, धैर्य आदि गुण बहुत कार्यकारी होते हैं। ये गुण जनतंत्रात्मक आदर्शों को व्यावहारिकता का रूप देने में लाभकारी होते हैं। शिक्षा के द्वारा राज्य के लिए आवश्यक कर्मचारियों, कार्यकर्ताओं, जनप्रतिनिधियों, अधिकारियों तथा जनता को लाभ पहुंचाने के लिए समाज सुधारकों, राजनीतिज्ञों, धर्म सुधारकों, शिक्षकों, चिकित्सकों आदि की आवश्यकता की पूर्ति करनी आवश्यक है। देश में खाद्य पदार्थों की आत्म–निर्भरता, औद्योगिक विकास और आर्थिक समृद्धि के लिए विविध तकनीशियनों, कृषकों, व्यावसायिक व्यक्तियों आदि की आवश्यकता होती है उनकी पूर्ति के लिए एक राष्ट्रीय शिक्षा नीति निर्धारित करनी होती है और उसे व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया जाता है। जनतंत्र की सुरक्षा के लिए बाह्य तथा आन्तरिक हानिकारक तत्वों से सुरक्षा के लिए राष्ट्रीय एकता, सामाजिक भावनात्मक एवं धार्मिक सामंजस्य की आवश्यकता होती है जिससे लोगों में समृद्धि उत्पन्न होती है और नैतिक

बल आता है। बाह्य सुरक्षा के लिए सैनिक बल बढ़ाने की बात आती है जिसे राज्य पूर्ण तत्परता से निर्वाह करता है। इस प्रकार राष्ट्रीय सुरक्षा समृद्धि के विकास द्वारा जनतान्त्रिक सिद्धान्तों का पालन हो जाता है।

जनतन्त्रात्मक शासन–प्रणाली में जनता के हृदय में जनतंत्र के प्रति विश्वास भरना बहुत आवश्यक होता है। जनतंत्र में आस्था उत्पन्न करने के लिए जनता की सम्मति से विविध योजनायें बनानी आवश्यक होती हैं। विचार स्वातन्त्रय, चिन्तन की स्वतंत्रता, विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मिलने से जनता अपने विचार स्पष्टतया प्रकट करती है और विविध उपयोगी विचारों से योजना निर्माताओं को लाभान्वित करती है। यही बात शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण करने तथा राष्ट्रीय शिक्षा योजना निर्मित करने में लागू की जानी चाहिए। शिक्षा तथा उसके विशिष्ट उद्देश्यों के प्रति जनता का विश्वास प्राप्त करना आवश्यक होता है।

6.2 जनतंत्र में शिक्षा के उद्देश्य

6.2.1. आत्म विकास का उद्देश्य

इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु निम्नलिखित शक्तियों का विकास करना होगा–

- मस्तिष्क को शिक्षा के प्रति जिज्ञासु बनाया जाय। प्रत्येक नागरिक शिक्षा ग्रहण करने की इच्छा रखे।
- वाक् शक्ति का विकास जिससे नागरिक वाणी द्वारा अपने विचारों को सफलतापूर्वक व्यक्त कर सकें।
- पढ़ने तथा लिखने की क्षमता उत्पन्न करना जिससे व्यक्ति मातृभाषा में लिख पढ़ सके।
- अंकगणित की जानकारी जिसके द्वारा वह जोड़ने, घटाने, गिनने आदि की क्रियाएं कर सकें।
- दृष्टि तथा श्रवण शक्तियों का विकास करना।
- स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यक बातों का ज्ञान देना।
- स्वयं का स्वास्थ्य बनाकर स्वाथ्य सम्बन्धी अच्छी आदतें प्राप्त करना और अन्य व्यक्तियों को उस ज्ञान तथा आदत से स्वास्थ्य सम्बन्धी लाभ पहुंचाना।
- समाज की स्वास्थ्य रक्षा में समुचित योग देने की क्षमता उत्पन्न करना।
- मनोरंजन के स्वास्थ्यकारी साधनों को जुटाने की क्षमता विकसत करना।
- अवकाश के अवसर का सदुपयोग करने की योग्यता आना।
- सौन्दर्य की परख करके उसकी अनुभूति प्राप्त कर सकना।
- जीवन को आदर्श रूप में यापन कर सकना।

6.2.2. मानव सम्बन्ध की स्थापना का उद्देश्य

मानवीय सम्बन्ध को स्थापित करने और उसे सौहार्दपूर्वक निभाए रखने की क्षमता के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना होगा–

- मानवता के प्रति आदर की भावना का विकास करना जिससे वह मानव सम्बन्धों को महत्व दे सके।
- सुखदायक तथा उपयोगी मित्रता स्थापित करने की क्षमता पा सके।
- दूसरों को सहयोग दे सकने तथा समूह खेल खेलने की प्रवृत्ति पाने की क्षमता उत्पन्न कर सकना।
- विनम्रतापूर्वक पारस्परिक व्यवहार कर सकना।
- परिवार के सामाजिक महत्व को समझ सकना।
- परिवार के आदर्शों की रक्षा करने की सामर्थ्य पा सकना।
- कौटुम्बिक व्यवस्था तथा सम्बन्धित कार्यों में दक्षता पा सकना।

- परिवार में जनतंत्रात्मक सम्बन्धों की स्थापना कर सकना।

6.2.3. आर्थिक परिपूर्णता के विकास का उद्देश्य

जीवन में आर्थिक एवं व्यावसायिक स्वावलम्बन लाने के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना होगा–

- रूचिकारक निजी कार्य क्षेत्र में दक्षता प्राप्त कर सकना।
- विविध आर्थिक कार्यों से सम्बन्धित जानकारी और अवसर पा सकना।
- भावी जीवन की तैयारी और जीविका हेतु कोई व्यवसाय चुन सकना।
- चुने हुए व्यवसाय में निपुणता प्राप्त कर सकना।
- व्यावसायिक कुशलता को स्थिर रखते हुए सुधार कर सकना।
- व्यवसाय के सामाजिक महत्व को समझ सकना।
- जीवन की आर्थिक व्यवस्था का संचालन सफलतापूर्वक कर सकना।
- सम्बन्धित व्यय का मानदण्ड निर्धारित कर सकना।
- क्रय–विक्रय की क्षमता ग्रहण कर सकना।
- व्यक्तिगत हितों की रक्षा के लिए उपाय ढूंढ निकालना।

6.2.4. नागरिक उत्तरदायित्व के निर्वाह का उद्देश्य

जनतंत्र में उत्तम नागरिकता से युक्त नागरिकों की आवश्यकता होती है। नागरिक उत्तरदायित्व की भावना को जाग्रत करने के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक होगा–

- मानवीय परिस्थितियों की विविधता को जानकर सामाजिक न्याय में विश्वास जाग्रत कर सकना।
- असन्तोषजनक दशाओं के सुधार के लिए प्रयत्नशील हो सकना।
- सामाजिक प्रक्रियाओं को समझकर अनुकूलन पा सकना।
- प्रचार के विरोधी विज्ञापनों में सही निर्णय लेने की क्षमता आना।
- सहिष्णु और उदार बनने की सामर्थ्य पाना।
- राष्ट्र की सम्पति और साधनों की रक्षा और सदुपयोग कर सकना।
- विज्ञान का समाज हित में उपयोग कर सकना।
- विश्व को एक समाज मानकर अपने को उसका सदस्य समझ सकना।
- राज्य नियमों को श्रद्धापूर्वक अनुपालन कर सकना।
- जनतंत्र के प्रति आस्था और जनतंत्रात्मक सिद्धान्तों के प्रति भक्ति उत्पन्न हो सकना।
- नागरिक के कर्तव्यों का ज्ञान पाना तथा समुचित निर्वाह कर सकना।

6.3 जन शिक्षा

जनता को शिक्षित करने और उसे कर्तव्यों तथा अधिकारों का ज्ञान प्राप्त कराने के लिए जन शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। जन शिक्षा का तात्पर्य केवल बालकों की शिक्षा से नहीं है, वरन् उन प्रौढों की शिक्षा से है जो किसी भी शिक्षा संस्था में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं पा सके हैं। प्रौढ माता–पिता तथा अभिभावक होते हैं। यदि उनका शैक्षिक विकास नहीं किया जायेगा तो बालकों के लिए उनका कोई भी शैक्षिक योग नहीं होगा। वे घर और समाज में उपयुक्त वातावरण निर्मित नहीं कर सकेंगे तथा व्यावसायिक दक्षता प्राप्त न कर सकने के कारण परिवार का पेट नहीं भर सकेगें। जनतंत्र में जन शिक्षा इसलिए भी आवश्यक होती है कि जनता के लोग अपने कर्तव्यों और अधिकारों का परिचय पाकर निर्वाचन के समय अपने मतों का सदुपयोग कर सकें। इस शिक्षा व्यवस्था में स्त्री पुरूषों, बाल, वृद्धों, कृषकों, मजदूरों, ग्रामीण तथा नगरवासियों के लिए उनकी

आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा दी जानी चाहिए। वे लोग अपंग और साधनहीन हैं जैसे गूंगे, बहरे, रोगी, दृष्टिहीन, उनकी शिक्षा व्यवस्था विविध उपयोगी ढंगो से संचालित की जानी आवश्यक है। शिक्षा द्वारा जनता को सांस्कृतिक, व्यावसायिक एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी जानकारी देकर उन्हें योग्य नागरिक बनाने का प्रयास करना चाहिए।

जनतंत्रात्मक शासन व्यवस्था के अन्तर्गत शिक्षा इस प्रकार व्यवस्थित की जानी चाहिए कि बालक की अभिरूचियों एवं क्षमताओं का स्वाभाविक विकास हो सके। शिक्षा द्वारा ऐसा वातावरण निर्मित किया जाना आवश्यक है कि बालक स्वतन्त्र रूप से व्यक्तिगत विकास कर सकें तथा रूढिगत सामूहिक शिक्षण आवश्यकतानुसार ही दिया जा सके। इस शिक्षा व्यवस्था में बालक का यथोचित अध्ययन किया जाना आवश्यक है जिससे यह पता चल सके कि बालक में कौन–कौनसी रूचियां और क्षमताएं विद्यमान हैं। अतः बालक की पारिवारिक परिस्थितिया, उसकी मनोवैज्ञानिक विलक्षणताएं उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा अभिवृतियों को जानना होगा। बालक की बुद्धि परीक्षा द्वारा मानसिक क्षमता, स्वास्थ्य परीक्षण द्वारा उसका शारीरिक एवं बौद्धिक स्वास्थ्य तथा रूचियों को जाना जाएगा, तभी जनतंत्रात्मक बालोपयोगी शिक्षा व्यवस्था की जा सकेगी।

6.4 जनतन्त्रात्मक शिक्षा का पाठ्यक्रम

उपर्युक्त प्रमुख चार उद्देश्यात्मक वर्गों को ध्यान में रखकर उपयोगी, जनतंत्रात्मक, लचीला और रोचक पाठ्यक्रम निर्मित करके ही शिक्षा व्यवस्था की जा सकती है। पाठ्यक्रम की आयोजना करते समय उसकी सम्पूर्णता पर ध्यान देना आवश्यक है। सम्पूर्ण पाठ्यक्रम द्वारा बालकों में सर्वांगीणता लायी जा सकती है। उसमें खेल–कूद, पाठ्य सहगामी क्रियायें, विषयों का अध्यापन, परीक्षा और मूल्यांकन का यथोचित समंजन होना आवश्यक है। बालकों की वैयक्तिक भिन्नताओं, शक्तियों, तथा आवश्यकताओं को स्थान देकर उपादेय पाठ्यक्रम बनाना उचित होगा। बालकों को क्रिया द्वारा सीखने का अवसर देने की दृष्टि से पाठ्यक्रम में छात्रों द्वारा की जाने वाली स्व–क्रियाओं को स्थान देना आवश्यक होगा। छात्र–छात्राओं में सामाजिक एवं राष्ट्रीय भावनाओं का विकास करने के लिए सामाजिक पर्व तथा राष्ट्रीय पर्वों को मनाना, विविध सांस्कृतिक और सामाजिक आयोजन करने के अवसर की सुविधाएं पाठ्यक्रम में वर्णित होनी चाहिए। शिक्षक अपने शिक्षण में जिन मनोवैज्ञानिक, रोचक एवं सरल पद्धतियों का अनुसरण कर सकें तथा जनतंत्रात्मक शिक्षा का सम्पादन कर सके वैसे अवसरों का उल्लेख भी पाठ्यक्रम में होना आवश्यक है। पाठ्यक्रम में प्रकृति निरीक्षण, रूचिकर शिल्प, कृषि, उद्योग, मातृभाषा, विदेशी तथा प्रादेशिक भाषायें, गणित, विज्ञान, सामाजिक अध्ययन के विषय, स्वास्थ्य ज्ञान एवं ललित कलाओं को स्थान देकर उनके शिक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए।

7. अन्तर्राष्ट्रीयता और शिक्षा

विश्व का कोई भी राष्ट्र ऐसा नहीं है, जो प्रत्येक दृष्टिकोण से आत्म निर्भर हो। प्राचीन काल से ही एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के सम्पर्क से अपनी आवश्यकता की पूर्ति करता आ रहा है। जब विश्व के दो या दो से अधिक राष्ट्रों में पारस्परिक आवागमन, विनिमय, विचारों का आदान–प्रदान, सहयोग आदि होते हैं तो हम इस पारस्परिक राष्ट्रीय सम्पर्क को अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना से सम्बोधित करते हैं। आज विश्व में 20 वीं शताब्दी की उपलब्धियों के कारण अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ है। वैज्ञानिक खोजों की व्यावहारिकता ने एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र से लम्बी दूरी को इतना कम कर दिया है कि व्यक्ति विविध यानों द्वारा विश्व के कई राष्ट्र का भ्रमण कुछ ही घण्टों में कर सकता है। उद्योग की उन्नति तथा वैज्ञानिक खोजों के पारस्परिक योग ने कुछ देशों को इतना अधिक समृद्ध बना दिया है कि वे अपने उत्पादन को दूसरे राष्ट्रों में खपाना चाहते हैं,

राजनैतिक गुटबन्दियां बनाकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क द्वारा अपना बाजार स्थापित करना चाहते हैं। जैसे–जैसे आवागमन की सुविधायें, औद्योगिक विकास और मानव आवश्यकताओं तथा सम्पर्क में वृद्धि होती गयी, अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क की भावना विकसित होती चली गयी। इस भावना का इतना अधिक विकास हुआ कि अमेरिका का व्यक्ति भारत में घटने वाली घटना के सम्बन्ध में या जापान व इंग्लैण्ड में घटने वाली घटना के सम्बन्ध सोचकर अपने विचारों का आदान–प्रदान करता है। यदि आवश्यक होता है तो उनमें अपना सहयोग भी प्रदान करता है। वैज्ञानिक खोजों ने आत्म निर्भरता के स्थान पर पारस्परिक निर्भरता की वृद्धि की है। यह परस्पर निर्भरता सांस्कृतिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक क्षेत्रों में भी पनपने लगी है। इस परस्पर निर्भरता के कारण पारस्परिक सम्बन्धों में वृद्धि हुई है। अब लोगों की राष्ट्रीय प्रवृति अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृति में परिवर्तित होने लगी है। विश्व–नागरिकों में सहकारिता, सहिष्णुता और विश्व–अवबोध प्रवृतियां पनप रही हैं। मानव संहार की योजनाओं के फलस्वरूप आणविक प्रगति के दुष्परिणामों को देखकर विश्व के लोग सद्भावनापूर्वक बन्धुत्व में बंधकर रहना चाहते हैं।

7.1 अन्तर्राष्ट्रीयता की समस्या

गत दो विश्व युद्धों के परिणामों से विकम्पित होकर मानव विश्व में शान्ति की स्थापना होने की कामना करने लगा है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्कों की वृद्धि के साथ–साथ विश्व शांति के लिए सफल प्रयास भी किये गये हैं, परन्तु इन सब बातों के होते हुए भी विश्व में शांति नहीं हो पाती। विश्व भौतिकता के पीछे इतना स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण अपनाए हुए है कि विश्व के लोग दूसरों के अधिकारों का अपहरण करने में संकोच नहीं करते और तनाव की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता का अवबोध एक समस्या बन गया है। अन्तर्राष्ट्रीयता के अवबोध में निम्नलिखित बातें प्रमुख रूप में बाधक होती हैं–

7.1.1 भग्नाशा और शोषण की प्रवृति

मानव आशाओं पर जीता है और विविध कामनाओं एंव इच्छाओं के आश्रय पर जीवन ढकेलता है। इन इच्छाओं की वृद्वि होने पर मनुष्य की आवश्यकताएं भी बढ़ जाती हैं। दूषित सामाजिक व्यवस्था के कारण जब मनुष्य की आवश्यकता पूर्ति के लिए साधन उपलब्ध नहीं होते और आवश्यकताएं पूरी नहीं होती तो मनुष्य में भग्नाशा उत्पन्न हो जाती है। यही भग्नाशा युयुत्सा की प्रवृति को प्रोत्साहन देती है और युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सुख–समृद्धि की लालसा ने व्यक्ति को विविध अपेक्षाएं करने के लिए प्रेरित किया है। इन अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए उपयुक्त साधन न मिलने पर व्यक्ति उन्हें दूसरों से छीनने की दिशा में प्रयत्नशील हो जाता है। इस प्रकार सामाजिक वातावरण दूषित हो जाता है और शोषण की प्रवृति पनपने लगती है। शोषण की प्रवृति सुख समृद्धि की लालसा और भग्नाशा के कारण उत्पन्न होती है। ऐसी कुसामाजिक दशा में जिसका शोषण होता है वह इसका विरोध करता है और तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह बात व्यक्ति के स्थान पर राष्ट्रीयता की भावना के कारण राष्ट्रों के मध्य भी घटती है और राष्ट्र अशान्त वातावरण उत्पन्न कर देते हैं। इस अशान्त वातावरण द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीयता पर आघात होता है।

7.1.2 शक्ति, प्रतिष्ठा और लाभ की प्राप्ति की प्रेरणा

वैज्ञानिक अनुसन्धानों और आविष्कारों ने शक्ति को इतना भौतिकवादी बना दिया है कि उनके आधार पर उसकी शक्ति, प्रतिष्ठा और लाभ पाने की प्रवृति बढ़ने लगती है। वैज्ञानिक ज्ञान की अभिवृद्धि द्वारा प्रकृति पर नियंत्रण करके प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग करते हुए मानवोपयोगी उत्पादन होने लगे हैं। एक राष्ट्र इस होड़ में आगे जाने के लिए प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग करता है, यदि उसके पास आवश्यक प्राकृतिक संसाधनों की कमी होती है, तो वह उन्हें दूसरे राष्ट्रों से प्राप्त करने का प्रयास करता है। यह प्रयास बलजन्य

शोषण का भी हो जाता है। ऐसे शोषण द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष छिडना स्वाभाविक ही लगता है। शक्तिशाली राष्ट्र प्राकृतिक संसाधनों और शक्तियों पर अधिकार जमाने के लिए निर्बल परन्तु साधन सम्पन्न राष्ट्रों को हड़पने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय भावना क्षीण होकर विश्व अशान्ति का रूप ले लेती है।

7.2. अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध के प्रयास

विश्व को अशान्ति का क्षेत्र बनने से रोकने के लिए तथा विश्व नागरिकों को अन्तर्राष्ट्रीयता की समझ देने के लिए प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् से ही प्रयास होने लगे थे। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् शान्तिप्रिय राष्ट्रों ने लीग ऑफ नेशन्स की स्थापना करके संघर्ष में रत राष्ट्रों की मध्यस्थता करने के लिए प्रयास किये, परन्तु लीग ऑफ नेशन्स को विश्व–शांति स्थापित करने में सफलता नहीं मिली। द्वितीय विश्व–युद्ध फिर छिड़ा और आणविक अस्त्रों की मार से विश्व भयभीत हो गया। मानव संहार और धन–हानि को देखकर विश्व के बडे राष्ट्रों ने विश्व भर में शान्ति स्थापित करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ का गठन किया । इस संघ के सभी प्रयास सफल हुए हों, ऐसी बात नहीं। इण्डोचीन, कोरिया, तथा मध्यपूर्व एशिया और अफ्रीका में तनाव की स्थितियां विषम रूप ले सकीं। अब भी राष्ट्रों के मध्य गुटबन्दी की भावना बल पकड़ रही है। भयभीत राष्ट्र अपने सैन्य बल को शक्तिशाली बनाकर सशक्त बनने का प्रयास कर रहे हैं। कुछ विकासशील राष्ट्र समृद्ध राष्ट्रों से सैन्य सामग्री प्राप्त करने के समझौते कर रहे हैं और पडौसी राष्ट्रों के लिए अशान्ति का कारण बन रहे हैं। यदि इस बार पुनः विश्वयुद्ध छिड़ता है तो भारी आयुधों और आणविक अस्त्रों के उपयोग से मानव संस्कृति और सभ्यता का लोप हो जाएगा विश्व की सुख शान्ति लोप हो जाएगी। अतः अब अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध का प्रसार आवश्यक है। इस प्रयास में मनोवैज्ञानिक और शैक्षिक साधन भी सहायक सिद्ध होंगे।

7.3 अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध हेतु शिक्षा की आवश्यकता

विश्वभर के सभी राष्ट गणतंत्रात्मक शासन प्रणाली के पक्ष में है और वे अपनी आवश्यकतानुसार इस प्रणाली को अपने व्यवहार में भी ला रहे हैं। जैसे सिद्धान्त गणतंत्रात्मक व्यवस्था में निश्चित किए जाते हैं वैसे व्यवहार में नहीं लाए जाते। यही कारण है कि राष्ट्रीय स्तर पर योग्य नागरिक नहीं मिलते। अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध के लिए गणतंत्रात्मक जीवन व्यतीत करना बहुत आवश्यक है। हमारे जीवन में प्रतियोगिता के स्थान पर सहकारिता का भाव आना चाहिए। विविध सामाजिक और राजकीय व्यवस्थाएं गणतंत्रात्मक सिद्धान्तों पर आधारित कर सामाजिक और प्रशासनिक सुव्यवस्थाएं लायी जा सकती हैं। उत्पादन और वितरण के विविध राजकीय साधन, विद्यालय, परिवार और परिषदें सभी कुछ गणतन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर विकसित किये जायें, परन्तु यह सब तभी होना सम्भव है जब शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार की जाय कि नागरिक गणतन्त्रात्मक सिद्धान्तों से परिचित होकर उनका अनुपालन करने लगें और सहकारी जीवन व्यतीत करने लगें।

वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना का प्रसार करने के लिए हमें शिक्षा के लक्ष्य इस प्रकार निर्धारित करने चाहिए कि व्यक्तियों में विश्व नागरिकता, अन्तर्राष्ट्रीयता और मानवीय सहयोग के गुण उत्पन्न हो सकें। राष्ट्रीयता की भावना यद्यपि राष्ट्र के सभी नागरिकों को एक सूत्र में आबद्ध रखती है, परन्तु वह अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग मे ंबाधक सिद्ध होती है। हमें शिक्षा पाठ्यक्रम का निर्माण अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ही करना चाहिए। शिक्षण प्रक्रिया में भूगोल, इतिहास, भाषा, विज्ञान, साहित्य आदि के माध्यम से राष्ट्रीय भावना के साथ अन्तर्राष्ट्रीय भावना का विकास करना आवश्यक है। यह विचारधारा प्रत्येक नागरिक के मन से निकालनी होगी कि उसका राष्ट्र ही सर्वोतम है। तीव्र राष्ट्रीयता की भावना के कारण एक व्यक्ति अन्य राष्ट्रों के साथ सहकारिता का भाव न अपनाकर प्रतिद्वन्द्विता और ईर्ष्या में लीन रहता है। उसमें इस भावना के आते ही अन्य राष्ट्रों के शोषण की भावना जागृत हो जाती है। सभी विचारक और चिन्तक शिक्षा के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीयता के

अवबोध के प्रसार की बात कहते हैं। यह सुझाव स्वीकार करते हुए हमें शिक्षा का पुनर्संगठन अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों के आधार पर करना होगा।

7.4 अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा

अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास और प्रसार के लिए शिक्षा व्यवस्था करते हुए हमें शिक्षा सिद्धान्तों, पाठ्यक्रमों और शिक्षण विधियों, शिक्षकों और शिक्षालयों के वातावरण में अन्तर्राष्ट्रीयता का समावेश करना चाहिए।

7.4.1 शिक्षा सिद्धान्तों का अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए चयन

गणतंत्रात्मक जीवन प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में बहुत अधिक लाभदायक सिद्ध हुई है। इस गणतंत्रात्मक जीवनयापन दशाओं में व्यक्ति को स्वतंत्र चिन्तन, स्वतंत्र निर्णय और स्वतंत्र भाव प्रकाशन का अवसर मिलता है। नागरिक में सहिष्णुता द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध को लाया जा सकता है। अतः सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा की व्यवस्था करते समय गणतन्त्रात्मक शिक्षा सिद्धान्त को स्वीकार करना होगा। विश्वभर के लोग एक कुटुम्ब के समान जीवन व्यतीत करें। ऐसी उदार मानवीय भावना का विकास तभी सम्भव है जब शिक्षा सिद्धान्तों के चयन अथवा निर्धारण में मानव के प्रति आदर की पुनर्व्यवस्था करते हुए मानवता के प्रति आदर की भावना के सिद्धान्त को स्वीकार करें। यह धारणा ठीक है कि व्यक्ति को स्वावलम्बी बनते हुए राष्ट्रीयता की भावना रखनी चाहिए, परन्तु यह इतनी उग्र नहीं होनी चाहिए कि वह केवल अपने ही राष्ट्र के प्रति उत्तरदायी रहते हुए अन्य राष्ट्रों के प्रति प्रतिद्वन्द्विता का भाव धारण करके उनसे ईर्ष्या रखे। उसे चाहिए कि वह अन्य राष्ट्रों के प्रति सहकारिता और प्रेम का भाव रखें। व्यक्ति समाज में रहते हुए जैसे अन्य व्यक्ति से भयभीत रहता है उसी प्रकार विश्व के राष्ट्र एक दूसरे से संदिग्ध स्थिति में रहकर भयभीत रहते हैं। इस भय का कारण व्यक्ति व्यक्ति और राष्ट्र राष्ट्र में विश्वास का अभाव है। शिक्षा का पुनर्संगठन अन्तर्राष्ट्रीयता की दृष्टि से इस सिद्धान्त पर किया जाना चाहिए कि व्यक्ति अन्य व्यक्ति के प्रति और राष्ट्र के प्रति विश्वास उत्पन्न करना चाहते हैं। व्यक्तिवादी विचारधारा के लोग शिक्षा द्वारा यही भावना उत्पन्न करना चाहते हैं कि व्यक्ति व्यक्तिगत उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना सीखे, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में सामुदायिक रूप में सामूहिक उत्तरदायित्व निर्वाह करने की क्षमता उत्पन्न हो, ऐसा प्रयास करना चाहिए। समाज और संसार में यदि कोई बुराई, पाप, अशान्ति है तो उसके लिए समाज और विश्व का प्रत्येक व्यक्ति उत्तरदायी है। दूसरे पर दोषारोपण करके सामूहिक उत्तरदायित्व से नहीं बचा जा सकता। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा का पुनर्संगठन करते समय सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना के सिद्धान्त को स्वीकार करना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीयता के अवबोध में एकता और भावना बहुत सहयोगी हुआ करती है। हमें शिक्षा की व्यवस्था करते समय छात्रों को यह अनुभव करने का अवसर प्रदान करना चाहिए कि विश्व एक परिवार है, हम सब पारिवारिक सदस्य हैं। जैसे एक परिवार के सदस्य प्रेमपूर्वक, सहकारी जीवन व्यतीत करते हुए रहते हैं वैसे ही हमें भी प्रेमपूर्वक, सहकारी जीवन व्यतीत करते हुए रहना चाहिए। व्यक्ति का व्यवहार पूर्ण सामाजिक और मानवीय होना चाहिए कि विश्व के व्यक्ति विश्वास कर सकें और सहयोग का हाथ बढ़ा सकें।

7.4.2. अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा–पाठ्यक्रम तथा शिक्षण

हमें अन्तर्राष्ट्रीयता के अवबोध के लिए शिक्षा–व्यवस्था करने के लिए शिक्षा–पाठ्यक्रम के पुनर्संगठन पर विशेष ध्यान देना होगा। शिक्षा पाठ्यक्रम का निर्धारण करते समय हमें उपर्युक्त शिक्षा सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए विषय ज्ञान को अन्तर्राष्ट्रीय भावना से समन्वित करना होगा। शिक्षा पाठ्यक्रम में इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र के द्वारा सामाजिक और मानव–संस्कृति के विकास का ज्ञान कराना चाहिए। पाठ्यक्रम के उपर्युक्त विषयों को राष्ट्रीयता की सीमा में आबद्ध नहीं करना चाहिए। विज्ञान, साहित्य और कला विषयों को

मानवोपयोगी और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा। विश्व के सभी साहित्य का सामान्य ज्ञान पाठ्यक्रम में संजोना उपयुक्त होगा। शिक्षक शिक्षा व्यवस्था का प्रमुख आधार होता है। शिक्षक के शिक्षण का ढंग उसकी व्यक्तिगत शैली का परिणाम होता है। यदि शिक्षक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विषयों को पढ़ाये और ज्ञान को अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना से समन्वित कर दे तो बालकों में अन्तर्राष्ट्रीयता अवबोध जाग्रत हो सकता है। भूगोल के माध्यम से विश्व के विविध निवासियों के पूर्ण जीवन परिचय, भौगोलिक दशाएं, राजनैतिक, आर्थिक नीतियां तथा सांस्कृतिक और सामाजिक प्रगतियां इस ढंग से प्रस्तुत की जायें कि बालकों में उनके प्रति जिज्ञासा, विश्वास और सहिष्णुता उत्पन्न हो तो अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास होने में सरलता हो सकेगी। इतिहास का अध्ययन करते समय राष्ट्रीय दृष्टिकोण को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण में परिवर्तित कर देना उचित होगा। इतिहास का स्वरूप मानव–सभ्यता और संस्कृति के विकास के रूप में प्रस्तुत किया जाना ही लाभकारी हो सकता है। किसी भी ऐतिहासिक घटना का प्रभाव विश्व की गतिविधियों पर किस प्रकार और क्या पड़ा, इसका अध्ययन कराने में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास में सहयोग प्राप्त हो सकेगा। केवल राष्ट्र के ही महान पुरूषों के जीवन–चरित्र न पढ़ाये जाकर विश्व–भर के महान पुरूषों के जीवन परिचय पढ़ाये जाने चाहिए। किसी भी वैज्ञानिक अथवा औद्योगिक गवेषणा तथा अनुसन्धान कार्य को किसी एक राष्ट्र का न समझकर विश्व–भर के मानवों की सम्पति मानते हुए शिक्षण प्रक्रिया में संजोना चाहिए। साहित्य अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सर्वाधिक सहायक होगा। लॉर्ड मैकाले का यह कथन कि पाश्चात्य साहित्य पूर्व के साहित्य की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ा–चढ़ा है, उग्र राष्ट्रीयता का परिचायक है। ऐसी भावनाएं अन्य राष्ट्रों के मन में असहिष्णुता और ईर्ष्या के बीज बोती हैं। साहित्य का शिक्षण संकुचित दृष्टिकोण से न देकर मानवीय दृष्टिकोण से दिया जाना चाहिए। पाठ्यक्रम में विश्व के प्रमुख साहित्यों को स्थान दिया जाना उपयुक्त होगा और मानवीय दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हुए उनके विकास के लिए प्रयत्नशील रहना होगा। कला मानव विकास की अभिव्यक्ति और संस्कृति के प्रसार का माध्यम है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विश्व को समुन्नत कलाओं का अध्ययन कराकर मानव विकास की सभ्यता पर दृष्टिपात कराना चाहिए। अर्थशास्त्र, विज्ञान तथा विविध विषय अनतर्राष्ट्रीयता के विकास की दृष्टि से उपयुक्त माध्यम सिद्ध होते हैं। विश्व के शान्ति काल में आर्थिक, व्यावसायिक, वैज्ञानिक और व्यापारिक प्रगति अच्छी प्रकार होती हैं, परन्तु युद्ध की स्थिति आने पर इन सबका विकास रूक जाता है। यह बात बालकों को समझाकर विश्व में शान्ति स्थापित करने की भावना पर बल देना आवश्यक होगा। समय की आवश्यकताओं का वैज्ञानिक तथा आर्थिक क्रियाओं पर गहरा प्रभाव पड़ता है। युद्धकाल में अर्थ और विज्ञान का उपयोग मानव संहार के लिए आयुध और हथियार निर्माण करने में होता है जबकि शान्ति काल में मानव–कल्याण में प्रयुक्त होता है। इन सभी भावनाओं के विकास में शिक्षक की शिक्षण शैलियां अधिक प्रभावशाली होती हैं, जिन पर ध्यान देना चाहिए।

7.4.3 अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में अध्यापक का दायित्व

छात्र–छात्राओं में अन्तर्राष्ट्रीयता के अवबोध का विकास करने में शिक्षक बहुत महत्त्वपूर्ण साधन होता है। अध्यापक का व्यक्तिगत विश्वास, निर्णय, दृढ़ता और कौशल बालकों में वैसे ही भाव उत्पन्न करता है। यदि कोई अध्यापक अन्तर्राष्ट्रीयता के विश्वास और भाव से सम्पुष्ट होगा तो बालकों पर उसकी इस भावना का अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। इसलिए अध्यापक का दृष्टिकोण पूर्णरूपेण अन्तर्राष्ट्रीय होना चाहिए। शिक्षक में यह भावना और इच्छा दृढ़ होनी चाहिए कि वह बालकों को अन्तर्राष्ट्रीयता के अवबोध से अवश्य परिचित करायेगा। शिक्षक के लिए आवश्यक है कि विश्व एक समाज है और कुटुम्ब के समान है। जैसे कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य का निर्वाह पारस्परिक सहयोग, विश्वास और दायित्व से होता है वैसे ही विश्व के प्रत्येक नागरिक का होना चाहिए। प्रेम, दया, सहानुभूति, सहिष्णुता, सहकारिता, और सद्भावना व्यक्तियों को एक–दूसरे के निकट लाते हैं, परन्तु द्वेष, घृणा, विरोध, अविश्वास एक दूसरे को पृथक् करते हैं। अतः शिक्षक में अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रति दृढ़ आस्था और

विश्वास होना चाहिए। शिक्षक में गणतन्त्रात्मक मान्यताओं और गणतंत्रात्मक सिद्वान्तों के प्रति विश्वास की भावनाओं का होना बहुत आवश्यक है। गणतंत्र में विश्वास रखने वाला शिक्षक स्वतंत्र चिन्तन, स्वतंत्र निर्णय, स्वतंत्र भाव–प्रकाशन के कार्यों के अवसर प्रदान कर सकता है, जिनकी अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में बहुत आवश्यकता है।

7.4.4 अन्तर्राष्ट्रीयता और शिक्षालय

शिक्षालयों का वातावरण शिक्षार्थियों पर बहुत प्रभाव डालता है। उत्तम और समुचित शिक्षालय का वातावरण बालक को सीखने की प्रक्रिया में सहयोग देता है और सुविधाएं जुटाता है। अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा के विकास के लिए जनतंत्रात्मक सहानुभूतिजन्य स्वतंत्र वातावरण निर्मित करके शिक्षालयों को आकर्षक बनाया जाना चाहिए। शिक्षालयों में अन्तर्राष्ट्रीय संघ और सयुक्त राष्ट्र संघ की कार्यवाहियों के अनुरूप जनतंत्रात्मक वातावरण जुटाकर अन्तर्राष्ट्रीयता विषयक गोष्ठियां संयोजित की जानी आवश्यक हैं। विद्यालय में संयुक्त राष्ट्र संघ दिवस मनाकर अन्तर्राष्टीयता के विकास कार्यक्रम संचालित करने चाहिए। राष्ट्रीय, सामाजिक और सांस्कृतिक पर्वों को अन्तर्राष्ट्रीयता के स्वरूप में परिवर्तित करके मनाना ठीक होगा। संयुक्त राष्ट्र संघ के बाल सदस्य बनाकर अन्तर्राष्ट्रीय आयोजनों में सम्मिलित होने का अवसर देना चाहिए। वाद–विवाद, भाषण, गोष्ठी, सम्मेलन आयोजित करके अन्तर्राष्ट्रीयता से परिचित कराना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीयता और संयुक्त राष्ट्र संघ–संयुक्त राष्ट्र संघ ने 25 जून 1945 ई. में सेनफ्रांसिस्कों में संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य निश्चित किये थे। इन उद्देश्यों को शैक्षिक दृष्टिकोण से निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया जा सकता है–

- विश्व शांति और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के उद्देश्य की पूर्ति के लिए विश्व के सभी राष्ट्रों के साधनों को स्वीकार करके न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के अनुसार विवादों को हल करना।
- विश्व के सभी राष्ट्रों को समान अधिकार देकर नीतियों के निर्धारण की पूर्ण स्वतंत्रता देना, पारस्परिक मैत्री–सम्बन्ध स्थापित करना और व्यापक शान्ति स्थापित करने के लिए विविध साधन जुटाना।
- मानव अधिकार तथा स्वतंत्रता सिद्वान्तों को सर्वमान्य कराने के लिए जाति, भाषा, वर्ग, धर्म और लिंग पर ध्यान न देकर आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं का हल अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर खोजना।

अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा, विज्ञान तथा संस्कृति–संस्था के प्रयास– संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा–विज्ञान तथा संस्कृति संस्था की स्थापना करके अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध को विकसित किया गया है। यू.एन. ओ. के संविधानानुसार युद्ध का प्रारम्भ मनुष्य के मस्तिष्क से ही होता है। अतः मनुष्य के मस्तिष्क में ही शान्ति सुरक्षा स्थापित करनी चाहिए। यूनेस्को ने उपर्युक्त संविधान की दृष्टि से निम्नलिखित तीन उद्देश्यों को पूर्ण करने का प्रयास किया है–

- विश्व राष्ट्रों में पारस्परिक ज्ञान तथा अवबोध उत्पन्न करना।
- संस्कृति तथा शिक्षा का प्रसार करना।
- ज्ञान की सुरक्षा, वृद्धि और प्रसार करना।

यूनेस्को द्वारा सार्वभौमिक, सार्वलौकिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक समस्याओं के हल खोजे जाते हैं। यूनेस्को कृषि, स्वास्थ्य, खगोल विज्ञान तथा कला आदि की समस्यायें राष्ट्र, भाषा, संस्कृति से अनुबद्ध न होकर सार्वलौकिक और सार्वभौमिक रूप में हल करती है। इस संस्था द्वारा रेडियो, चलचित्र तथा प्रकाशन के माध्यम से सर्वहितकारी विकास योजनाएं प्रसारित की जाती हैं। यूनेस्को का प्रयास है कि वह सभी राष्ट्रों के हित की शिक्षा का विकास करके अन्तर्राष्ट्रीयता के अवबोध की जागृति करे। यूनेस्को ने 1947 ई.में अन्तर्राष्ट्रीयता के

लिए शिक्षा पर एक गोष्ठी की थी जिसमें प्रस्तावित सुझावों को माध्यमिक शिक्षा स्तर पर सामाजिक अध्ययन के माध्यम से पढ़ाया जाना चाहिए। इन सुझावों में निम्नलिखित सिद्धान्त लागू होते हैं–

- समाजिक विज्ञानों के शिक्षण में विश्व के सभी प्रमुख अंग समाविष्ट हों।
- विद्यार्थी को विश्व समस्याओं की किसी एक महत्वपूर्ण अंग में रूचि दिलायी जाय।
- विश्व के भौगोलिक अध्ययन में राष्ट्र के प्राकृतिक संसाधनों का अध्ययन कराकर उन्हें विश्व की खाद्य समस्या के हल खोजने की बात प्रस्तुत की जाय।
- सामाजिक विज्ञान के अध्ययन के अन्तर्गत मानव व्यक्तित्व के विकास का अध्ययन इस दृष्टि से हो कि मानव सम्बन्ध स्थापित होने में सरलता हो।
- वर्ण, धर्म, संस्कृति, आर्थिक एवं शैक्षिक स्तर का भेद किये बिना सामाजिक अध्ययन के माध्यम से मानव सम्पर्क में सौहार्दता उत्पन्न करनी चाहिए।
- अन्तर्राष्ट्रीय तनाव तथा सहकारिता समस्याओं का हल सामाजिक विज्ञान के माध्यम से खोजकर संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों पर ध्यान दिया जाए।
- सामाजिक विज्ञान के अध्ययन द्वारा सामाजिक घटनाएं और समस्याएं सोची विचारी जाएं।
- सामाजिक विज्ञान द्वारा समुचित बातों का ज्ञान देकर अभीष्ट मनोवृति और कौशल का विकास करना चाहिए।
- आलोचनात्मक तर्क शक्ति के विकास के साथ सामाजिक विज्ञान का अध्ययन कराना चाहिए।
- कक्षा, विद्यालय और समाज को प्रयोगशालाएं मानकर सामाजिक विज्ञान के अध्ययन द्वारा नागरिकता की शिक्षा दी जाये।

उपर्युक्त संस्तुतियां जो यूनेस्को ने अपने सम्मेलन में प्रस्तुत कीं, अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा के विकास में मार्गदर्शन प्रदान करती हैं। इन्हें अपनाकर और व्यवहार में लाकर अन्तर्राष्ट्रीयता के अवबोध का विकास करना चाहिए।

8. इक्कीसवीं शताब्दी की शिक्षा

विश्व या समाज की समस्या वास्तव में व्यक्ति की समस्या है। विश्व तभी शांति से रह सकता है, जब व्यक्ति शांति से रहने के लिए अपना मन बनाये। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब व्यक्ति के शरीर, मन और भाषा के बीच समन्वय हो। शिक्षा की आवश्यकता व्यक्ति को यही प्रशिक्षण देने के लिए है। प्रचलित शिक्षा पद्धतियों ने यद्यपि कई सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति की है पर इसका मुख्य लक्ष्य समाज का संतुलित विकास और शिक्षा के ढांचे का सुदृढ़ीकरण होने की बजाय सर्वश्रेष्ठ शासक वर्ग का निर्माण रहा है। इसी कारण अभी तक लोक कल्याण नहीं हो पाया है। यद्यपि मानव सभ्यता, विकास के कई सोपानों से गुजरी है पर यह केन्द्रीय दृष्टि अपरिवर्तनीय रही है। नौकरशाही, औद्योगीकरण, विज्ञान, प्रबन्ध, सेना, राष्ट्रवाद, समाजवाद, योजनाबद्ध विकास–सबने इस प्रक्रिया में भरपूर सहयोग किया है। व्यक्ति ने व्यक्ति का शोषण किया है, शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा कमजोर लोगों पर अत्याचार हुए, पुरुषों ने स्त्रियों का तथा सबल ने निर्बल का शोषण किया है, उन पर शासन किया है। इतिहास से चली आ रही इस शिक्षा की व्यवस्था ने केवल शासक समाज की सेवा की है और हिंसा को बढ़ावा दिया है।

योजनाबद्ध हिंसा आज की देन नहीं, बल्कि सदियों से चली आ रही है, इस तरह के बहुत से साक्ष्य प्राचीन इतिहास में देखने को मिलते हो। एक इटालियन यात्री ने भारत यात्रा का अपना अनुभव लिखते हुए कहा है–वह एक ब्राह्मण से मिला और सूर्यग्रहण के बारे में जानकारी चाही। ब्राह्मण ने वैज्ञानिक विस्तार से उसे प्रामाणिक जानकारी दी। संयोगवश उसी समय एक अस्पृश्य व्यक्ति ने भी ब्राह्मण से वही जानकारी चाही। ब्राह्मण का उत्तर था–राक्षस राहू सूर्य देवता को निगल जाता है और सूर्यग्रहण हो जाता है। जब इटालियन

यात्री ने यह सब देखकर पूछा–कौन सा उत्तर सही है? ब्राह्मण का जवाब था–जो उत्तर आपको दिया गया, वही सही है। ज्ञान सबके लिए नहीं है, सामान्य आदमी के लिए दूसरी शिक्षा है। प्राचीन भारत में स्त्री और अस्पृश्य को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था। अतः शिक्षा अभ्यास के लिए नहीं वरन् शासक वर्ग की सेवा के लिए रही है। ये शासक पूरे राष्ट्र के विकास को अकेले ही निगल लेते हो। विकसित राष्ट्र इसी प्रकार की शिक्षा को महत्त्व देते रहे हो। ग्रेट ब्रिटेन में शिक्षा केवल उच्च वर्ग के लिए ही है। केवल 16ःलोग ही उच्च शिक्षा प्राप्त करते हो, इनमें से भी 80ः लोग शारीरिक श्रम न करने वाले परिवारों से आते हो। यद्यपि ग्रेट ब्रिटेन में 98ःसाक्षरता है पर इनमें से 80ःनाम मात्र के लिए ही शिक्षित हो। शिक्षा का यह एकाधिकार पद और धन के एकाधिकार से भी खतरनाक है। इससे बुरा क्या होगा कि एक छोटा समुदाय अपने विशेष ज्ञान के कारण पूरे समूह पर शासन कर रहा है। प्राचीनकाल की तुलना में आज शूद्रों की संख्या अधिक हो गई है। वैशिष्ट्य के बिना सामाजिक ज्ञान रखने वाले लोग समाज में अविश्वसनीय हो। अतः मात्र विशिष्ट लोगों के पास ही शिक्षा व सत्ता का अधिकार है। उनके पास ही ऐसे मंत्र हो जो नियम–उपनियम, आचार संहिताओं आदि का निर्माण करते हो।

ज्ञान की यह संकीर्णता व्यक्ति को प्राकृतिक विवेक से दूर ले जा रही है तथा उसकी आंतरिक प्रतिभा और विवेक शक्ति को नष्ट कर रही है। अतः आज आवश्यक है 21वीं शताब्दी के लिए शिक्षा पर पुनर्विचार व पुनर्निर्माण की। यदि शिक्षा को रोजगार के साथ जोड़ा जाता है तो इसके परिणाम भी भयावह ही हो। रोजगार प्राप्त व बेराजगारों के बीच संघर्ष है। अनुत्पादक शिक्षित रोजगार प्राप्त व उत्पादक अशिक्षित स्वयं रोजगार प्राप्त व्यक्तियों के बीच संघर्ष है। यह कहना मात्र धोखा है कि आज अनुत्पादक शिक्षित रोजगार व्यक्ति पूंजी पर नियंत्रण स्थापित कर रोजगार उत्पन्न कर रहे हो। यदि ऐसी ही स्थिति रही तो परिणाम खतरनाक भी हो सकते हो।

प्रश्न है–तब हम क्या करें? कैसे हम नई शिक्षा नीति का निर्माण करें? इस नई शिक्षा नीति के क्या लक्ष्य और उद्देश्य हों? गांधीजी की भाषा में इस प्रश्न का समाधान है–हम किसी भी समाज का रख–रखाव करने की जगह शिक्षा के माध्यम से ऐसे नए समाज–तंत्र का निर्माण करें जो अहिंसक समाज का निर्माण और उसका नेतृत्व करे। ऐसी शिक्षा दलितों के उत्थान के लिए होगी, शक्ति को विकेन्द्रित करने के लिए होगी तथा समानता की संस्कृति के विकास के लिए होगी। सबके लिए समान अवसर का नारा आज अधिक सार्थक नहीं क्योंकि समाज के विभिन्न वर्ग, जातियां बहुत अधिक असमान स्तर तक पहुंच चुके हो। अतः पिछड़े वर्ग को कुछ अतिरिक्त लाभ देने होंगे जिससे शिक्षा उन्हें समान स्तर पर ला सके। ऐसी शिक्षा स्वप्रकाशित करने वाली तथा मूल्य केन्द्रित होगी जिसका उद्देश्य डॉक्टर, इंजीनियर व प्रशासक देना नहीं अपितु इन लोगों में वैसे गुण व मूल्य भी हो या नहीं, यह देखना होगा। इस प्रकार की शिक्षा द्वारा परिवर्तित अभिवृत्तियों का विकास होगा, बौद्धिक परिपक्वता आएगी जिससे अहिंसक संस्कृति का निर्माण होगा। फोयरस्टीर ने ठीक ही कहा था–शांति केवल संस्कृति के पुनर्निर्माण से ही स्थापित हो सकती है। इस संस्कृति में सामंजस्य व सेवा भावना पर बल दिया जाएगा। हिंसा व केन्द्रीयकरण की जगह सहभागिता व अहिंसक भावना का विकास होगा। कार्ल मेनहीन ने ठीक ही कहा है–''हिंसक दृष्टिकोण को उपयुक्त शिक्षा के द्वारा रोका जा सकता है।''

गांधीजी से एक बार पूछा गया–आपकी शिक्षा का क्या उद्देश्य है? गांधीजी का उत्तर था–चरित्र निर्माण। मो साहस, शक्ति तथा कार्य करते समय स्वयं को भूल जाने की योग्यता का निर्माण करना चाहूंगा, जो साक्षरता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। आज की शिक्षा हमें सब कुछ सिखाती है पर हमारे आंतरिक अस्तित्व से परिचित नहीं करवाती। हम नहीं जानते कि हम अपनी इच्छाओं और स्वार्थों के कितने गुलाम हो। हम दूसरों की सेवा करने की बजाए स्वयं की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति क्यों करते हो? क्यों हमारे पास अच्छाई और बुराई के बीच भेद करने का

विवेक नहीं है? इसलिए सूचनाएं एकत्र करना शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य नहीं अपितु मानवीय बदलाव ही इसका उद्देश्य हो सकता है। आइन्सटीन ने कहा था–हमारे कार्यों में नैतिकता आये यह मानवता का महान् उद्देश्य है। संक्षेप में हम 21वीं शताब्दी के लिए शिक्षा के स्वरूप में निम्न तत्त्वों का समावेश मान सकते हो।

- साक्षरता न तो शिक्षा का प्रारंभ है न ही अंत।
- बौद्धिक ज्ञान शिक्षा का एक पहलू है, इसका दूसरा पहलू है–इच्छाओं व भावनाओं को प्रशिक्षित करना तथा चरित्र निर्माण।
- शिक्षा का व्यक्तिवादी मूल्य ठीक नहीं, व्यक्ति का विकास समाज के विकास के साथ जोड़ना चाहिए।
- विज्ञान के योगदान को नकार नहीं सकते पर हमें अपनी आंतरिक शक्तियों के लिए अपनी आंखें बंद नहीं कर लेनी चाहिए।

9. अभ्यास प्रश्न

निबंधात्मक प्रश्न

1. सामाजिक पुनर्निर्माण एवं लोकतंत्र के सम्बन्ध में शांति शिक्षा की भूमिका का वर्णन कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. शांति शिक्षा की सीमाओं का विवेचन कीजिए।
2. शांति शिक्षा की वैधता को स्पष्ट कीजिए।

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. निःशस्त्रीकरण शिक्षा की आदर्शवादी संकल्पना का विकास किस अंतर्राष्ट्रीय संस्था के कारण हुआ?
   - अ. यूनेस्को
   - ब. युनिसेफ
   - स. अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय
   - द. उपरोक्त में से कोई नहीं।
2. संरचनात्मक परिवर्तन से समाज में शांति के पक्षधर कौन थे?
   - अ. महात्मा गांधी
   - ब. जीन शॉर्प
   - स. जॉन गाल्टुंग
   - द. मार्टिन लूथर किंग
3. निम्न में से कौन सामाजिक पुनर्निर्माण के समर्थक थे?
   - अ. राजा राममोहन राय
   - ब. दयानन्द सरस्वती
   - स. रविन्द्र नाथ टैगोर
   - द. उपरोक्त सभी।
4. जर्मनी के लोगों की देश–प्रेम राष्ट्रीयता की भावनाओं को कब आघात पहुंचा?
   - अ. 1865
   - ब. 1860
   - स. 1870
   - द. 1890
5. अंतर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक है–
   - अ. शिक्षा
   - ब. संचार
   - स. साहित्य
   - द. उपरोक्त सभी
6. गांधी के अनुसार नई शिक्षा नीति का उद्देश्य है–
   - अ. रोजगार वृद्धि
   - ब. जीवन–यापन में सहायक
   - स. मूल्य केन्द्रित
   - द. धन केन्द्रित
7. मानवीय सुधार द्वारा शांति स्थापित करने के दृष्टिकोण में ..... को महत्त्व दिया गया।
8. सामाजिक विकास, परिवर्तन और पुनर्निर्माण का आधार ..... ही है।
9. विश्व नागरिकों में ..... , ... और ..... विकास हुआ है।
10. शिक्षक के शिक्षण का ढंग उसकी ..... का परिणाम होता है।

इकाई – 3
मूल्यपरक शिक्षा

उद्देश्य

1. मूल्य का अर्थ व प्रकारों की जानकारी प्राप्त करना।

2. मूल्यपरक शिक्षा की अवधारणा का अध्ययन करना।

3. मूल्यपरक शिक्षा के सम्बन्ध में जीवन विज्ञान व बुनियादी शिक्षा की भूमिका का अध्ययन करना।

संरचना

1. मूल्य अवधारणा

    1.1 मूल्य का अर्थ एवं परिभाषाएं

    1.2 मूल्यों की विशेषताएं

    1.3 मूल्य निर्धारण के सिद्धान्त

    1.4 मूल्यों का वर्गीकरण

        1.4.1 आत्मनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ मूल्य

        1.4.2 साधन मूल्य एवं अन्तर्निहित मल्य

        1.4.3 अन्य मूल्य

    1.5 मूल्यों का महत्व

    1.6 मूल्यों के विकास में परिवार तथा समाज की भूमिका

    1.6.1 मूल्यों के विकास में परिवार की भूमिका

    1.6.2 मूल्यों के विकास में समाज की भूमिका

2. मूल्यशिक्षा : प्रत्यय

    2.1 मूल्य शिक्षा का प्रत्यय

    2.2 मूल्य शिक्षा प्रत्यय की मुख्य विशेषताएं

    2.3 मूल्यपरक शिक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

    2.4 मूल्यपरक शिक्षा की विषय वस्तु

    2.5 मूल्यपरक शिक्षा के मार्गदर्शक सिद्धान्त

    2.6 मूल्यपरक शिक्षा के उद्देश्य

    2.7 मूल्यपरक शिक्षा की आवश्यकता

        2.7.1 चरित्र निर्माण एवं नैतिक विकास हेतु

2.7.2 जीवन की पूर्णता के लिए

2.7.3 परिवर्तन एवं परम्परा में समन्वय हेतु

2.7.4 संस्कृति के संरक्षण एवं विकास हेतु

2.7.5 सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास करने हेतु

2.7.6 अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास करने हेतु

2.7.7 लोकतांत्रिक मूल्यों को सुदृढ़ करने हेतु

2.7.8 इक्कीसवीं शताब्दी हेतु तैयार करना

2.7.9 व्यावसायिक विकास एवं आत्मनिर्भरता की प्राप्ति हेतु

2.7.10 राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु

3. जीवन विज्ञान

3.1 समस्याएं एवं शिक्षा

3.2 जीवन विज्ञान : मूल्यपरक शिक्षा

3.3 जीवन विज्ञान शिक्षा के उद्देश्य

3.4 जीवन विज्ञान की विषय वस्तु

3.5 शिक्षा और समाज–व्यवस्था

3.6 सामाजिकता का आधार : परस्परता

3.6.1 सामाजिकता का शत्रु : स्वार्थ

3.6.2 परस्परता की श्रंखला

3.6.3 संवेदनशीलता

3.7 जीवन विज्ञान : परिष्कार की प्रक्रिया

3.7.1 परिष्कार के तत्व

3.7.2 मूल तत्त्व की विस्मृति

3.7.3 स्वामित्व का समाजीकरण

3.7.4.स्वतंत्रता की सीमा

3.7.5 कोरी बौद्धिक शिक्षा के परिणाम

3.8 जीवन विज्ञान : समन्वित शिक्षा पद्धति

3.9 जीवन विज्ञान की फलश्रुति : दृष्टिकोण का परिवर्तन

4. अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय

5. गांधी की मूल्यपरक शिक्षा– नयी तालीम

5.1 बुनियादी शिक्षा (Basic Education) की पृष्ठभूमि

5.2 फीनिक्स संस्थान

5.3 टॉलस्टॉय आश्रम

5.4 साबरमती आश्रम

5.5 शान्ति निकेतन

5.6 गुजरात विद्यापीठ

5.7 वर्धा शिक्षा योजना

5.8 वर्धा शिक्षा परिषद् में गांधीजी का भाषण (22 अक्टूबर,1937)

5.9 शिक्षा के सर्वमान्य सिद्धान्त

5.10 बुनियादी शिक्षा के बुनियादी नियम

6. सर्वधर्म समभाव

6.1 सत्याग्रह और साम्प्रदायिक संघर्ष

7. अभ्यास प्रश्न

1. मूल्य अवधारणा

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका समाजीकरण समाज के विश्वासों, आदर्शों, सिद्धान्तों, और सामाजिक मानदण्डों से निर्धारित होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया ही उसे अन्य जीवों से पृथक् करती है। समाज के नियम, आदर्श अथवा मानदण्ड जब व्यक्ति अन्तःकरण से अथवा विश्वास के रूप में स्वीकार करता है, तो इन्हें मूल्य की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार मूल्य मानव का एक आन्तरिक गुण है। इसीलिए मनोवैज्ञानिकों ने मूल्यों को मनुष्य की रूचियों, पसन्दों, अधिमानों एवं अभिवृतियों के रूप में स्वीकार किया है। दार्शनिकों के लिए मूल्य एक विचार अथवा दृष्टिकोण है। मूल्यों को चाहे किसी भी दृष्टिकोण से देखा जाए, व्यवहार एवं आचरण को प्रभावित एवं निर्धारित करते हैं। कदाचित इसीलिए सम्पूर्ण विश्व मूल्यों के क्षरण को लेकर चिन्तित है और उन्हें पुनर्स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है।

1.1 मूल्य का अर्थ एवं परिभाषाएं

मूल्य शब्द ही उत्पति संस्कृत भाषा की मूल धातु में यत् प्रत्यय को जोड़कर हुई है, जिसका अर्थ कीमत, महत्व, योग्यता, उत्तमता, भृत्तिदर, पारिश्रमिक आदि है। इसका अंग्रेजी रूपान्तर वैल्यू शब्द की उत्पति लैटिन भाषा के वेलिन शब्द से मानी जाती है जो किसी वस्तु की कीमत, विशेषता, गुण या उपयोगिता को व्यक्त करता है। इस प्रकार संस्कृत एंव लेटिन दोनों भाषाओं में मूल्य शब्द का अर्थ उत्तम, श्रेष्ठ, सुन्दर या वरीयमान से है। सामाजिक एवं मानवीय विज्ञानों में भी मूल्य को इसी अर्थ में ग्रहण किया गया है। ऐसे कार्य, ऐसे विचार या गुण, ऐसी गतिविधियां या वस्तु जिसे हम दूसरे की तुलना में श्रेष्ठ समझते हैं, मूल्य हैं। इस प्रकार मूल्य वह गुण या विचार है जो किसी व्यक्ति या समाज के लिए सम्माननीय, उपयोगी या मूल्यवान है। मूल्य शब्द को विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। दर्शनशास्त्र में मूल्य विचार है, तो समाजशास्त्र में मूल्य सामाजिक मान्यता प्राप्त मानदण्ड, आदर्श या गुण है। मनोविज्ञान में इन्हें व्यक्ति की अभि वृतियों के रूप में परिभाषित किया गया है।

मूल्य एक ऐसी आचरण संहिता या सद्गुणों का समूह है, जिसे अपनाकर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। इसमें मानव की धारणाएं, विचार, विश्वास, मनोवृति एवं आस्था आदि समेकित होते हैं। भारतीय धर्म ग्रन्थों में मूल्यों के लिए शील शब्द अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द मूल्य का पर्याय नहीं वरन् समीपी शब्द है। शील सर्वत्र भूषण का कार्य करता है। कहीं कही शील शब्द चरित्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः मूल्य एक प्रकार का मानक है। मनुष्य किसी वस्तु, क्रिया, विचार को अपनाने के पूर्व यह निर्णय करता है कि वह उसे अपनाये या त्याग दे। जब ऐसा विचार व्यक्ति के मन में निर्णयात्मक ढंग से आता है तो वह मूल्य कहलाता है। मूल्य वे मानक या नैतिक व्यवहार की आचार संहिता हैं जो संस्कृति से निकले, परम्पराओं द्वारा पोषित तथा आत्मचेतना या अन्तःकरण द्वारा संरक्षित होती हैं मानव इनको आधार बनाकर अपनी जीवन शैली का निर्माण करता है और जीवन के आदर्शों को प्राप्त करने का प्रयास करता है। मूल्य और आदर्श दोनों ही चरित्र निर्माण तथा व्यक्तित्व विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अंगीकृत या आत्मसात किये हुए मूल्य ही जीवनादर्श बनते हैं। जब मूल्यों का स्पष्टीकरण हो जाता है, मूल्य विशेष पर निर्णय ले लिया जाता है और उसे जीवन में ग्रहण कर लिया जाता है, तभी वह आदर्श बनता है।

इस प्रकार चूंकि मूल्यों को अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है, इसलिए उसकी एक निश्चित परिभाषा देना अत्यन्त दुरूह कार्य हैं। मैकमिलन व नैलर ने लिखा है– मूल्य पद का अर्थ समाज विज्ञान या दर्शनशास्त्र में किसी तरह से स्पष्ट नहीं है। मूल्य शब्द की कुछ परिभाषाएं यहां दी जा रही हैं–

- **डॉ. राधा कुमुद मुकर्जी के अनुसार**– मूल्य एक जटिल सम्पूर्णता है। यह चेतन, प्राणिशास्त्रीय एवं सामाजिक आदर्श दशा है। इस परिभाषा के अनुसार मूल्य सम्पूर्ण व्यक्तित्व से सम्बन्धित है। यह मनुष्य की प्राणिशास्त्रीय सामाजिक सम्बन्धों एवं मानव के आदर्शों पर आधारित है और यह काल्पनिक न होकर एक सजीव सामाजिक तथ्य है।
- **फेयरचाइल्ड के अनुसार**– मूल्य विश्वास की वह क्षमता है, जिसके आधार पर हम मानव की इच्छा सन्तुष्टि का माप करते हैं। यह वह गुण है जो एक व्यक्ति या समूह के लिए महत्वपूर्ण होता है। मूल्य स्पष्ट रूप से एक मनोवैज्ञानिक सत्यता है, जो किसी भी साधन से मापनीय नहीं है। फेयरचाइल्ड ने मूल्य को उपयोगिता से भिन्न माना है, क्योंकि मूल्य की वास्तविकता मन से होती हैं, बाह्य वस्तु से नहीं। इस परिभाषा के अनुसार जो कुछ मानवीय मन एवं इच्छा को सन्तुष्ट करता है, वह मूल्य कहा जायेगा। इस प्रकार व्यक्ति को जो कार्य, वस्तु या व्यवहार सन्तुष्टि प्रदान करते हैं, वही उसके लिए मूल्य हैं।
- **जेम्स वी. शेवर तथा विलियम स्ट्रांग का मत है**–मूल्य महत्व के बारे में निर्णय के मानदण्ड तथा नियम हैं। ये वे मानदण्ड हैं जिनसे हम चीजों (लोगों , वस्तुओं, विचारों, क्रियाओं तथा परिस्थितियों) के अच्छा, महत्त्वपूर्ण व वांछनीय होने अथवा खराब, महत्वहीन व तिरस्कारणीय होने के बारे में निर्णय करते है।
  ली ने भी मूल्यों को इसी अर्थ में लिया है। उसके अनुसार मानव मूल्यों के द्वारा हम इस आधार को समझते हैं जिसके अनुसार व्यक्ति एक मार्ग को दूसरे की अपेक्षा चुनेगा या अच्छे बुरे का निर्णय करेगा।
- **स्टेनली के अनुसार**– यह बात सत्य है कि व्यक्ति की रूचि सभी वस्तुओं में नहीं होती है। वह केवल उसी वस्तु की रूचि एवं इच्छा करता है, जिसका कोई मूल्य हो या जिसकी कोई मान्यता हो या जिसे मानदण्ड के आधार पर मूल्यवान बताया गया हो। मूल्य इस अर्थ में मूल्यांकन भी है अर्थात् एक प्रकार का मानक होता है।
- **जे. आर फ्रैंकल के अनुसार** – मूल्य आचार, सौन्दर्य, कुशलता या महत्व के वे मानदण्ड हैं, जिनका लोग समर्थन करते हैं, जिनके साथ वे जीते हैं तथा जिन्हें वे कायम रखते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि मूल्य समाज द्वारा परिभाषित इच्छाएं एवं लक्ष्य हैं जिनका अनुबन्धन, अधिगम एवं समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा आभ्यन्तीकरण किया जाता है। वस्तुतः मूल्य व्यक्ति के क्रियाकलाप, व्यवहार आदि में निहित गुण हैं, जिनके द्वारा समस्त सामाजिक एवं सास्कृतिक गतिविधियां संचालित होती हैं व दिशा प्राप्त करती हैं। प्रत्येक समाज के कुछ आदर्श, नीतियां व मापदण्ड होते हैं, जिनकी सहायता से व्यक्ति समाज की विशिष्ट घटनाओं एंव व्यक्तिगत व्यवहारों का मूल्यांकन करता है। यही लक्ष्य, नीतियां, आदर्श एवं मापदण्ड मूल्य कहलाते हैं।

1.2 मूल्यों की विशेषताएं

मूल्यों की परिभाषाओं के आधार पर मूल्य की निम्नांकित विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है–

- मूल्य आत्मनिष्ठ होते हैं अर्थात् मूल्य व्यक्तिगत अनुभूति एवं धारणा पर निर्भर करते हैं।
- मूल्यों में सृजनात्मकता होती है।
- मूल्य मानदण्ड स्वरूप होते हैं अर्थात् उचित अनुचित अच्छाई बुराई आदि का निर्णय मूल्यों के आधार पर किया जाता है।
- मूल्यों में एक वचनबद्धता भी होती है अर्थात् मूल्यों के प्रति व्यक्ति संवेदनशील होता है और उनकी चिन्ता रखता है।
- मूल्य विश्वास तथा आचरण के आभ्यन्तरीकृत प्रतिमानों के रूप वैयक्तिक या सामूहिक चयन के मानक हैं।
- मूल्य जन्मजात नहीं होते हैं। मूल्य का अर्जन, अधिगम एवं विकास होता है।
- मूल्य अनुभवों से सम्बन्धित होते रहते हैं अर्थात् व्यक्ति मूल्यों का आभ्यन्तीकरण अनुभव एवं प्रयोग से होता है।
- मूल्य चिरन्तन, शाश्वत भी हो सकते हैं और परिवर्तनशील भी।
- सभी मूल्य सभी व्यक्तियों के लिए समान महत्वपूर्ण नहीं होते।

1.3 मूल्य निर्धारण के सिद्धान्त

मूल्य का निर्धारण किन सिद्धान्तों के आधार पर होता है, इस पर काफी मत विभिन्नता है। इस सम्बन्ध में सुखवादी, आदर्शवादी, उपयोगितावादी एवं प्रयोगवादी दृष्टिकोण प्रचलित हैं। इनका संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

- मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में प्रथम सिद्धान्त पूर्णता का सिद्धान्त है। आदर्शवादियों ने ईश्वर या विचार को पूर्ण माना है। ईश्वर की प्राप्ति के लिए सत्य, सुन्दर तथा शिव का ज्ञान आवश्यक है। आदर्शवादियों के अनुसार यही शाश्वत तथा सर्वव्यापी मूल्य हैं। इनको जानना ईश्वर का जानना है। इनकी प्राप्ति ईश्वर की प्राप्ति है। आदर्शवाद का लक्ष्य इन तीनों मूल्यों का परिज्ञान है तथा दूसरा लक्ष्य इन्हें जीवन में आत्मसात करना है। ज्ञान का लक्ष्य सत्य को जानना, इच्छा का लक्ष्य सौन्दर्य को पाना और प्रयत्न का लक्ष्य शिव को पाना है। यही मानव का परम लक्ष्य है, यही उसे पूर्णता प्रदान करता है। आध्यात्मिक मूल्य इसी पर आधारित है।
- मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में दूसरा सिद्धान्त रूचि का सिद्धान्त है। इस दृष्टिकोण का मानना है कि मूल्यों का आधार रूचि या आनंद है, इसी से हमें सुख मिलता है। जो वस्तुएं या कार्य व्यक्ति को सुख या सन्तुष्टि प्रदान करते हैं, वही उसके लिए मूल्य हैं। सुख की प्राप्ति भागवद् रूप परमार्थ के

दर्शन, आत्मा के आनन्द या भौतिक सुख सुविधा वाली वस्तुओं से हो सकती है। इसी आधार पर आध्यात्मिक एवं भौतिक मूल्यों की रचना होती है।

- मूल्य निर्धारण का तीसरा सिद्धान्त उपयोगिता का सिद्धान्त है। इसका समर्थन मुख्यतः प्रयोजनवादियों द्वारा किया गया है। वे वस्तुएं, स्थितियां, व्यक्ति, नियम या आदर्श जो उपयोगी हैं, मूल्ययुक्त हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार उपयोगिता ही सत्य की कसौटी है और उपयोगिता ही अच्छाई का मापदण्ड । भोजन से स्वास्थ्य की रक्षा होती है, इसलिए उसमें स्वास्थ्य मूल्य निहित है। यह सिद्धान्त साधन मूल्यों को महत्व देता है। उपयोगिता के आधार पर ही सामाजिक नियम, मूल्य एवं मान्यताओं का निर्माण होता है। सामाजिक, आर्थिक एवं सामुदायिक मूल्य उपयोगिता के नियम पर ही आधारित हैं।
- मूल्य निर्धारण का चौथा प्रमुख सिद्धान्त आत्मनिष्ठता एवं वस्तुनिष्ठता का है। आत्मनिष्ठ सिद्धान्त के अनुसार मूल्य व्यक्ति में निहित होते हैं और व्यक्ति–व्यक्ति में यह पृथक्–पृथक् होते हैं। वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त के अनुसार, मूल्य वस्तुगत होते हैं अर्थात् वस्तु या बाह्य दशाओं पर निर्भर करते हैं।

उपर्युक्त के अतिरिक्त मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में अस्तित्व का सिद्धान्त तथा आंशिक एवं समग्रता का सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया गया है।

1.4 मूल्यों का वर्गीकरण

मानव मूल्य एक ऐसी आचार संहिता या सद्गुण समूह है जिसे मानव अपने संस्कारों तथा पर्यावरण के माध्यम से अपनाकर अपने निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अपनी जीवन शैली का निर्माण करता है, अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। मानव मूल्यों में मनुष्य की अवधारणाएं, विचार, विश्वास, मनोवृति, आस्था या निष्ठा आदि समाहित होते हैं। ये मानव मूल्य एक और व्यक्ति के अन्तःकरण द्वारा नियन्त्रित होते हैं तो दूसरी ओर उसकी संस्कृति एवं परम्परा क्रमशः विस्सृत एवं परिपोषित होते हैं। बहुजनहित इन जीवन मूल्यों की कसौटी मानी जाती है। स्वच्छता, त्याग, प्रेम, सत्य, अहिंसा जैसे जीवन मूल्यों का उपयोग यदि मानव केवल आत्मपोषण के लिए करता है तो ये सद्गुण जीवन मूल्यों की कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं। जीवन मूल्यों को स्थूल रूप से अग्रांकित दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है–

- **परिवर्तमान मूल्य–** इन्हें युग धर्म भी कहा जाता है। युग धर्म के अन्तर्गत कुल धर्म, देश धर्म, जाति धर्म, वर्ण धर्म, लिंग धर्म, पुत्र धर्म, पत्नी धर्म, गुरू धर्म आदि अनेक प्रकार के धर्मों या कर्तव्यों का समावेश होता है। युग धर्म परिवर्तनशील होते हैं। साथ ही उन्हें परिवर्तित किया जा सकता है।
- **शाश्वत मूल्य–** इन्हें सनातन धर्म कहा जा सकता है। सनातन या सामान्य धर्म, जाति, वर्ण, अवस्था, देश–काल आदि से निरपेक्ष होते हैं। इनका सभी के द्वारा समान भाव से पालन किया जाता है। मन, वचन तथा कर्म सनातन धर्मों का पालन करने की एक अच्छे नागरिक से अपेक्षा की जाती है। सनातन धर्म शाश्वत होते हैं।

युग धर्म तथा सनातन धर्मों में निश्चित विभाजन रेखा खींचना कठिन है क्योंकि ये दोनों ही शब्द सापेक्ष हैं। मानव के अपने पूर्वजन्म तथा वंशकुल माता–पिता आदि से ग्रहण किये हुए विशेष संस्कार उसके साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़े होते हैं और उन्हीं संचित संस्कारों के अनुरूप मानव अपने चारों और फैले संसार तथा जीवन की परिस्थितियों से अपने जीवन मूल्यों के विश्व को खोजकर अपने व्यक्तित्व का निर्माण ज्ञात–अज्ञात रूप से करता है और वही उसका संस्कार होता है। इस प्रकार अपने अपने संस्कारों एवं परिवेश से व्यक्तियों का अपना–अपना संसार बनता है। परिवेश एवं संस्कारों की विविधता से व्यक्ति के जीवन मूल्य भी पृथक–पृथक हो सकते हैं।

ई.स्प्रेंगर ने टाइप ऑफ मैन नामक पुस्तक में मूल्यों को निम्नांकित वर्गों में विभक्त किया है। उनके अनुसार मूल्य के वर्ग हैं– सैद्धान्तिक मूल्य, धार्मिक मूल्य, सामाजिक मूल्य, सौन्दर्यात्मक मूल्य, आर्थिक मूल्य, और राजनीतिक मूल्य।

शेवर तथा स्ट्रांग ने मूल्यों को तीन वर्गों में विभक्त किया है। ये हैं– सौन्दर्यात्मक मूल्य, सहायक मूल्य, नैतिक मूल्य।

वी.एन. के. रेडडी ने मैन, एजूकेशन एण्ड वैल्यूज में तीन मूल्यों का उल्लेख किया है– भौतिक मूल्य, आर्थिक मूल्य, एवं मनोवैज्ञानिक मूल्य।

जीवन मूल्यों को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विभक्त किया जा सकता है–

शैक्षिक मूल्य– ब्रुबेकर ने शैक्षिक मूल्यों को परिभाषित करते हुए लिखा है– मूल्य मनुष्य की शैक्षणिक रूचियों एवं बौद्धिक रूचियों से सम्बन्धित होते हैं। ब्रुबेकर ने शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों के आधार पर शैक्षिक मूल्यों को निम्नांकित श्रेणियों में वर्गीकृत किया है–

- बौद्धिक मूल्य
- भावात्मक मूल्य
- स्वास्थ्य मूल्य
- व्यावसायिक या आर्थिक मूल्य
- सांस्कृतिक मूल्य
- नागरिकता सम्बन्धी मूल्य
- धार्मिक एवं नैतिक मूल्य।

शैक्षिक मूल्यों को विभिन्न विचारधाराओं या दर्शनों के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है। इस आधार पर प्रमुख वर्ग हैं–

- आदर्शवादी मूल्य
- प्रकृतिवादी मूल्य
- यथार्थवादी मूल्य
- प्रयोजनवादी मूल्य

विभिन्न आधारों पर किये गये वर्गीकरणों को आधार बनाकर मूल्यों का वर्णन विस्तार से किया जा रहा है।

1.4.1 आत्मनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ मूल्य

आत्मनिष्ठ मूल्य व्यक्तिपरक होते हैं। इनका निर्धारण व्यक्ति की इच्छा, आवश्यकता, समझ एवं संकल्पना से होता है। उदाहरण के लिए छात्र विभिन्न पाठ्यक्रमों में से किसी एक को चुनता है तो इसका अर्थ यह है कि वह अन्य पाठ्यक्रमों की तुलना में उसे वरीयता या मूल्य प्रदान करता है। यह व्यक्तिपरक मूल्य है। एक व्यावहारिक उदाहरण द्वारा इसे भली भांति समझा जा सकता है। यदि एक विद्यार्थी कला, विज्ञान, अभियांत्रिकी, चिकित्सा आदि में से प्रबन्धन का चुनाव करता है, तो यह उसकी व्यक्तिगत पसन्द है और इसका अर्थ यह हुआ कि वह उसे मूल्यवान समझता है। वस्तुनिष्ठ मूल्य का सम्बन्ध बाह्य परिस्थितियों से है। किसी वस्तु का मूल्य उसके बाह्य गुणों एवं बाह्य स्वीकृतियों से होता है। उपर्युक्त उदाहरण में यदि छात्र प्रबन्धन का

चुनाव करता है तो इसका कारण यह भी हो सकता है कि समाज या आर्थिक परिस्थितियां प्रबन्धन को अधिक महत्वपूर्ण बना रही हैं और इसलिए छात्र उसे महत्व देता है।

1.4.2 साधन मूल्य एवं अन्तर्निहित मल्य

साधन मूल्यों की प्राप्ति का लक्ष्य स्वयमेव नहीं होता वरन् बाह्यगत होता है। इसके चार उपभेद किये जाते हैं– परिचयात्मक, प्रयोगात्मक, समाजीकरण करने वाले और रीति या प्रथा सम्बन्धी। विभिन्न विषयों के उदाहरण से इन उपभेदों को क्रमशः इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है– सामान्य विज्ञान, स्वास्थ्य एवं स्वच्छता विज्ञान, सामाजिक विज्ञान या साहित्य कला आदि। अन्तर्निहित मूल्यों को अन्तर्गत मूल्य भी कहा जाता है। इन मूल्यों का स्वयं एवं स्थायी महत्व होता है। इसीलिए उन्हें स्थायी मूल्य भी कहा जाता है। सौन्दर्यानुभति एवं बौद्धिक आन्नद ऐसे ही मूल्य हैं। काव्य कला, साहित्य, संगीत एवं प्राकृतिक दृश्य ऐसे मूल्यों की अनुभूति कराते हैं।

- **तात्कालिक एवं दूरस्थ मूल्य–** तात्कालिक मूल्य व्यक्ति की इच्छाओं, रूचियों एवं आवश्यकताओं पर निर्भर होते हैं और वे अस्थायी प्रकृति के होते हैं। इनमें रूचियों के अनुसार परिवर्तन भी होता है। उदाहरण के लिए छात्र की रूचि रहस्य, रोमांच एवं जासूसी उपन्यास में हो सकती है या आध्यात्मिक साहित्य में। दूरस्थ मूल्य का प्रभाव दूरगामी या दीर्घकालिक होता है। ये मूल्य जीवन के आचरण एवं चिन्तन को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए छात्र की अनेक इच्छाएं हो सकती हैं। विद्यार्थी इनमें से किसी एक को जीवन के लिए चुन लेता है। अधिक धन अर्जित करना, ईमानदारी से कार्य करना, देश सेवा एवं समाज सेवा करना, येन–केन–प्रकारेण कार्य सिद्ध करना आदि में से छात्र किसी एक को चुनकर जीवन ध्येय बनाता है।
- **भौतिक तथा अभौतिक मूल्य–** भौतिक मूल्यों का सम्बन्ध भौतिक वस्तुओं, भौतिक पदार्थों, के प्रति दृष्टिकोण, उनके उपयोग, उनके लिए दिया गया महत्व, उन्हें प्राप्त करने की इच्छा आदि से है। इन मूल्यों के कारण व्यक्ति सुख–सुविधाओं, दैहिक सुख आदि को जीवन का लक्ष्य मानता है। अभौतिक मूल्यों का आशय अपार्थिव या अभौतिक विचारों या धारणाओं से है। इन मूल्यों में व्यक्ति मोक्ष आदि को जीवन का पुरूषार्थ मानता है।
- **नैतिक एवं धार्मिक मूल्य–** नैतिक मूल्य का आशय उन मूल्यों से है जो अच्छे कार्यों, शुद्ध एवं पवित्र आचरण तथा समाज द्वारा स्वीकृत नैतिक मानदण्डों के आधार पर किये गये व्यवहार से सम्बन्धित हैं। शिक्षा में ऐसे नैतिक मूल्यों का बहुत महत्व है। नैतिक मूल्यों के विकास से व्यक्ति की योग्यताओं और क्षमताओं को इस प्रकार विकसित किया जा सकता है कि वह समाज, समुदाय एवं समस्त मानवों के साथ उचित ढंग से व्यवहार करे। धार्मिक मूल्यों से आशय उन मूल्यों से है जिनके द्वारा एक छात्र या व्यक्ति किसी धर्म में आस्था रखता है, उसकी पूजन विधि, प्रार्थनाओं तथा शिक्षाओं को आत्मसात् करता है। धर्म सही अर्थों में नैतिक आचरण सिखाता है। इसीलिए नैतिक मूल्यों के विकास हेतु धार्मिक शिक्षा का समर्थन किया जाता है। धर्म और नैतिकता के बीच गहरा सम्बन्ध है। धर्म और नैतिक मूल्यों का विकास चरित्र निर्माण, उत्तम गुणों एवं आदतों के विकास हेतु आवश्यक है। त्याग, सहिष्णुता, सभी धर्मों के प्रति आदर, संयम आदि धार्मिक मूल्य हैं। नैतिक और धार्मिक मूल्यों का निकट सम्बन्ध आध्यात्मिक मूल्यों की अवधारणा से है। आध्यात्मिक मूल्य आत्मिक विकास से सम्बन्धित होते हैं।
- **सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्य–** मूल्यों का सामाजिक आधार सबसे सुदृढ़ है। मूल्यों को समाज द्वारा स्वीकृत मानदण्डों के आधार पर परिभाषित किया गया है। सामाजिक मूल्य प्रत्येक समाज के अलग–अलग होते हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसीलिए उसे सामाजिक मूल्यों को स्वीकार करना पड़ता है। मानव जन्म से अन्य पशुओं की भांति होता है, वह समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही अच्छे मूल्यों को सीखता है और आत्मसात् करता है। सामाजिक मूल्यों के कारण ही प्राणिशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक मानव सामाजिक

प्राणी बन जाता है। त्याग, संयम, भाईचारा, बडों को सम्मान छोटों को स्नेह आदि सामाजिक मूल्य हैं। सांस्कृतिक मूल्य व्यक्तियों के आचरण, रहन सहन का ढंग खानपान के तौर–तरीके आदि को प्रभावित करते हैं। प्रत्येक संस्कृति के अलग–अलग मूल्य होते हैं। सौन्दर्यात्मक मूल्य को अधिकांश विचारक सांस्कृतिक मूल्यों का उपदेश मानते हैं। सौन्दर्यात्मक मूल्यों से हम रसानुभूति या आन्नद की अनुभूति करते हैं। रसानुभूति व्यक्तिगत रूचि पर निर्भर करती है। कोई संगीत में रसानुभूति करता है तो कोई कविता में या प्राकृतिक दृश्य अवलोकन में। मनोरंजनात्मक मूल्य भी सांस्कृतिक मूल्य का ही उपभेद है। खाली समय का उपयोग किस प्रकार किया जाए, कैसे और किन साधनों से मनोरंजन किया जाए, मनोरंजनात्मक मूल्य में सम्मिलित किये जाते हैं।

1.4.3 अन्य मूल्य

आर्थिक मूल्य, राजनीतिक मूल्य, स्वास्थ्य मूल्य भी मूल्यों के अन्य प्रकार हैं। आर्थिक मूल्य के अन्तर्गत वे मूल्य आते हैं जो व्यक्ति की जीविका, चयन, उपभोग के सम्बन्ध में दृष्टिकोण धन एवं भौतिक सुविधाओं की प्राप्ति आदि से सम्बन्धित हैं। राजनीतिक मूल्य राजनीतिक पक्ष से सरोकार रखते हैं। देशभक्ति, लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति आस्था, राष्ट्रीय चिन्हों के प्रति आदर भाव, सत्ता की प्राप्ति, स्वतंत्रता, समानता आदि धारणाएं राजनीतिक मूल्य के अन्तर्गत सम्मिलित की जाती हैं। स्वास्थ्य मूल्य शारिरिक स्वास्थ्य एवं सुदृढ़ता से सम्बन्धित होते हैं। भोजन, व्यायाम, प्रात कालीन भ्रमण ब्रहचर्य आदि स्वास्थ्य मूल्य के अन्तर्गत सम्मिलित किये जाते हैं।

मूल्यों के उपर्युक्त वर्णन में कई मूल्यों का उल्लेख किया गया है। भारत के सन्दर्भ में शिक्षा पर गठित समितियों एवं आयोगों ने भी मूल्यों का उल्लेख किया है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद् ने शिक्षा के मूल्य सम्बन्धी दस्तावेज में 83 मूल्यों का उल्लेख किया है ये हैं–

1. दूसरों के सांस्कृतिक मूल्यों की सराहना एवं सम्मान	2. आत्म विश्वास
3. सामाजिक उत्तरदायित्व का भाव	4. स्व–समर्थन
5. स्वच्छता	6. स्वाध्याय
7. स्वावलम्बन	8. आत्म नियंत्रण
9. साहस	10. समाज सेवा
11. जिज्ञासा	12. मानव जाति की एकात्मकता
13. धर्म	14. अच्छे व बुरे के बीच विभेद करना
15. अनुशासन	16. सहनशीलता
17. अस्पृश्यता विरोध	18. समानता
19. नागरिकता	20. मित्रता
21. दूसरों के प्रति परवाह करना	22. वफादारी
23. दूसरों का ध्यान रखना	24. स्वतंत्रता

25. सहयोग	26. दूरदर्शिता
27. सामान्य अच्छाई	28. सज्जनता
29. लोकतांत्रिक निर्णय लेना	30. कृतज्ञता
31. व्यक्ति की गरिमा का ध्यान	32. ईमानदारी
33. राष्ट्रीय समाकलन	34. सहायकता
35. आज्ञा पालन	36. मानवतावाद
37. शारीरिक कार्य के प्रति निष्ठा	38. न्याय
39. मित्र भावना	40. सत्यता
41. सदाचरण	42. सहिष्णुता
43. समय का सदुपयोग	44. सार्वभौमिक सत्य
45. ज्ञान की खोज	46. राष्ट्रीय व जन सम्पति का महत्व
47. संयम	48. सार्वभौमिक प्रेम
49. करूणा	50. पहल
51. सामान्य लक्ष्य	52. दयालुता
53. शिष्टाचार	54. जीवों के प्रति दया
55. भक्ति	56. धर्म परायणता
57. स्वस्थ जीवन	58. नेतृत्व
59. अखण्डता	60. राष्ट्रीय एकता
61. शुचिता	62. राष्ट्रीय सचेतनता
63. निष्कपटता	64. अहिंसा
65. आत्म नियंत्रण	66. शांति
67. साधन सम्पन्नता	68. देशभक्ति
69. नियमितता	70. समाजवाद
71. दूसरों का सम्मान	72. सहानुभूति
73. वृद्धावस्था का सम्मान	74. धर्म निरपेक्षता
75. सादा जीवन	76. पृच्छाभाव
77. सामाजिक न्याय	78. दल भावना
79. स्व–अनुशासन	80. समय की पाबन्दी

81. स्वसहायता	82. दल कार्य।
83. स्व–सम्मान	

प्राथमिक शिक्षा निदेशालय, बीकानेर, राजस्थान ने अपने प्रकाशन नैतिक उपागम में 32 जीवन मूल्यों को इंगित किया है। ये हैं–

1. सच्चाई	2. अनुशासन
3. सहयोग	4. दान
5. साहस	6. दया
7. परोपकार	8. धैर्य
9. देशभक्ति	10. सहिष्णुता
11. ईमानदारी	12. तत्परता
13. विश्व बन्धुत्व	14. आत्मविश्वास
15. विनम्रता	16. कर्तव्यपरायणता
17. अहिंसा	18. दूसरों का आदर
19. सहानुभूति	20. स्वावलम्बन
21. प्रेम	22. श्रम में निष्ठा
23. दृढ़ निश्चय	24. त्याग की भावना
25. क्षमा	26. दूसरों के गुणों की प्रशंसा
27. मित्रता	28. समाज सेवा की भावना
29. सादगी	30. फिजूलखर्ची न करना
31. निर्भीकता	32. आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना।

इसी प्रकार विभिन्न धर्म प्रवर्तकों ने भी अलग अलग मूल्यों का प्रतिपादन किया है। मोहम्मद साहब, गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी, सत्य साईं बाबा, स्वामी विवेकानन्द, आचार्य महाप्रज्ञ आदि ने विशिष्ट मूल्यों का उल्लेख किया है।

1.5 मूल्यों का महत्व

मानव जीवन में मूल्यों का अत्यधिक महत्व है। मूल्य मनुष्य के व्यवहार तथा आदर्श का प्रतिरूप हैं। मूल्य ही मनुष्य को सृष्टि का विशिष्ट एवं सभ्य प्राणी बनाते हैं। मूलतः मनुष्य अन्य जीवधारियों की भांति उत्पन्न होता है, किन्तु समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा मूल्य सीखकर ही वह मानवीय गुणों से प्रतिष्ठित होता है और सभ्य समाज का अंग बनता है। मूल्यों द्वारा ही स्वस्थ सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण करते हैं। मूल्यों के अभाव

में व्यक्ति एवं समाज के समक्ष अनेक संकट उत्पन्न हो जाते हैं। सभी विचारवान् लोग आज समाज में व्याप्त विकृतियों के लिए मूल्यों के ह्रास को उत्तरदायी मानते हैं। हिंसा की बढ़ती प्रवृति, सामाजिक विघटन, असहिष्णुता ऊंच नीच का भेदभाव, भ्रष्टाचार, स्वार्थलिप्सा जैसी प्रवृतियां मूल्यों के क्षरण का ही प्रतिफल हैं। इसीलिए आज सर्वत्र इनसे मुक्ति हेतु मूल्यों के विकास की आवश्यकता अनुभव की जाती है। आदर्शवादियों के अनुसार मानव के सम्पूर्ण विकास में मूल्यों की भूमिका महत्वपूर्ण है। उच्च जीवन मूल्य मनुष्य के चरित्र का निर्माण करते हैं। इरिच फ्राम ने कहा है– स्वस्थ मूल्य मानव में पारस्परिक प्रेम करने की क्षमता का विकास करते हैं, सृजनशील कार्यों में प्रवृत करते हैं, मानव में तर्क एवं वस्तुनिष्ठता का विकास करते हैं और स्व का भाव जाग्रत करते हैं। इस प्रकार मूल्य हमारे जीवन का आधार हैं, क्योंकि इनके द्वारा वांछनीय कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त होती है और आन्तरिक द्वन्द्व का समाधान होता है। व्यक्ति में उचित–अनुचित का विवेक उत्पन्न होता है। मूल्यों से ही संयम, त्याग, भ्रातृत्व, सदाचार, पारस्परिक सहयोग जैसे सद्गुण उत्पन्न होते हैं, जो सामाजिक एकता और संगठन को सुदृढ़ करते हैं। अतः मूल्यों का सम्यक् विकास व्यक्ति एवं समाज के विकास के लिए आवश्यक है। वस्तुतः मूल्य परिवर्तनशील समाज की वह धुरी है जिसके कारण समाज का अस्तित्व है। सामाजिक व्यवस्था का आधार होने के साथ ही व्यक्ति की पूर्णता भी मूल्यों पर ही निर्भर है। मूल्यों के कारण ही व्यक्ति में स्वास्थ्य, आस्था, आध्यात्मिक अभिरूचि, मानव एकता एवं विश्व–बन्धुत्व की भावना का समावेश होता है। इस प्रकार मूल्य व्यक्तिगत, सामाजिक एवं वैश्विक व्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण हैं।

1.6 मूल्यों के विकास में परिवार तथा समाज की भूमिका

मूल्यों के सम्बन्ध में सर्वमान्य धारणा है कि मूल्य जन्मजात नहीं होते वरन् इन्हें अर्जित किया जाता है। चूंकि मूल्य जन्मजात नहीं होते, इसलिए उनका अर्जन एवं विकास समाजीकरण की प्रक्रिया है। पारिवारिक, सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण एवं परिवेश व्यक्ति में मूल्यों का विकास करता है। मूल्यों के अर्जन एवं विकास की प्रक्रिया जीवनपर्यन्त चला करती है और इसके विकास में परिवार, समाज और विद्यालय की भूमिका महत्वपूर्ण होती हैं। मूल्यों के विकास में घर तथा समाज की भूमिका को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

1.6.1 मूल्यों के विकास में परिवार की भूमिका

मूल्यों के अर्जन एवं विकास में परिवार की भूमिका प्राथमिक एवं प्रभावी होती है। प्रायः सभी शिक्षाशास्त्री, समाजशास्त्री एवं दार्शनिक यह मानते हैं कि बच्चों में आदतों, गुणों, मूल्यों एवं आदर्शों का विकास परिवार में ही होता है। कमेनियस ने घर को बालकों की सब प्रकार की शिक्षा के केन्द्र माना है। स्पष्ट है कि मूल्यों की शिक्षा भी इसमें सम्मिलित है। पेस्टालॉजी ने घर को अत्यावश्यक शिक्षा संस्था माना है और माता को सच्ची शिक्षा का स्त्रोत । रेमान्ट के अनुसार– घर या परिवार ही वह स्थान है जहां वे महान गुण उत्पन्न होते हैं, जिनकी सामान्य विशेषता सहानुभूति है। घर में ही घनिष्ठ प्रेम की भावनाओं का विकास होता है। बालक यहीं उदारता और अनुदारता, निस्वार्थ और स्वार्थ, न्याय और अन्याय ,सत्य और असत्य, परिश्रम और आलस्य में अन्तर सीखता है। हरविट्ज ने मूल्यों के विकास में माता पिता की भूमिका को मुख्य माना है। उनके अनुसार माता–पिता प्रेम से या क्रोध से किसी न किसी उपाय से बच्चों को आदर्शों के बारे में बताते हैं तथा उसके पालन हेतु प्रोत्साहित करते हैं। बालक सर्वप्रथम मां की गोद में आता है। मां का निस्वार्थ प्रेम और स्नेह वह प्रथम दिन से ही पाता है। माता एवं पिता जाने– अनजाने बालक को अनेक बातों का ज्ञान कराते हैं। माता–पिता के अतिरिक्त परिवार के अन्य सदस्य भाई–बहन चाचा–चाची बाबा–दादी तथा अन्य सगे–सम्बन्धी बालक में गुणों और आदतों का विकास करते हैं। इनके दैनिक क्रियाकलाप, व्यवहार, आदतें और दृष्टिकोण बालक के लिए आदर्श एवं मूल्य बन जाते हैं और वह ज्ञात–अज्ञात इन्हीं मूल्यों एवं आदर्शों को जीवन भर के

लिए ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार बचपन में परिवार द्वारा बालक जो गुण, आदतें, मनोवृतियां ग्रहण करता है, वे आजीवन उस पर प्रभावी रहती हैं। घर एवं परिवार मूल्यों के विकास में निम्नांकित कार्य करते हैं–

- बालक में प्रारम्भिक रूचियों का विकास घर एवं परिवार में होता है। जिन वस्तुओं, कार्यों एवं विचारों के प्रति घर में रूचि या अरूचि प्रदर्शित की जाती है, प्रायः बालक भी उसमें रूचि एवं अरूचि दिखाने लगता है। उदाहरणार्थ घर या परिवार में यदि शाकाहार के प्रति रूचि और मांसाहार के प्रति अरूचि होती है तो बालक की भी रूचि शाकाहार में विकसित हो जाती है। अतः परिवार के सदस्यों को चाहिए कि वे बालकों में अच्छी रूचियों, आदतों, और मनोवृतियों का विकास करें और दूषित रूचियों एवं विकृत आदतों से बचाएं।
- बालक में चारित्रिक विकास एवं नैतिक विकास की नींव घर एवं परिवार में ही पड़ती है। ईमानदारी, सत्यता, दया, प्रेम, सद्भावना आदि मूल्यों एवं गुणों का विकास घर से ही प्रारम्भ होता है। मां का निस्वार्थ प्रेम, भाई बहन का प्रेम और पारस्परिक सद्भावना का बच्चे पर प्रभाव पड़ता है।
- सामाजिक भावनाओं एवं सामाजिक गुणों के विकास में भी घर एवं परिवार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सहयोग, पारस्परिक सद्भाव, सहानुभूति, न्यायशीलता, सद्भावना जैसे सामाजिक मूल्यों का विकास परिवार में ही होता है।
- धार्मिक शिक्षा का मूल्यों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है। बालक धार्मिक आचरण एवं धर्म विशेष में आस्था का पाठ सर्वप्रथम परिवार में ही सीखता है। धार्मिक साहित्य, पूजा विधान, उपासना पद्धति आदि बालक को परिवार में सहज एवं स्वाभाविक रूप से उपलब्ध होता है।

इस प्रकार मूल्यों के विकास में घर एवं परिवार बहुविध योगदान करता है। परिवार के सदस्यों विशेषतः माता–पिता का कर्तव्य है कि अपने आचरण एवं व्यवहार द्वारा बच्चों में अच्छे मूल्यों का विकास करें। इसके लिए आवश्यक है कि वे सदैव नैतिक आचरण प्रस्तुत करें, क्योंकि बच्चा अनुकरण द्वारा मूल्यों को ग्रहण करता है। माता–पिता को चाहिए कि वे परिवार में अच्छे साहित्य एवं मनोरंजन के अच्छे साधनों की व्यवस्था करें और बच्चों को अच्छी कहानियां, गीत एवं व्याख्यान प्रस्तुत करें।

1.6.2 मूल्यों के विकास में समाज की भूमिका

मनुष्य समाज का एक आवश्यक अंग है। मनुष्यों में पारस्परिक सम्बन्धों द्वारा ही समाज का निर्माण होता है। इसीलिए प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैकाइवर ने कहा है– समाज सामाजिक बन्धनों का जाल है। समाज गत्यात्मक है, और उसमें निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। समाज के विविध पक्ष राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आदि मनुष्य के रहन–सहन, आचार–विचार को प्रभावित करते है, जो मूल्य के आधार हैं। मूल्यों के अर्जन एवं विकास में समाज की प्रभावी भूमिका है। मूल्यों की परिभाषा ही समाज द्वारा स्वीकृत मानदण्डों के रूप में की गयी है। समाजीकरण की प्रक्रिया समाज के द्वारा ही होती है। उसी से मनुष्य में सामाजिक गुणों का विकास होता है। समाज मूल्यों के विकास में अनेक प्रकार से योगदान करता है। कुछ योगदान इस प्रकार हैं–

- समाज एक गत्यात्मक एवं निरन्तर चलने वाली संस्था है, इसलिए समाज मूल्यों, परम्पराओं, आदर्शों एवं रीति रिवाजों आदि का संरक्षण एवं पीढ़ी दर पीढी स्थानान्तरण करता है।
- समाज कुछ मानक एवं मानदण्ड निश्चित करता है जो उचित एवं अनुचित का निर्णय करते हैं। समाज ही नैतिक मूल्य एवं आदर्श निश्चित करता है। सहयोग, सहिष्णुता, संयम, कर्तव्यपरायता आदि मूल्यों का विकास समाज के प्रोत्साहन से ही होता है।
- समाज ही बालक को आर्थिक साधन एवं व्यावसायिक उपक्रम उपलब्ध कराता है और आत्मनिर्भर होने का अवसर देता है। इस प्रकार आत्मनिर्भरता एवं स्वावलम्बन के मूल्यों को समाज पुष्ट करता है।

- समाज बालक को अपनी भावनाओं, योग्यताओं, विचारधाराओं की अभिव्यक्ति का अवसर प्रदान करता है। समाज ही स्वतंत्र भाव अभिव्यक्ति, स्वतंत्र चिन्तन, स्वतंत्र कार्य के अवसर देकर व्यक्तित्व के विकास में सहायता प्रदान करता है। यही समाज अपनी नियंत्रण प्रणाली– सामाजिक नियंत्रण द्वारा आचरण एवं व्यवहार को मर्यादित करता है। वह व्यक्ति के लिए कुछ वर्जनाएं एवं प्रतिबन्ध भी लगाता है, जो मूल्यों के लिए परमावश्यक हैं।
- समाज शिक्षा संस्थाओं की स्थापना, शिक्षकों की व्यवस्था आदि के माध्यम से भी मूल्यों के अर्जन एवं विकास में सहायता देता है। फ्रेंकलिन के अनुसार समाज शिक्षा संस्थाओं को अपने सदस्यों में ज्ञान, कौशल, आदर्शों, मूल्यों तथा आदतों का प्रसार करने एवं सुरक्षित रखने के लिए स्थापित करता है।
- समाज लोक मर्यादा, सांस्कृतिक गतिविधियों एवं विविध कलाओं तथा क्रियाओं द्वारा सांस्कृतिक मूल्यों एवं सौन्दर्य मूल्यों को विकसित करता है। संगीत कला, नृत्य कला, चित्रकला आदि मानव में कला पक्ष का विकास करती है जो व्यक्ति की सौन्दर्यानुभूति, स्वच्छता, सफाई, पहनावा, गृह एवं उद्यान सज्जा आदि से प्रकट होती है। समाज इन सबके लिए पर्याप्त अवसर देता है।
- समाज धार्मिक संस्थाओं की स्थापना एवं विकास द्वारा नैतिक आचरण एवं धार्मिक कृत्यों को विकसित कर नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना में सहयोग करता है।
- समाज ही राष्ट्रीय मूल्यों, अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावनाओं आदि के विकास द्वारा मानवीय मूल्यों का विकास करता है।

इस प्रकार समाज मूल्यों के निर्धारण एवं विकास में महत्वपूर्ण योगदान करता है। समाज अपनी विविध सांस्कृतिक, धार्मिक, शैक्षिक गतिविधियों के सम्यक् सम्पादन द्वारा मूल्यों के विकास में सकारात्मक भूमिका का निर्वहन कर सकता है।

2. मूल्यशिक्षा : प्रत्यय

वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास, शिक्षा प्रणाली की संरचना, औद्योगिक सभ्यता के उदय एवं उपभोक्तावादी संस्कृति के विकास से मानव के जीवन दर्शन, जीवन शैली एवं दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप व्यक्ति में लालच, संकीर्णता, स्वार्थपरता, संवेदनहीनता एवं विलासिता की वृद्वि हुई और व्यक्ति एवं समाज का नैतिक पतन हुआ। समाज के नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक प्रत्येक क्षेत्र में मूल्यों का ह्रास एवं क्षरण हुआ है। चूंकि शिक्षा समाज का एक अंग है, इसलिए शिक्षा में भी मूल्यों का ह्रास स्पष्टतः देखा जा सकता है। अनुशासनहीनता, कर्तव्यविमुखता, अनुत्तरदायित्व, श्रम से विमुखता आदि विकृतियां शिक्षा जगत के सामान्य लक्षण बन गये। सर्वत्र मूल्यों के क्षरण एवं ह्रास ने विश्व के समक्ष अनेक नवीन संकट उत्पन्न कर दिये हैं। मूल्यों के विकास में शिक्षा की सकारात्मक भूमिका है। इसीलिए सभी देशों में शिक्षा को मूल्य आधारित बनाने के प्रयास चल रहे हैं। शिक्षा जगत से जुड़े अभिभावकों, अध्यापको, नीति–निर्माताओं एवं समाज–सुधारकों ने मूल्यों की पुनर्स्थापना हेतु शिक्षा में प्रभावशाली परिवर्तन हेतु मूल्य शिक्षा की अवधारणा प्रस्तुत की। शिक्षा पर गठित आयोगों, समितियों, एवं कार्यदलों ने स्वीकार किया कि समाज को मूल्यों से समृद्ध करने एवं समाज का नैतिक विकास करने हेतु मूल्य शिक्षा आवश्यक है। नयी शिक्षा नीति, 1986 के लिए गठित समिति के लिए जारी दृष्टिकोण पत्र 'शिक्षा की चुनौती–नीति सम्बन्धी परिप्रेक्ष्य' में कहा गया है– सभी प्रकार के चिन्तनशील लोग मूल्यों में तेजी से हो रहे ह्रास तथा उसके परिणामस्वरूप सार्वजनिक जीवन में व्याप्त प्रदूषण से बहुत विक्षुब्ध हैं। वास्तव में, मूल्यों की यह संकटग्रस्त स्थिति जिस प्रकार जीवन के अन्य अंगों में व्याप्त है, उसी प्रकार स्कूलों, तथा विश्वविद्यालय के छात्रों तथा शिक्षकों में व्याप्त है। इसे एक खतरनाक विकास के रूप में माना जाता है। अतः यह आग्रह किया जाता है कि शिक्षा की प्रक्रिया का पुनः

अभिविन्यास किया जाए तथा युवकों को इस बात की पुनः अनुभूति करायी जाए कि इस प्रकार न तो शोषण, असुरक्षा तथा हिंसा को रोका जा सकता है और न ही किसी संगठित समाज को सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक मानदण्डों को स्वीकार किये बिना और पालन किये बिना बनाये रखा जा सकता है। पिछले अनुभव से यह सीखते हुए आशा की जाती है कि सुसंगत तथा व्यवहार मूल्य प्रणाली को ऐसी प्रक्रियाओं के माध्यम से लागू किया जाए जो जीवन के प्रति तर्कसंगत, वैज्ञानिक तथा नैतिक दृष्टिकोण पर आधारित हो।

2.1 मूल्य शिक्षा का प्रत्यय

विश्व में सर्वत्र मूल्यों के क्षरण से चिन्तित शिक्षाशास्त्रियों ने मूल्यों को पुनःप्रतिष्ठित करने के लिए शिक्षा को सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम माना है। इसी चिन्तन धारा ने शिक्षा में मूल्यों के समावेश की आवश्यकता समझी ओर तद्नुसार प्रयास प्रारम्भ किये। इस अवधारणा को मूल्य शिक्षा या मूल्योन्मुखी या मूल्यपरक शिक्षा का नाम दिया गया। मूल्य शिक्षा का अभिप्राय ऐसी शिक्षा से है जिसमें मूल्यों पर बल दिया जाता है। इसके अन्तर्गत शिक्षा प्रणाली का संगठन इस प्रकार किया जाता है कि उसके सभी अंग यथा उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधियां आदि मूल्यों के संवर्द्धन में योगदान कर सकें। इसमें विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रमों को मूल्योन्मुखी बनाकर छात्रों को मूल्यों की शिक्षा दी जाती है। शिक्षण विधि को इस प्रकार संयोजित किया जाता है कि छात्रों के व्यक्तित्व, व्यवहार एवं आचरण में मूल्यों को समाहित किया जा सके। शिक्षा के उद्देश्य इस प्रकार निर्धारित किये जाते हैं कि छात्रों में मूल्यों का विकास हो सके और वे मूल्य आधारित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना में सहायक हो सकें।

मूल्य शिक्षा व्यक्ति को इस प्रकार विकसित करती है कि वह चिन्तन, अनुभूति और क्रियात्मकता से उचित एवं नैतिक बन सके अर्थात् उसका चिन्तन, अनुभूति और कार्य सही दिशा में विकसित हों। मूल्य शिक्षा समाज एवं राष्ट्र को ऐसे नागरिक उपलब्ध कराती है जो नैतिक मूल्यों, मानवीय गुणों, सेवा, सहिष्णुता, संयम श्रम के प्रति निष्ठा, पर्यावरण के प्रति संवेदनशील जैसे गुणों से युक्त हो और राष्ट्र की अपेक्षाओं के अनुरूप आचरण करने के लिए तत्पर हों और विश्व समुदाय के प्रति भी उत्तरदायी हों।

यूनेस्को द्वारा शिक्षा पर गठित आयोग ने अपनी रिपोर्ट 'लर्निंग द ट्रेजर विद इन' में शिक्षा के नवीन स्तम्भ 'सीखना चाहिए' पर बल दिया है। आयोग के अनुसार शिक्षा को ज्ञान अभियोग्यता और आर्थिक सम्भावनाओं के विकास का साधन मात्र न होकर सम्पूर्ण व्यक्ति के विकास पर बल देना चाहिए। इस प्रकार मूल्य शिक्षा की अवधारणा बालक को ज्ञान की शिक्षा, कार्य की शिक्षा, साथ–साथ रहने की शिक्षा और 'जैसा होना चाहिए' से सम्बन्धित है। यह एक व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास पर बल देती है। अर्थात् सामाजिक आर्थिक एवं नैतिक विकास को शिक्षा का लक्ष्य मानती है। यह मूल्य आधारित समाज की संरचना का मार्ग प्रशस्त करती है।

2.2 मूल्य शिक्षा प्रत्यय की मुख्य विशेषताएं

मूल्य शिक्षा के प्रत्यय को स्पष्ट रूप से समझने के लिए निम्नलिखित बातें महत्वपूर्ण हैं। इनको समझने के पश्चात् ही मूल्य शिक्षा का प्रत्यय स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। ये विशेषताएं हैं–

- मूल्य शिक्षा एक उच्चस्तरीय अवधारणा है। इसका अर्थ और क्षेत्र मूल्य और शिक्षा के विचार पर आधारित है।
- मूल्य शिक्षा शिक्षा की एक अनिवार्यतः प्रक्रिया है। यह विश्वास, अभिवृत्तियों और मूल्यों की शिक्षा है जो बालक को सही दिशा में प्रेरित करती है। यह मात्र मूल्यों का व्याख्यान नहीं है, वरन् यह विचार और क्रियात्मकता दोनों का प्रशिक्षण है।

- मूल्य शिक्षा बालक के व्यक्तित्व के विकास की शिक्षा है। यह व्यक्तित्व के तीनों पक्षों–ज्ञान, अनुभूति और क्रियात्मकता को समाहित करती है। मूल्य शिक्षा के फलस्वरूप बालक सम्यक् चिन्तन के प्रति सचेत होता है, उपयुक्त मूल्यों को आत्मसात् करता है और उन्हें जीवन में लागू करता है।
- मूल्य शिक्षा मात्र धार्मिक शिक्षा नहीं है, वरन् इससे भिन्न है। यह केवल चरित्र निर्माण का प्रशिक्षण नहीं है, वरन् यह इसका एक पक्ष मात्र है। इसी प्रकार यह मात्र सामाजिक समायोजन की शिक्षा नहीं है, वरन् क्या होना चाहिए की शिक्षा है।
- मूल्य शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना है। इसका उद्देश्य चिन्तन, अनुभूति और क्रिया को सही दिशा प्रदान करना, उत्तरदायी नागरिक तैयार करना, लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता एवं समतायुक्त समाज की स्थापना, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास करना, तथा नैतिक समाज की स्थापना करना है।
- मूल्य शिक्षा को प्रदान करने में विद्यालयों और शिक्षा तंत्र की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, किन्तु इसे मूल्य शिक्षा का एकमात्र अभिकरण नहीं माना जाता। मूल्यों का विकास विद्यालय के अतिरिक्त घर, संचार माध्यमों और समाज द्वारा भी किया जा सकता है।
- मूल्य शिक्षा में शिक्षकों की महत्वपूर्ण भूमिका है। शिक्षक का आचरण बालक में मूल्यों के विकास में प्रभावशाली भूमिका अदा करता है।

2.3 मूल्यपरक शिक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मूल्य शिक्षा का प्रत्यय अपेक्षाकृत नवीन एवं व्यापक प्रत्यय है। इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि या परम्परागत अवधारणा नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा से सम्बद्ध है। भारत में प्राचीन काल से ही शिक्षा को धार्मिक एवं नैतिक आधार पर संगठित करने पर बल दिया जाता रहा है। डॉ. आल्टेकर के अनुसार प्राचीन भारतीय शिक्षा के मुख्य उद्देश्यों एवं आदर्शों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है– ईश्वर भक्ति एवं धार्मिकता का समावेश, चरित्र का निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक एवं सामाजिक कर्तव्य पालन की भावना का समावेश, सामाजिक कुशलता की उन्नति और राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण एवं प्रसार। स्पष्ट है कि प्राचीन काल में शिक्षा मूल्य आधारित थी। बौद्धकालीन शिक्षा भी अहिंसा, प्रेम बन्धुत्व और वसुधैव कुटुम्बकम् के आदर्श से अनुप्राणित थी। मध्यकालीन शिक्षा में भी धार्मिक शिक्षा को महत्व प्राप्त था। अतएव अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारतीय शिक्षा मूल्यपरक थी। इस कारण पृथक रूप से मूल्यों की शिक्षा देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। अंग्रेजों ने अपनी आवश्यकतानुसार भारतीयों के लिए नवीन शिक्षा की व्यवस्था की। इसके माध्यम से उन्होंने भारतीयों को तो शरीर से भारतीय बनाये रखा परन्तु उनको मन, मस्तिष्क तथा व्यवहार से अंग्रेज बना दिया। इस परिस्थिति ने भारतीयों में पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण का भूत सवार कर दिया । साथ ही उनमें पार्थिव मूल्यों के प्रति अप्रत्याशित मोह, अनीश्वरवाद, आधुनिकता को जन्म दिया। इन तथ्यों ने मानव मूल्यों के ह्रास के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी जिसके फलस्वरूप मूल्यों की शिक्षा की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। 1929 में हर्टाग समिति ने इस बात की आवश्यकता अनुभव की कि विद्यालयों में धार्मिक निर्देशों की शिक्षा दी जानी चाहिए। 1937 में महात्मा गांधी ने वर्धा में प्रथम भारतीय शिक्षा सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन ने शिक्षा में मानवीय मूल्यों की शिक्षा को स्वीकार किया। डॉ. जाकिर हुसैन समिति ने भी इस बात की आवश्यकता अनुभव की कि शिक्षा का पाठ्यक्रम ऐसा बनाया जाए जो छात्रों में आदर्श नागरिकता, शारीरिक श्रम के प्रति सम्मान, सामुदायिक कार्यों में सहभागिता आदि गुणों को विकसित कर सके। जनवरी, 1944 में केन्द्रिय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने लाहौर के बिशप बार्ने की अध्यक्षता में धार्मिक शिक्षा समिति की नियुक्ति की, और इससे शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा दिये जाने के सम्बन्ध में सुझाव मांगे। इस समिति ने अपनी 1946 की रिपोर्ट में धार्मिक और नैतिक शिक्षा की विषय सामग्री के सम्बन्ध में निम्नांकित सुझाव दिए–

- शिक्षा की प्रत्येक योजना में जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को स्थान दिया जाए।
- सब धर्मों के सामान्य नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों को पाठ्यक्रम का अभिन्न अंग बनाया जाए।
- सब धर्मों की सम्मति से उनके सामान्य नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों का शैक्षिक कार्यक्रम तैयार किया जाए।

1948 में डॉ. राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में नियुक्त किये विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने धार्मिक और नैतिक शिक्षा की विषय वस्तु के बारे में अघोलिखित सुझाव दिए –

1. **विद्यालय स्तर–** विद्यालय स्तर, विशेष रूप से माध्यमिक स्तर के लिए आयोग के सुझाव निम्नलिखित हैं–
   - छात्रों को श्रेष्ठ नैतिक और धार्मिक सिद्धान्तों को व्यक्त करने वाली कहानियां पढ़ाई जायें।
   - छात्रों को महान् व्यक्तियों की जीवनियां पढाई जायें।
   - जीवननियों में महान् व्यक्तियों के उच्च विचारों और श्रेष्ठ भावनाओं का समावेश किया जाए।
2. **विश्वविद्यालय स्तर–** विश्वविद्यालय स्तर के लिए आयोग के सुझाव इस प्रकार थे–
   - डिग्री कोर्स के प्रथम वर्ष में बुद्ध, कन्फ्यूसियस , जोरोस्टर, सुकरात, ईसा, शंकर, रामानुज, माधव, मोहम्मद, कबीर, नानक, गांधी आदि महान् धार्मिक नेताओं की जीवनियां पढ़ाई जायें।
   - द्वितीय वर्ष में संसार के धार्मिक ग्रन्थों में से सार्वभौमिक महत्त्व के चुने हुए भागों को पढ़ाया जाय।
   - तृतीय वर्ष में धर्म दर्शन की मुख्य समस्याओं का अध्ययन किया जाए।

भारतीय संविधान में भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया जिसके अनुसार भारत का कोई धर्म नहीं होगा और धर्म के आधार पर उनमें कोई भेद भाव नहीं किया जायेगा। राज्य उनकी धार्मिक स्वतंत्रता में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। भारत सरकार ने अगस्त, 1959 में श्री श्रीप्रकाश की अध्यक्षता में धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने जनवरी, 1960 में अपनी रिपोर्ट सरकार के समझ प्रस्तुत की, और उसमें धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की विषय सामग्री के सम्बन्ध में निम्नांकित विचार व्यक्त किये–

1. शिक्षा के सब स्तर– प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक– के लिए समिति के सुझाव इस प्रकार थे–
   - छात्रों को सब धर्मों के आधारभूत विचारों की शिक्षा तुलनात्मक विधि से दी जाए।
   - छात्रों को महान् धार्मिक नेताओं की जीवनियों और शिक्षाओं के सार से अवगत कराया जाए।
   - जैसे–जैसे छात्रों का मानसिक विकास होता जाए, वैसे–वैसे उनको नैतिक, दार्शनिक और अध्यात्मवादी सिद्धान्तों से परिचित कराया जाए।
   - प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक के लिए उपयुक्त धार्मिक और नैतिक पुस्तकें तैयार कराई जायें।
2. प्राथमिक स्तर– प्राथमिक स्तर के लिए समिति के सुझाव इस प्रकार थे–
   - छात्रों में सेवा की भावना का विकास किया जाए।
   - छात्रों को प्रति सप्ताह दो घण्टे नैतिक शिक्षा प्रदान की जाए।
   - छात्रों को सन्तों और वर्ण प्रवर्तकों के जीवन और उपदेशों से सम्बन्धित सरल और रोचक कहानियां पढ़ाई जाये।
   - छात्रों के समक्ष मुख्य धर्मों से सम्बन्धित कला और स्थापत्य कला की वस्तुओं को श्रव्य–दृश्य सामग्री के रूप में प्रस्तुत किया जाए।
3. माध्यमिक स्तर – माध्यमिक स्तर के लिए समिति के सुझाव निम्नलिखित थे–

- छात्रों को संसार के महान् धर्मों के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की शिक्षा दी जाए।
- छुट्टियों और विद्यालय की पढ़ाई के बाद अतिरिक्त पाठ्यक्रम क्रियाओं के रूप में समाज सेवा दलों द्वारा छात्रों में समाज सेवा की भावना का विकास किया जाए।

4 विश्वविद्यालय स्तर – विश्वविद्यालय स्तर के लिए समिति के सुझाव इस प्रकार हैं–

- डिग्री कोर्स में सामान्य शिक्षा के पाठ्यक्रम में विभिन्न धर्मों के सामान्य अध्ययन को अनिवार्य अंग बनाया जाए।
- डिग्री कोर्स के प्रथम और द्वितीय वर्षों में धर्म और पवित्र ग्रन्थों को पढाया जाए।
- स्नातकोत्तर कोर्स में धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए।

1964 में प्रोफेसर डी.एस. कोठारी की अध्यक्षता में नियुक्त किये जाने वाले शिक्षा आयोग ने धार्मिक और नैतिक शिक्षा की विषय सामग्री के सम्बन्ध में अधोलिखित विचार व्यक्त किये–

1. विद्यालय स्तर – विद्यालय स्तर के लिए आयोग के सुझाव इस प्रकार थे–
   - छात्रों को आधारभूत नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा दी जाय। यथा– सत्यता, ईमानदारी, सामाजिक उत्तरदायित्व, पशुओं पर दया, वयोवृद्ध लोगों के प्रति सम्मान, दुखी और दरिद्रों के प्रति सहानुभूति इत्यादि।
   - उक्त मूल्यों को विद्यालय के कार्यक्रमों का अभिन्न अंग बनाया जाए।
   - उक्त मूल्यों की शिक्षा देने के लिए समय तालिका में प्रति सप्ताह कुछ घण्टे निर्धारित किये जायें।
   - विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में संसार के सब धर्मों को उचित स्थान दिया जाए।
   - सम्पूर्ण देश के लिए समान पाठ्यक्रम की समान पुस्तक को राष्ट्रीय स्तर पर धर्म के विद्वानों द्वारा तैयार करवाया जाए।
   - प्राथमिक स्तर पर भारत और संसार के महान् धर्मों में चुनी गई रोचक कहानियों द्वारा आधारभूत मूल्यों और जीवन समस्याओं की शिक्षा दी जाय।
   - माध्यमिक स्तर पर उक्त मूल्यों और समस्याओं पर शिक्षक और छात्रों द्वारा विचार विमर्श किया जाए।
   - माध्यमिक स्तर की उच्च कक्षाओं में महान् धार्मिक और आध्यात्मिक नेताओं की कहानियां पढ़ाई जायें।
   - माध्यमिक विद्यालयों में अन्तिम दो वर्षों में छात्रों द्वारा विश्व के महान् धर्मों के प्रमुख सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाए।
2. विश्वविद्यालय स्तर – विश्वविद्यालय स्तर के लिए आयोग के सुझाव इस प्रकार हैं–
   - छात्रों को व्यक्ति के सम्मान, समानता, सामाजिक न्याय, कल्याणकारी राज्य आदि की शिक्षा दी जाए।
   - छात्रों में नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों का विकास करने के लिए भारत के अन्य देशों की संस्कृतियों से सामग्री का संकलन किया जाए।
   - प्रथम डिग्री कोर्स के पाठ्यक्रम में संसार के विभिन्न धर्मों के सामान्य अध्ययन को स्थान दिया जाए।
   - डिग्री कोर्स के प्रथम वर्ष में महान् धार्मिक नेताओं की जीवनियां पढ़ाई जाए।
   - उक्त कोर्स के द्वितीय वर्ष में संसार के धार्मिक ग्रन्थों में से सार्वभौमिक महत्व के चुने हुए भागों को पढाया जाए।

- उक्त कोर्स के तृतीय वर्ष में धर्म दर्शन की मुख्य समस्याओं का अध्ययन किया जाए।
- विश्वविद्यालय के तुलनात्मक धर्म विभागों द्वारा उपयुक्त धार्मिक और नैतिक साहित्य तैयार किया जाए।

1970 में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद ने एक संगोष्ठी का आयोजन किया जिसमें मूल्यों की शिक्षा की आवश्यकता अनुभव की गई। इस गोष्ठी में निम्नलिखित मूल्यों के विकास पर बल दिया गया–

1. श्रम का महत्व
2. समाजिक जागरूकता व उत्तर दायित्व की भावना का विकास
3. दूसरे धर्मों के प्रति आदर भावना
4. निर्भयता
5. सत्यवादिता
6. पवित्रता
7. सेवा
8. अहिंसा

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद ने एक छोटी सी पुस्तिका प्रकाशित की जिसमें शासकीय स्तर पर वेल्यू शब्द का प्रयोग किया गया परन्तु इसमें सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की चर्चा न होकर नैतिक शिक्षा की चर्चा है। इसमें तिरासी मूल्यों की एक सूची भी दी गई है। विभिन्न शिक्षा समितियों एवं आयोगों के प्रतिवेदनों में मूल्यपरक शिक्षा शब्द प्रयुक्त नहीं किया गया। यह तथ्य इस बात का द्योतक है कि मूल्यपरक शिक्षा की अवधारणा अपेक्षाकृत नवीन है। इन प्रतिवेदनों में नैतिक शिक्षा, धार्मिक शिक्षा, शब्दों का प्रयोग हुआ है जो कि अंग्रेजी के शब्दों का सरल एवं सीधा अनुवाद हैं। 1982 ई. में शिमला में नैतिक शिक्षा पर उच्च स्तरीय परिचर्चा हुई। इसमें मूल्यपरक शिक्षा के बारे में निम्नलिखित महत्वपूर्ण सिफारिशें की गईं–

1. मूल्यपरक शिक्षाा का प्रावधान पूरे देश में किया जाना चाहिए।
2. मूल्यपरक शिक्षा हमारी शिक्षण प्रक्रिया का केन्द्र बिन्दु होना चाहिए।
3. मूल्यपरक शिक्षा केवल विद्यालय जाने वाले छात्र एवं छात्राओं के लिए ही नहीं होनी चाहिए वरन् निरौपचारिक शिक्षा केन्द्रों के माध्यम से शाला के बाहर के बच्चों के लिए भी होनी चाहिए।
4. मूल्यपरक शिक्षा से अभिभावकों को सम्बद्ध किया जाना चाहिए।
5. मूल्यपरक शिक्षा के कार्यक्रमों में समूचे समाज को जोड़ा जाना चाहिए।
6. पाठ्यक्रम, शिक्षण प्रविधियों आदि को इस प्रकार आयोजित किया जाए, जिससे बच्चों में वांछित मूल्यों का विकास सहज ढंग से हो सके।
7. मूल्यपरक शिक्षा का दायित्व सभी शिक्षकों पर डाला जाना चाहिए।
8. मूल्यपरक शिक्षा से सम्बन्धित मुद्रित सामग्री के अतिरिक्त वांछित मूल्यों से सम्बन्धित फिल्में तैयार करायी जानी चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूल्यपरक शिक्षा की अवधारणा अपेक्षाकृत आधुनिक एवं व्यापक है। परम्परागत रूप में प्रचलित धार्मिक शिक्षा, नैतिक शिक्षा आदि से यह भिन्न है। यह अमुक कार्य करो तथा अमुक कार्य मत करो की व्यवस्था नहीं है। यह वह आस्था या विश्वास है कि कुछ कार्य निश्चित रूप से निरपेक्षतः अच्छे हैं और कुछ कार्य पूर्णतः या निरपेक्षतः बुरे हैं। इसमें कार्यों के पीछे निहित सद्गुणों पर बल दिया जाता है। यह औचित्य के लिए शिक्षा है। सामान्यतः मूल्यपरक शिक्षा से अभिप्राय उस शिक्षा से है जिसमें हमारे

नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक मूल्य समाहित हों। इसमें विभिन्न विषयों को मूल्यपरक बनाकर उनके माध्यम से विभिन्न मूल्यों को छात्रों के व्यक्तित्व में समाहित करने पर बल दिया जाता है जिससे उनका सन्तुलित एवं सर्वतोन्मुखी विकास हो सके।

वेल्यू एजूकेशन को दो अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है, यथा–

- मूल्यों की शिक्षा
- मूल्यसमाहित या मूल्यपरक शिक्षा

मूल्यों की शिक्षा के अन्तर्गत हम नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक मूल्यों आदि की शिक्षा इतिहास, भूगोल, गणित, रसानशास्त्र भौतिकशास्त्र आदि विषयों की शिक्षा की भांति एक स्वतंत्र विषय के रूप में देना चाहते हैं। मूल्यपरक शिक्षा में सभी विषयों में मनोवैज्ञानिक ढंग से मूल्य समाहित करके निर्धारित मूल्यों के विकास पर बल दिया जाता है। इसमें एकीकृत उपागम पर बल दिया जाता है। वर्तमान भारतीय सन्दर्भ में वेल्यू एजूकेशन को दूसरे अर्थ में स्वीकार किया जाना चाहिये।

2.4 मूल्यपरक शिक्षा की विषय वस्तु

मूल्यपरक शिक्षा में समाहित मूल्यों या उसकी विषय वस्तु को निम्नांकित वर्गों में विभक्त किया जा सकता हैं–

- शास्त्रीय मूल्य– शिक्षण में नियमितता एवं निष्ठा, मूल्यांकन में निष्पक्षता, अनुसन्धान एवं प्रकाशन में ईमानदारी एवं सत्यनिष्ठा, स्वस्थ प्रतियोगिता, एवं वस्तुनिष्ठाता, सृजनशीलता आदि।
- नैतिक मूल्य– सच्चाई, सत्यनिष्ठा, उत्तरदायित्व की भावना, दूसरों के प्रति दया भाव आदि।
- सामाजिक राजनीतिक मूल्य– राष्ट्रीय एकता एवं अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना, सामाजिक दायित्व एवं नागरिकता, लोकतंत्र एवं मानवतावाद आदि।
- वैज्ञानिक स्वभाव– वस्तुनिष्ठता, विवेक, तथ्याधारित खोज उपागम, सृजनात्मक चिन्तन, जिज्ञासा समस्या समाधान उपागम आदि।
- संवैधानिक मूल्य– न्याय, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक समानता, भ्रातृत्व, एकता, धर्मनिरपेक्षता आदि।
- वैश्विक मूल्य– वैश्विक शान्ति, समस्त के लिए स्वतंत्रता एवं न्याय, पूर्ण निःशस्त्रीकरण, सभी प्रकार की दासता की समाप्ति आदि।
- पर्यावरणीय मूल्य– प्राकृतिक पर्यावरण का संरक्षण, पर्यावरणीय सजगता आदि।
- सांस्कृतिक मूल्य– सांस्कृतिक एकता, दूसरी संस्कृतियों को सम्मान, संस्कृति की सुरक्षा आदि।

उक्त मूल्य तथा राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंन्धान परिषद् द्वारा निर्धारित तिरासी मूल्यों को निम्नांकित छः समूहों में वर्गीकृत किया गया है, जिनके विकास पर मूल्यपरक शिक्षा में बल दिया जाना चाहिये–

- साधुता या न्यायप्रियता– स्वच्छता, सत्यनिष्ठा, सामान्य कल्याण, सहयोग, साहस, अनुशासन, धैर्य, मित्रता, स्वामिभक्ति, शिष्टाचार, न्याय, आज्ञापालन, समय का सदुपयोग, पवित्रता, ज्ञान पिपासा, सादाजीवन, स्व सहानुभूति, सत्य और असत्य तथा अच्छाई एवं बुराई में भेद करने की भावना, सहिष्णुता, सच्चाई आदि।
- स्वानुशासन– आत्म नियन्त्रण, समयबद्धता, नियमितता, ईमानदारी, भक्ति या निष्ठा, सत्यनिष्ठा, शुभचिन्ता, साधन सम्पन्नता, जिज्ञासा, खोज प्रवृति, भावी दृष्टिकोण आदि।

- भिन्न भाव– सहायता, दूसरों को सम्मान एवं आदर, टीम कार्य, टीम भावना, दूसरों का हित चिन्तन आदि।
- मानवतावाद– व्यक्ति की गरिमा, शारीरिक श्रम को आदर, सौजन्यता, समाज सेवा मानवता की सुदृढता, सामाजिक दायित्व की भावना, खोज प्रवृति, टीम भावना आदि।
- लोकतन्त्रीय भावना– नागरिकता, समानता, स्वतंत्रता, नेतृत्व, राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय सजगता, देशभक्ति, सामाजिक न्याय, समाजवाद, राष्ट्रीय तथा नागरिक सम्पति का महत्व, लोकतांत्रिक निर्णयन आदि।
- अहिंसा– सांस्कृतिक मूल्यों की सराहना, छुआ–छुत की समाप्ति, जीवों पर दया, धर्मनिरपेक्षता तथा समस्त धर्मों का सम्मान, सार्वभौमिक मूल्यों में निष्ठा, सत्य, प्रेम, सुन्दर तथा शिव।

2.5 मूल्यपरक शिक्षा के मार्गदर्शक सिद्धान्त

मूल्यपरक शिक्षा के सन्दर्भ में निम्नलिखित मार्गदर्शक सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहिए–

- मूल्यपरक शिक्षा धार्मिक शिक्षा से भिन्न है अतः इसमें धर्म विशेष पर वांछित बल नहीं दिया जाना चाहिए।
- इसको स्वतंत्र विषय के रूप में पाठ्यक्रम में स्थान प्रदान नहीं किया जाना चाहिए। विभिन्न विषयों में इसके लिए मूल्यों को समाहित किया जाए।
- संविधान में निर्देशित मूल्य एवं सामाजिक उत्तरदायित्व मूल्यपरक शिक्षा के केन्द्र बिन्दु होने चाहिए।
- मूल्यपरक शिक्षा को समाज की आर्थिक सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में क्रियान्वित किया जाना चाहिए।
- मूल्यपरक शिक्षा के कार्यक्रम की सफलता विद्यालय के आदर्श वातावरण तथा शिक्षक के आधार पर होनी चाहिए।

2.6 मूल्यपरक शिक्षा के उद्देश्य

मूल्य शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण एक कठिन कार्य है, क्योंकि मूल्य शिक्षा मूल्यों से सम्बन्धित है और मूल्य शब्द का अर्थ स्वयं में एक विवादित प्रश्न है। मूल्यों के सम्बन्ध में राजनेता, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्री सभी अलग अलग दृष्टिकोण रखते हैं। प्राचीन समय में भारतीय शिक्षा का उद्देश्य धर्म एवं दर्शन पर आधारित था। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ही शिक्षा का लक्ष्य था। उस समय शिक्षा धर्मोन्मुखी था। वर्तमान सन्दर्भ में मूल्य शिक्षा की अवधारणा के साथ शिक्षा का उद्देश्य नैतिकता एवं चरित्र निर्माण हो गया। एशियाई देशों में नैतिक शिक्षा पर गठित संयुक्त अध्ययन दल के प्रतिवेदन में मूल्य शिक्षा में निम्नांकित उद्देश्यों को स्वीकार किया गया।–

- व्यक्तित्व का पूर्ण विकास जिसमें शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक एवं आध्यात्मिक विकास सम्मिलित हैं।
- अच्छी आदतों के साथ उत्तरदायी एवं सहयोगपूर्ण नागरिकता के गुणों का विकास करना।
- बालक में व्यक्ति एवं समाज की गरिमा के प्रति सम्मान की भावना का विकास करना।
- बालकों में लोकतांत्रिक सोच एवं जीवन शैली का विकास करना।
- समस्त धर्मों के प्रति उचित दृष्टिकोण एवं सम्मान की भावना का विकास करना।
- देशभक्ति एवं राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास करना।

- विश्वनियन्ता आधिभौतिक सर्वोच्च सता की शक्ति एवं व्यवस्था के प्रति आस्था एवं विश्वास जाग्रत करना।
- सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भाईचारे की भावना का विकास करना।
- नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर उचित निर्णय लेने की क्षमता का विकास करना।

सामान्यतः मूल्यपरक शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य होने चाहिए–

- छात्रों में सहयोग, प्रेम एवं करूणा, शान्ति एवं अहिंसा, साहस, समानता, बन्धुत्व, श्रम–गरिमा, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, विभेदीकरण की शक्ति आदि मौलिक गुणों का विकास करना।
- छात्रों को एक उत्तरदायी नागरिक बनने के लिए प्रशिक्षित करना।
- राष्ट्रीय लक्ष्यों– समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता, राष्ट्रीय एकता, लोकतंत्र का सही ढंग से बोध कराना।
- देश की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के सम्बन्ध में उन्हें जागरूक बनाना। साथ ही उन्हें उनमें वांछित सुधार लाने के लिए प्रोत्साहित करना।

1. निम्नलिखित के प्रति उनमें समुचित दृष्टिकोण विकसित करना–
   - स्वयं एवं अपने साथियों के प्रति।
   - स्वदेश के प्रति।
   - मानवता के प्रति।
   - सभी धर्मों एवं संस्कृतियों के प्रति।
   - जीवन एवं पर्यावरण के प्रति।
   - छात्रों को स्वयं को जानने के लिए प्रोत्साहित करना जिससे वे स्वयं में आस्था रखने में समर्थ हो सकें।

मूल्यपरक शिक्षा पर कार्यकारी दल ने मूल्य शिक्षा के चार आयामों पर बल दिया है। ये आयाम हैं– शारीरिक विकास, मानसिक एवं संवेदनात्मक विकास, सौन्दर्यात्मक विकास तथा नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास। दल के अनुसार मूल्य शिक्षा जिन नैतिक व आध्यात्मिक गुणों का विकास करती है, वे हैं– निष्ठा, विश्वास, विश्वसनीयता, आज्ञापालन, कृतज्ञता, ईमानदारी, अहिंसा, प्रसन्नता एवं सुख–दुख में धैर्यशीलता। कुछ देशों में मूल्य शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक, आर्थिक पुनर्निर्माण तथा समतापूर्ण समाज की स्थापना माना गया है। मूल्य शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य नवीनता एवं प्राचीनता के बीच संघर्ष से उत्पन्न तनाव को कम करना निर्धारित किया गया है। इसी प्रकार मूल्य शिक्षा का उद्देश्य छात्रों को इस प्रकार तैयार करना है कि वे आधुनिक कौशल तथा नवीनताओं को ग्रहण कर जीवन स्तर में सुधार ला सकें और अपनी परम्परागत विरासत और मूल्यों के प्रति आस्था बनाये रख सकें। संक्षेप में, मूल्य शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के चिन्तन, अनुभूति एवं क्रियात्मकता को सही दिशा में विकसित कर व्यक्तित्व का उचित विकास करना है।

2.7 मूल्यपरक शिक्षा की आवश्यकता

भारत अपनी कला, संस्कृति, दर्शन आदि की गौरवशाली परम्पराओं पर सदैव गर्व करता रहा है परन्तु आज अनास्था तथा पारस्परिक अविश्वास के वातावरण में हमारी प्राचीन परम्परा एवं मूल्य धूमिल से हो गये हैं। आधुनिकता की भ्रामक अवधारणा, अस्तित्ववादी जीवन, अनात्मपरक नास्तिकता, पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण, तर्कप्रधान चिन्तन आदि के कारण अतीत में अविश्वास एवं स्व में अनास्था आदि कारणों से हमारे पुराने मूल्य प्रदूषित हो गये। स्वयं पर अनास्था का परिणाम है– आत्मनाश अर्थात् अपने आदर्शों एवं मूल्यों, अपनी सांस्कृतिक विरासत, अपनी चिन्तन प्रणाली का परित्याग कर उसके स्थान पर बाहरी या विदेशी चिन्तन प्रणाली को प्रतिष्ठित करना। इसके फलस्वरूप हमारे मूल्य दब से गये हैं। वस्तुतः वे पूर्णतः नष्ट नहीं हुए है,

वरन् विघटित हो गये हैं। आज भी मानव–मानव के बीच रागात्मक सम्बन्ध हैं, भले ही वे वांछित रूप में न हों। मानव नारी का सम्मान करता है। वह झूठ, चोरी, डकैती आदि को गलत मानता है। वह पर पीड़न को पाप और परोपकार को पुण्य स्वीकारता है। वह समाज के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त भ्रष्टाचार के प्रति आक्रोश प्रकट करता है। इस प्रकार आज का प्रत्येक भारतीय संक्रान्ति काल से होकर गुजर रहा है। दूसरे शब्दों में, कभी वह पुरातन मूल्यों की और झुकता है तो कभी आधुनिकता की भ्रामक अवधारणा की ओर। उक्त वातावरण ने मूल्यपरक शिक्षा की अवधारणा की ओर सभी का ध्यान आकृष्ट कर लिया है। हमने संक्रमण काल में कर्तव्य या कार्य संस्कृति के स्थान पर उपभोक्ता संस्कृति को अपना लिया है। इस उपभोक्ता संस्कृति ने मूल्यपरक शिक्षा की आवश्यकता को और भी प्रबल बना दिया है।

मूल्य ह्रास या विघटन के कारण– मूल्यों के ह्रास या विघटन के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं–

- विकासवादी विचारधारा के प्रभाव के कारण आध्यात्मिकता एवं आस्था की भावना का क्रमशः क्षीण होना।
- आधुनिक दर्शन एवं मनोविज्ञान के क्षेत्र में मार्क्सवाद, व्यक्तिवाद, अस्तित्ववाद, फ्रायडवाद, भौतिकवाद आदि का प्रचार–प्रसार।
- तर्क एवं बौद्धिकता का आधिक्य।
- औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं जनसंख्या विस्फोट।
- कृत्रिम यौनाचार को बढ़ावा देने वाले वैज्ञानिक उपकरणों एवं पद्धतियों का आविष्कार।
- राष्ट्र के कर्णधारों की करनी एवं कथनी में अन्तर। उनमें मानवीय आदर्शों का अभाव।
- सामाजिक राजनीतिक जीवन मे व्याप्त विघटनकारी प्रवृतियां।
- असुरक्षा की बढ़ती हुई भावना।
- समाज में सरोकारहीनता के कारण– हमसे क्या मतलब, हमें इससे क्या लेना देना आदि मनोवृतियां प्रबल रूप धारण कर रहीं है। इन प्रवृतियों ने जीवन मूल्यों के ह्रास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।
- समाज में असंयमयुक्त भोगवृति तथा उचितानुचित का विचार किये बिना किसी भी साधन से साध्य की प्राप्ति के प्रयास मूल्यों के ह्रास के महत्वपूर्ण कारण हैं।

उपर्युक्त कारकों के फलस्वरूप मनुष्य के आचरण में जो गिरावट आई है, उसने प्रबुद्ध विचारकों को चिन्तित कर दिया है। देश के प्रायः सभी राजनीतिक, सामाजिक ,साहित्यिक और शैक्षिक मंचों से जीवन मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करने की मांग की जा रही है। इनके प्रतिष्ठापन के लिए मूल्यपरक शिक्षा की आवश्यकता को महसूस किया गया। इसी कारण नई शिक्षा नीति में मूल्यों के गिरते स्तर पर चिन्ता करते हुए मूल्यपरक शिक्षा पर बल दिया गया। वैज्ञानिक दृष्टिकोण, लोतान्त्रिक, चारित्रिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को छात्रों के मन में बैठाना नई शिक्षा नीति के लक्ष्यों में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आज का भारतीय पाश्चात्य उपभोक्ता संस्कृति का पोषक बन गया है। उसने व्यावसायिक मानव का स्वरूप ग्रहण कर लिया है। वह कर्तव्य प्रधान, आस्था भाव वाली भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि नहीं बनना चाहता है। वह भौतिकता की चकाचौंध में स्वयं को विदेशी जैसा प्रदर्शित करनें में गर्व महसूस करने लगा है। भारतीयता अनैतिकता के माहौल में दम तोड़ रही है और उसकी आध्यात्मिकता निरर्थक सिद्ध हो रही है। उपभोक्ता संस्कृति ने हमारी चेतना को इतना निस्तेज व निष्प्रभ कर दिया है कि आज अच्छे और बुरे का भेद तो छोड़िये जिसे हम ठीक समझते हैं उसे करते हुए कतराते हैं और जिसे हम हेय समझते हैं उसे बड़ी सरलता से बिना किसी आत्मग्लानि के करते जाते हैं। श्रेयस्ते का स्थान उपयोगिता ने ले लिया है। हां, अधिक ऊंचा पहुंचने पर इसे कौशल का रूप देकर समाज उसे एक मौन

स्वीकृति दे देता है। इस प्रकार इस संस्कृति ने चिन्तन और कर्म में, दूसरे शब्दों में करनी और कथनी के बीच एक चौड़ी खाई उत्पन्न कर दी है। उक्त स्थिति से मुक्ति पाने तथा उस खाई को पाटने के लिए मूल्यपरक शिक्षा की आवश्यकता अनुभव की गई। विकास एवं प्रगति की इस दौड़ से अप्रभावित रहे हों, ऐसा नही है? विज्ञान के विकास से समुत्पन्न आपाधापी में जीवन के शाश्वत मूल्य खो गये हैं। यदि हम संक्षेप में कहें तो लोभ की पराकाष्ठा, पद और धन की लिप्सा, शक्ति लोलुपता, अहंकार, स्वार्थपरता, विश्वासघात, धोखाधडी, छलपूर्ण व्यवहार, असत्य, निष्ठाहीनता, निर्दयता, अन्याय, कर्तव्यहीनता, घृणा, ईर्ष्या आदि प्रवृतियों ने भारतीय समाज को ग्रस्त कर लिया है। ऐसी परिस्थितियों में राष्ट्र के जीवन में शाश्वत जीवन मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना सभ्य मानव के अस्तित्व के लिए आवश्यक हो गया है। अतः उन मूल्यों के पुनः प्रतिष्ठापन के लिए मूल्यपरक शिक्षा की आवश्यकता महसूस की गई।

भारतीय सम्यता का एक नया दोष उसे घुन की भांति खा रहा है, वह है– अमानुषीकरण का फैलाव और उसी से जुड़ा मूल्यों का बिखराव। जितना अधिक मशीन का प्रभुत्व हमारी चेतना पर बढ़ रहा है उसी अनुपात में हम अविश्वास एवं अनास्था के गर्त में डूबे जा रहे हैं। स्थिति यहां तक आ पहुंची है कि बड़े से बड़ा विशेषज्ञ अपने उपकाणों पर अधिक भरोसा करता है। अपनी शक्ति पर एक प्रश्नवाचक चिन्ह वह स्वयं ही जड़ देता है। क्या डाक्टर, क्या इंजीनियर, क्या वैज्ञानिक सभी अपने उपकरणों के आश्रित हैं और जब हम अपनी क्षमता पर ही अविश्वास करने लगें तो मनुष्य स्वयं अपनी चेतना के केन्द्र से दूर हो जाता है। यह प्रक्रिया संवेदनहीन बना देती है। हमें मशीन बना देती है। बड़े से बड़ा उपकरण चाहे कितना ही तकनीकी क्यों न हो आखिर मानव का स्थान तो नहीं ले सकता। अतः मानव को मानव बनाने के लिए हमें अपनी शिक्षा को मूल्योन्मुखी करना होगा। मानव व प्रकृति का तालमेल जितना बनावटी है, उतना ही बोझिल। मूल्यों के अभाव में मानवीय सम्पर्कों में सहजता समाप्त हो गई है। कृत्रिमता का साम्राज्य स्थापित हो गया है। वैज्ञानिकता ने जहां हमारी बौद्धिक शक्ति बढ़ाई है, वहीं उसने आध्यात्मिकता को छीन लिया है। सहज जीवन के स्थान पर हम बनावटी मुखौटों के सहारे जीने को बाध्य हो गये। जो हम बोलते हैं उसका अभिप्राय वह नहीं है जो हम चाहते हैं। जो हम सोचते हैं, वह नहीं है जो हमारे लक्ष्य हैं। हमारा जीवन तात्कालिकता में बंट गया है। इसमें कोई श्रृंखला नहीं, यह भिन्न–भिन्न है। आज जो खतरा है वह यह है, मानव जाति समाप्त हो न हो, मानवीय तत्व अवश्य लुप्त हो जायेगा। अतः हमें इसी शिक्षा के बीच ऐसा प्रकाश जगाना होगा जो मानव की गहराईयां छू सके, उसे समझ सके, उसके नजदीक आ सके। उसकी मजबूरियों, सीमाओं आदि को रेखांकित कर सके। इसके लिए हमें शिक्षा को मूल्योन्मुखी बनाना होगा। आज का मानव जातिवादी बन गया है । वह मूल्यवादी होने का दिखावा करता है। छल–प्रपंची बन गया है। दूसरों को नीचा दिखाना उसे उपयुक्त लगता है। मानव मन दिग्भ्रमित हो रहा है। वर्तमान प्रतिकूल परिस्थितियां 21 वीं सदी में हमारे अस्तित्व को शर्मनाक बना सकती हैं। अतः 21 वीं शताब्दी में सुखद भविष्य को सुनिश्चित करने के लिए मूल्यपरक शिक्षा अपरिहार्य है। नई शिक्षा नीति में यह स्वीकार किया गया कि आवश्यक मूल्यों के ह्रास तथा समाज में बढ़ रही कटुता के प्रति अधिक चिन्ता के कारण सामाजिक, नैतिक तथा जीवन मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए शिक्षा को मूल्योन्मुखी बनाना होगा। आज का मानव तर्क तथा भौतिक उपयोगिता को ही सब कुछ मान रहा है। ऐसी स्थिति में वह अपनी जीवन शैली का निर्माण उक्त को आधार बनाकर करना चाहता है। इस कारण उसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सन्देह, तर्क एवं प्रश्न करना प्रारम्भ कर दिया है। आस्था की कमी के कारण उसने कार्य संस्कृति को उपभोक्ता संस्कृति में बदल दिया है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यूनेस्को जैसी संस्थाओं ने मूल्य शिक्षा की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए विशेष अध्ययन दलों का गठन किया। राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली में भी मूल्य शिक्षा को समय की आवश्यकता और मांग के रूप में स्वीकार किया गया है। भारत में ब्रिटिशकालीन शिक्षा प्रणाली के विकास के साथ ही धीरे–धीरे

मूल्यों का क्षरण होता गया। व्यक्ति और समाज नैतिक पतन की ओर उन्मुख होते गये। शिक्षा प्रणाली में परम्परागत मूल्य– संस्कृति की रक्षा, चरित्र निर्माण, आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास जैसे लक्ष्य दूर होते गये। शिक्षा प्रणाली का लक्ष्य परीक्षा उत्तीर्ण करने पर केन्द्रित हो गया। इस स्थिति ने भारतीय समाज को एक विषम परिस्थिति में डाल दिया। सार्वजनिक धन के दुरूपयोग, वित्तीय, घोटाले, खाद्यान्नों में मिलावट, हत्याएं जैसी घटनाएं निरन्तर बढ़ती जा रही हैं। सर्वत्र स्वार्थपरता, व्यक्तिगत हित सिद्धि, लोलुपता, हिंसा बढ़ती जा रही है। आचार्य राममूर्ति समिति की समीक्षा समिति ने अपनी रिपोर्ट की प्रस्तावना में कहा– सर्वत्र आर्थिक असन्तोष, सांस्कृतिक अवमूलन तथा सामाजिक विघटन की भावना व्याप्त हो गयी है। युवकों में विद्रोह की भावना भड़की, हिंसा जीवन पद्धति का अंग बन गयी, लेकिन समय–समय पर व्यक्त की गयी चिन्ताओं के बावजूद पतन को रोकने के हमारे प्रयासों में कोई अधिक सफलता नहीं मिली। राष्ट्र के समक्ष अनेक प्रकार के संकट आ गये। यहां तक कि राष्ट्र के जीवित रहने के प्रति भी शंका उत्पन्न हो गयी। राष्ट्र के इस पूरे संकट में राजनीतिक संकट के अतिरिक्त व्यापारिक तथा आर्थिक एवं शैक्षिक संकट भी शामिल हो गये। समिति ने राष्ट्रीय संकट को दूर करने में शिक्षा की भूमिका का मूल्यांकन किया और उनके लिए जिन पांच आधारभूत सिद्धान्तों को निर्धारित किया, उनमें एक था– प्रबुद्ध तथा मानवीय समाज के सृजन हेतु अनिवार्य मूल्यों में रूचि पैदा करना। इसके पूर्व गठित अनेक समितियों एवं आयोगों ने भी मूल्य शिक्षा की आवश्यकता को स्वीकार किया। माध्यमिक शिक्षा आयोग ने चरित्र निर्माण के लिए धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा को महत्वपूर्ण माना था। शिक्षा आयोग ने राष्ट्रीय आकांक्षाओं एवं आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा प्रणाली को विकसित करने के लिए जिस पंचमुखी कार्ययोजना को प्रस्तुत किया था, उसका एक सूत्र मूल्य से भी जुड़ा था। आयोग के अनुसार शिक्षा द्वारा सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का विकास करके चरित्र का निर्माण आवश्यक है। 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने मूल्य शिक्षा की आवश्यकता को रेखांकित करते हुए कहा था– शिक्षा क्रम में ऐसे परिवर्तन की आवश्यकता है जिससे सामाजिक और नैतिक मूल्यों के विकास का शिक्षा एक सशक्त माध्यम बन सके। मानव संसाधन विकास पर गठित संसदीय समिति–1999 ने मूल्य शिक्षा की आवश्यकता को अपरिहार्य मानते हुए उसकी धीमी प्रगति पर चिन्ता व्यक्त की थी। समिति के अनुसार यह निराशाजनक है कि विगत चार दशकों में किये गये प्रयासों के बावजूद शिक्षा वांछित परिणाम देने में असफल रही है। मूल्य उन्मुखी शिक्षा के लिए बनायी गयी सभी योजनाएं केवल कागजी योजनाएं सिद्ध हुई हैं। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में मूल्य शिक्षा की प्रगति एवं विकास तत्कालिक आवश्यकता है। भारत के सन्दर्भ में मूल्य शिक्षा की आवश्यकता को निम्नांकित बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

2.7.1 चरित्र निर्माण एवं नैतिक विकास हेतु

समस्त विश्व में नैतिक पतन एवं चारित्रिक मूल्यों में ह्रास परिलक्षित होता है। चारित्रिक एवं नैतिक पतन मानव के समस्त संकटों का कारण है। डॉ राधाकृष्ण के अनुसार– भारत सहित सारे विश्व के कष्टों का कारण यह है कि शिक्षा केवल मस्तिष्क के विकास तक परिमित रह गयी है। उसमें धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश नहीं है। मूल्य शिक्षा परम्परागत शिक्षा की इस कमी को दूर करती है और धार्मिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश कर चरित्र निर्माण का प्रयास करती है। मूल्य शिक्षा व्यक्तित्व के दोनों पक्षों– आन्तरिक एवं बाह्य पक्षों का विकास कर उच्च नैतिक एवं चारित्रिक विकास का मार्ग प्रशस्त करती है। आन्तरिक पक्ष में मूल्य शिक्षा सत्य, निर्भयता, निःस्वार्थता, विवेक, स्वावलम्बन, स्वतंत्र चिन्तन एवं सचेतनता का समावेश करती है तो बाह्य पक्ष में नम्रता, शालीनता, सहनशीलता, मृदुभाषिता, आज्ञापालन, समय पालन, सेवाभाव, सहायता भाव आदि गुणों का समावेश कर व्यक्ति के नैतिक विकास एवं चरित्र निर्माण में सहायक होती है। नैतिक भावना के उत्थान एवं चरित्र द्वारा ही व्यक्ति समाज की सही दिशा में प्रगति करने में सहायक होता है।

2.7.2 जीवन की पूर्णता के लिए

वर्तमान समय में विज्ञान एवं तकनीक ने मानव के भौतिक सुख के लिए अनेक उपकरण एवं अवसर प्रदान किये हैं। वह भौतिक रूप से दुखी है किन्तु आध्यात्मिक सुख से दूर होता जा रहा है। केवल भौतिक सुख श्रेष्ठ एवं पूर्ण जीवन नहीं प्रदान कर सकते । ओल्ड टेस्टामेन्ट में कहा गया है– व्यक्ति केवल रोटी के साथ जीवित नहीं रह सकता।

2.7.3 परिवर्तन एवं परम्परा में समन्वय हेतु

वर्तमान समय में सम्पूर्ण विश्व में सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी परिवर्तनों के कारण नवीन मूल्यों एवं मान्यताओं का सृजन हो रहा है। परम्पराओं, रीति–रिवाजों, एवं प्राचीन संस्कृति को हेय एवं पिछड़ेपन का प्रतीक माना जा रहा है। परिवर्तनों एवं पुरातनता के बीच सामान्य व्यक्ति तनाव का अनुभव कर रहा है। इसके कारण सामाजिक विघटन भी बढ़ रहा है और व्यक्ति विभ्रम की स्थिति में है। मूल्य शिक्षा प्राचीनता एवं आधुनिकता के बीच इस प्रकार समन्वय पर बल देती है कि परिवर्तन से उत्पन्न तनाव एवं समस्याएं हल की जा सकें। मूल्य शिक्षा इस बात की शिक्षा देती है कि जो कुछ पुराना है वह सब व्यर्थ नहीं है और न जो नया है वह सब अच्छा ही। मूल्य शिक्षा छात्रों में ऐसी क्षमता का विकास करती है कि वे एक तरफ श्रेष्ठ जीवन के लिए आधुनिक कौशल को ग्रहण कर सकें तो दूसरी ओर अपनी आधारभूत संस्कृति एवं पारम्परिक मूल्यों के प्रति निष्ठावान रह सकें। इस प्रकार परिवर्तन एवं परम्परा में समन्वय स्थापित करने हेतु मूल्य शिक्षा को स्वीकार करना आवश्यक है।

2.7.4 संस्कृति के संरक्षण एवं विकास हेतु

संस्कृति की सहायता से मनुष्य में मानवीय गुणों का विकास होता है। संस्कृति से ही पाशविक शक्तियों पर नियंत्रण एवं समाजोपयोगी तत्वों का विकास होता है। टायलर के अनुसार– संस्कृति वह जटिल पूर्णता है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिक नियम, प्रथा और समाज के एक सदस्य के नाते मनुष्य द्वारा अर्जित अन्य योग्यताएं व आदतें सम्मिलित रहती हैं। मूल्य शिक्षा संस्कृति के संरक्षण एवं विकास हेतु उपयुक्त वातावरण तैयार करती है। भारत में अपनी प्राचीन संस्कृति की उपेक्षा हो रही है। यहां पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। फलतः भौतिक संस्कृति का प्रभाव बढ़ रहा है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्व, त्याग, संयम, सेवा , साधना, ब्रह्मचर्य, नियमपालन आदि को विकसित कर मूल्य शिक्षा संस्कृति के संरक्षण का कार्य कर सकती है। इस प्रकार संस्कृति के संरक्षण एवं विकास हेतु मूल्य शिक्षा की आवश्यकता स्वतः सिद्ध होती है।

2.7.5 सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास करने हेतु

कोठारी आयोग के अनुसार, समाज को एक रखने वाले पुराने मूल्य टूट रहे हैं और चूंकि इनका स्थान सामाजिक उत्तरदायित्व की एक नयी भावना द्वारा लिये जाने का कोई प्रभावशाली कार्यक्रम नहीं है, अतः सर्वत्र सामाजिक विघटन के लक्षण दिखायी दे रहे हैं और वे लक्षण निरन्तर बढ़ रहे हैं। इसके अन्तर्गत हड़तालें, बढ़ती अव्यवस्था, सार्वजनिक सम्पत्ति के प्रति अवहेलना, सामाजिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार और साम्प्रदायिक तनाव शामिल है। इस कथन से स्पष्ट है कि आयोग ने सामाजिक विघटन के लिए मूल्यों के क्षरण को उत्तरदायी माना था। इसका निदान मूल्यों की पुनर्स्थापना में ही निहित हैं। इसके लिए मूल्य शिक्षा अपरिहार्य है। एशियाई देशों में नैतिक शिक्षा पर संयुक्त दल ने मूल्य शिक्षा के उद्देश्यों में देशभक्ति एवं राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास करना भी एक उद्देश्य स्वीकार किया है। इसके लिए मूल्य शिक्षा में देशभक्ति, मातृभूमि के प्रति समादर, विभिन्न धर्मों के प्रति समादर, राष्ट्रीय प्रतीकों का सम्मान करना जैसे मूल्यों को सिखाया जाता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति–1986 के सामान्य केन्द्रक में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास, संवैधानिक कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व तथा

राष्ट्रीय अस्मिता को सम्मिलित किया गया है। यह पाठ्यक्रम मूल्यपरक शिक्षा पर आधारित है। इस प्रकार सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास करने के लिए मूल्य शिक्षा को अपनाना आवश्यक है।

2.7.6 अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास करने हेतु

विश्व–बन्धुत्व और अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास हेतु मूल्य शिक्षा की आवश्यकता है। भारत में प्राचीन काल से ही वसुधैव कुटुम्बकम् का मूल्य सर्वोपरि रहा है। भारतीय संस्कृति की अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव तथा विभिन्न जातियों एवं समूहों को समझनें की गौरवशाली परम्परा रही है। मूल्य शिक्षा में इसी भावना के विकास हेतु विश्व–बन्धुत्व, सभी संस्कृतियों का सम्मान, जातिभेद एवं रंग भेद की भावना को तिरोहित करना जैसे मूल्य सम्मिलित किये जाते हैं। मूल्य शिक्षा चूंकि मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करती है, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास में सहायक है।

2.7.7 लोकतांत्रिक मूल्यों को सुदृढ़ करने हेतु

विश्व के अधिकांश देशों ने लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था को स्वीकार किया है। लोकतंत्र की सफलता लोकतांत्रिक आदर्शों एवं मूल्यों पर निर्भर करती है। लोकतंत्र एक जीवन शैली के रूप में स्वीकार किया जाए, इसके लिए छात्रों एवं नागरिकों को प्रशिक्षित करने की आवश्यकता होती है। मूल्य शिक्षा में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास, सहिष्णुता की भावना का विकास, सार्वजनिक सम्पति की रक्षा एवं सम्मान, विभिन्न समूहों की संस्कृति का सम्मान, संवैधानिक संस्थाओं के प्रति निष्ठा, मूल कर्तव्यों का पालन जैसे मूल्यों को सम्मिलित कर लोकतांत्रिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने एवं उसे जीवन शैली के रूप में अंगीकार करने का प्रयास किया जाता है। इसीलिए भारत में भी शिक्षा पर गठित आयोगों ने लोकतांत्रिक मूल्यों की शिक्षा पर विशेष बल दिया है। स्पष्ट है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए मूल्य शिक्षा आवश्यक है।

2.7.8 इक्कीसवीं शताब्दी हेतु तैयार करना

विश्व ने नयी शताब्दी में प्रवेश किया है। इस शताब्दी में परिवर्तन की प्रक्रिया अधिक तेज है। इस शताब्दी में विश्व के समक्ष अनेक नई चुनौतियां उत्पन्न हो रही हैं। इसके लिए छात्रों को तैयार होना होगा। मूल्य शिक्षा 21 वीं शताब्दी की चुनौतियां का सामना करने में सहायक हो सकती है। यूनेस्को ने 21 वीं शताब्दी के लिए शिक्षा विषय पर एक आयोग गठित किया था। इस आयोग ने अपने प्रतिवेदन में नई शताब्दी की चुनौतियों का सामना करने के लिए शिक्षा को उपयोगी साधन माना है। आयोग के अनुसार शिक्षा के उपयोग द्वारा निर्धनता, अज्ञानता, शोषण और युद्ध की विभीषिका को कम किया जा सकता है। इस निमित आदर्शों एवं मूल्यों पर आधारित शिक्षा को महत्वपूर्ण माना है। नयी शताब्दी में वैज्ञानिक प्रगति एवं तकनीकी परिवर्तनों के कारण समायोजन की प्रक्रिया और परम्परागत मूल्यों की रक्षा के समन्वय की आवश्यकता भी मूल्य शिक्षा पूर्ण करती है।

2.7.9 व्यावसायिक विकास एवं आत्मनिर्भरता की प्राप्ति हेतु

मानव की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु व्यक्ति का आत्मनिर्भर होना आवश्यक है। आत्मनिर्भरता की प्राप्ति व्यावसायिक विकास से हो सकती है। आत्मनिर्भर व्यक्ति से ही चरित्र निर्माण एवं नैतिक विकास की आशा की जा सकती है। वर्तमान समय में शिक्षा के इसी उद्देश्य पर बल दिया जा रहा है। मूल्य शिक्षा में आर्थिक मूल्यों की शिक्षा द्वारा व्यक्ति को स्वावलम्बी बनाने पर बल दिया जाता है। उचित व्यवसाय, सम्यक् उपभोग, श्रम के प्रति निष्ठा, स्वरोजगार, स्वावलम्बन जैसे मूल्यों के प्रशिक्षण द्वारा आत्मनिर्भर व्यक्ति एवं समाज के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। इस प्रकार मूल्य शिक्षा व्यावसायिक विकास एवं आत्मनिर्भरता की प्राप्ति हेतु आवश्यक है।

2.7.10 राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु

भारत एक विकासशील देश है। निर्धनता की समाप्ति, अज्ञानता की समाप्ति, पर्यावरण सुधार, छोटे परिवार का मानक एवं जनसंख्या नियंत्रण, लोकतांत्रिक व्यवस्था को सुदृढ़ करना आदि राष्ट्र की आवश्यकताएं एवं अपेक्षाएं हैं। मूल्य शिक्षा इस हेतु सार्थक प्रयास करती है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में इस तथ्य को स्वीकार करते हुये कहा गया है– हमारे बहुवर्गीय समाज में शिक्षा को सर्वव्यापी और शाश्वत मूल्यों को प्रोत्साहित करना चाहिए, ताकि भारतीय जन में राष्ट्रीय एकता की भावना बढ़े और संकीर्ण सम्प्रदायवाद, धार्मिक अतिवाद, हिंसा, अन्धविश्वास व भाग्यवाद को समाप्त किया जा सके। हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि मनुष्य अकेला शून्य में निवास करने वाला प्राणी नहीं है। मूल्यपरक शिक्षा उसके विशिष्ट सामाजिक तथा सांस्कृतिक सन्दर्भ से जुड़ी होनी चाहिए और विश्वजनीन व शाश्वत मूल्यों से भी उसका सम्बन्ध होना चाहिए। वैज्ञानिक दृष्टिकोण, समता, पर्यावरण संरक्षण, प्रजातंत्र, स्वतंत्रता, बन्धुत्व, समाजवाद तथा धर्मनिरपेक्षता आदि मूल्यों की शिक्षा सभी स्तरों के लिए आवश्यक है। इस प्रकार मूल्य शिक्षा की आवश्यकता वर्तमान समय की समस्याओं के समाधान, आदर्श समाज की स्थापना, सुदृढ़ राष्ट्र एवं सद्भावपूर्ण विश्व के लिए अपरिहार्य है।

3. जीवन विज्ञान

'जीवन विज्ञान' जीवन को स्पर्श करने वाली विद्या है। स्वस्थ सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के अभाव में कोई भी व्यक्ति समाज में स्वस्थ व निश्चिन्त नहीं रह सकता । इन मूल्यों के विकास के बिना सामाजिक समस्याओं का समाधान आसानी से नहीं पाया जा सकता। हिन्दुस्तान लोकतंत्रीय समाजवादी समाज–व्यवस्था का संकल्प लिये चल रहा है। लोकतन्त्र का आधार है–जनमत का सम्मान और समाजवादी व्यवस्था का आधार है– सामाजिक न्याय। इनकी संपूर्ति के लिए आर्थिक संतुलन और तकनीकी विकास जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है– नैतिक या चारित्रिक विकास। समाजवाद की दुहाई के इतने वर्ष बीत जाने पर भी जातिवाद, सम्प्रदायवाद, प्रान्तीय और भाषाई अलगाववाद का दृष्टिकोण नहीं बदला। आर्थिक विषमता में अन्तर नहीं आया हैं। क्या इसमें शिक्षा प्रणाली का कोई दोष नहीं है? यदि शिक्षा द्वारा लोकतंत्रीय मूल्यों का विकास नहीं होता है तो उसकी सार्थकता में संदेह किया जा सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में आज सन्देह का वातावरण बना हुआ ह। विद्यार्थी का भविष्य क्या है? यह प्रश्न आर्थिक परिप्रेक्ष्य में भी उभरता है और वैयक्तिक जीवन के संदर्भ में भी।

आधुनिक जीवन शैली– असीमित आकांक्षाएं, अत्यधिक भाग–दौड़ , अत्यधिक कार्यभार एवं समय की कमी ने व्यक्ति के जीवन को अस्त–व्यस्त कर दिया हैं। जीवन की सारी दिनचर्या अव्यवस्थित हो गई है। खाने–पीने व सोने का समय भी व्यक्ति के लिए दुर्लभ हो रहा है। महंगाई, दैनिक आवश्यक पदार्थों की कठिन उपलब्धि, जल और वातावरण प्रदूषण आदि समस्याओं के कारण भी व्यक्ति का जीवन निरन्तर तनाव–पूर्ण रहने लगा है। यह सार्वभौम तथ्य है कि मानसिक तनाव आधुनिक जीवन पद्वति का अभिन्न अंग बन चुका है। कुछ व्यक्ति तो निराश होकर शराब, एल.एस.डी. आदि मादक पदार्थों में इन सबका समाधान खोजने का प्रयत्न करते हैं। इससे समस्या की आग और अधिक प्रज्वलित होती है। उसी के फलस्वरूप मनुष्य के शरीर में अनेक प्रकार के रोग, पागलपन, और प्रतिवर्ष आत्महत्या की बढ़ती हुई संख्या समाज और विश्व के लिए चिन्ता का विषय बनी हुई है और इन्होंने अनेक नई समस्याओं को जन्म दिया है। वर्तमान समाज की मुख्य समस्याएं निम्नलिखित हैं–

- तनाव–शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक
- स्वास्थ्य समस्याएं – शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक बीमारियां(मनोकायिक)
- पर्यावरण प्रदूषण (ओजोन छतरी में छेद आदि)।
- अशान्त /विक्षुब्ध पारिवारिक संबंध।

- हिंसा और क्रूरता।
- भ्रष्टाचार, बेईमानी और अनैतिकता।
- नशीले पदार्थों का प्रयोग।
- कानून और व्यवस्था में नैतिक व सामाजिक अनुशासन की अवहेलना।
- शस्त्रीकरण / आणविक अस्त्र
- शोषण

इन समस्याओं की जड़ में मुख्य रूप से प्रायः निम्नलिखित कारण देखने में आते हैः–

- जीवन के आधारभूत मूल्यों में आस्था की कमी
- नितान्त पदार्थवादी दृष्टिकोण
- सुविधावादी दृष्टिकोण
- सुखवादी वृत्ति/इन्द्रिय सुख
- असीमित इच्छाएं
- करूणा और सेवाभाव का अभाव
- आत्मानुशासन की कमी
- लालच, परिग्रह, अधिकार व अर्थ–प्रधान मनोवृत्ति
- अति स्वार्थीपन
- अति औद्योगीकरण
- अति शहरीकरण
- अति जनसंख्या
- अति व्यस्त जीवन–शैली

इन कारणों के मूल में भी देखा जाए तो मुख्य जिम्मेदार कारण निम्नलिखित हैं, जिन पर अविलम्ब ध्यान दिया जाना चाहिए–

- स्नायु अन्तः स्रावी ग्रन्थि तन्त्र की विकृति
- मूल्यपरक शिक्षा का अभाव
- असंतुलित शिक्षा प्रणाली –वृत्तियों एवं व्यवहार के रूपान्तरण के लिए प्रायोगिक प्रशिक्षण का अभाव
- प्राणशक्ति में आस्था की कमी , इसके फलस्वरूप संकल्प शक्ति व सहनशीलता में कमी।

3.1 समस्याएं एवं शिक्षा

समस्याओं का समाधान व समाज का निर्माण शिक्षा से ही होता है। शिक्षा प्रत्येक विकास का आधार होती है। शिक्षा का मूल अर्थ है– अभ्यास। आज यह अर्थ विस्मृत हो गया है। आज शिक्षा का अर्थ है– अध्ययन। अभ्यास दो प्रकार का होता है– ग्रहणात्मक अभ्यास और आसेवनात्मक अभ्यास। पहले ग्रहण करो, जानो फिर उसका आसेवन करो, प्रयोग करो। शिक्षा का पहला चरण है–'ग्रहण' और दूसरा चरण है– 'आसेवन'। जानना भी शिक्षा है, पर जानना मात्र शिक्षा नहीं है।

हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली संतुलित नहीं है। संतुलित शिक्षा प्रणाली वह होती है जिसमें व्यक्तित्व के चारों आयाम–शारीरिक, मानसिक, बौद्विक और भावनात्मक– संतुलित रूप से विकसित हों। शरीर का विकास भी अपेक्षित है, मन का विकास भी अपेक्षित है, बुद्धि और भावना का विकास भी अपेक्षित है। आज की शिक्षा में इन चार आयामों में से दो आयामों पर ध्यान अधिक दिया जा रहा है। वे दो आयाम हैं– शारीरिक विकास का

आयाम और बौद्धिक विकास का आयाम। शेष दो आयाम उपेक्षित पड़े हैं। आज शारीरिक विकास बहुत हुआ है और बौद्धिक विकास भी प्रतिदिन बढ़ रहा है किन्तु मानसिक और भावात्मक विकास नहीं हो रहा है। यह शिक्षा प्रणाली का असन्तुलन है। शिक्षातंत्र एकांगी विकास की परिक्रमा कर रहा है। वह सर्वांगीण विकास की धुरी पर नहीं चल रहा है। इसलिए वह अपना सन्तुलन खो बैठा है। बौद्धिक विकास से व्यक्ति इंजीनियर, वैज्ञानिक, डॉक्टर आदि बन जाने पर भी अनुकूल–प्रतिकूल स्थिति में अपना मानसिक संतुलन नहीं रख पाता है। वह भावावेश में आकर बहुत बार गलत व्यवहार कर लेता है। ईर्ष्या, निराशा या आवेग की ज्वाला में जल उठता है और कभी–कभी आत्महत्या करने पर भी उतारू हो जाता है। क्या आत्म–हत्या शिक्षा की निष्पति है? सोचने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि बौद्धिक विकास के हो जाने पर भी भावनात्मक विकास के अभाव में जघन्यतम अपराध घटित हो सकता है। भावनात्मक विकास का ज्वलंत प्रश्न सबके सामने है।

वर्तमान शिक्षा : अधूरी प्रक्रिया– आज शिक्षा का जीवन में प्रभाव नहीं हो रहा है क्योंकि उसकी प्रक्रिया पूरी नहीं हो रही है। शिक्षा की पूरी प्रक्रिया है– ग्रहण करो फिर उसका आसेवन करो, जीवन में उतारो। आज आसेवन की बात छूट गई है।

पंतजलि से पूछा गया– चित्त का निरोध कैसे होता है?

उन्होंने कहा– चित्त निरोध के दो उपाय हैं– अभ्यास और वैराग्य।

अर्जुन ने कृष्ण से पूछा–मन का निरोध कैसे होता है?

कृष्ण ने कहा–पार्थ अभ्यास और वैराग्य द्वारा मनोनिग्रह साधा जा सकता है।

आज अभ्यासात्मक शिक्षा छूट गई, ज्ञानात्मक शिक्षा बच गई। शिक्षा का एक चरण टूट गया। वह लंगड़ी हो गई। इसलिए शिक्षा का जो परिणाम आना चाहिए वह नहीं आ रहा है।

यह स्वर अधिकतर सुनने में आता है कि आज की शिक्षा प्रणाली गलत है। जीवन विज्ञान की दृष्टि में वर्तमान की शिक्षा प्रणाली गलत नहीं है, किन्तु यह अपर्याप्त है।

3.2 जीवन विज्ञान : मूल्यपरक शिक्षा

जीवन विज्ञान मूल्यपरक शिक्षा का अभिनव प्रयोग हैं। जिसके अन्तर्गत मूल्यपरक शिक्षा, स्वास्थ्य, शिक्षा, नैतिक शिक्षा और योग शिक्षा का समावेश है। इसका विकास सम्पूर्ण मानव समस्याओं के संदर्भ में किया गया है। आज मानव जगत् अनेक समस्याओं से पीड़ित है– हिंसा, तनाव, पारिवारिक अशांति, अनैतिकता, भ्रष्टाचार , स्वच्छंदता, अनुशासनहीनता, उच्छृंखलता, पर्यावरण–प्रदूषण आदि। इन समस्याओं के समाधान के लिए इसका उद्‌भव हुआ है।

3.3 जीवन विज्ञान शिक्षा के उद्‌देश्य

- स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण जिसमें शारीरिक, मानसिक भावनात्मक एंव सामाजिक विकास का संतुलन हो।
- नये समाज का निर्माण–हिंसा, शोषण एवं अनैतिकता से मुक्त समाज का निर्माण।
- नये पीढ़ी का निर्माण –ऐसी पीढ़ी का निर्माण जो आध्यात्मिक भी हो एवं वैज्ञानिक भी अर्थात् आध्यात्मिक–वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण।

3.4 जीवन विज्ञान की विषय वस्तु

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में बौद्धिक विकास के तत्व पर्याप्त मात्रा में हैं। यही कारण है कि अनेक बुद्धिजीवी इस शिक्षा प्रणाली से सफलता पूर्वक निकल रहे हैं। अच्छे डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, वैज्ञानिक आदि आज की शिक्षा प्रणाली की देन हैं किन्तु विचारणीय पक्ष यह है कि भावनात्मक विकास के लिए आज की शिक्षा प्रणाली में कौन से तत्व हैं? आत्मानुशासन के विकास के लिए कौन–कौन से तत्व है? भावनात्मक विकृतियों–क्रूरता, प्रतिशोध, भय, घृणा, ईर्ष्या, वासना एवं विकार पर नियंत्रण के विकास के लिए आज की शिक्षा प्रणाली क्या दे रही है? विधायक भाव जो स्वस्थ, चरित्रवान एवं नैतिक व्यक्तित्व के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं– इसके विकास के लिए आज की शिक्षा में क्या–क्या उपक्रम हैं? संकल्पशक्ति, इच्छाशक्ति एवं मानसिक एकाग्रता के विकास के लिए आधुनिक शिक्षा प्रणाली क्या समाधान देती है। यह स्पष्ट है कि आधुनिक शिक्षा प्रणाली इन तत्वों से रिक्त है। अतः यह आवश्यक है कि इन तत्वों का शिक्षा प्रणाली में समावेश हो। न कि शिक्षा प्रणाली को दोषी ठहराया जाए। आवश्यकता इस बात की है कि जो कमी है उसको पूरा किया जाये। आज की शिक्षा प्रणाली में ऐसे तत्वों का समावेश हो जो विद्यार्थी के विवेक एवं प्रज्ञा को जगा सके, जिससे विद्यार्थी दबावपूर्ण स्थिति में अपने आपको सम्भाल सके एवं तनाव से मुक्त रह सके। जीवन विज्ञान के सैद्धान्तिक पाठ्यक्रम में आधुनिक जीव विज्ञान, प्राचीन अध्यात्म विज्ञान और समाज विज्ञान का भी समावेश किया गया है। जीवन विज्ञान का महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इसमें सैद्धान्तिक प्रशिक्षण के साथ प्रायोगिक प्रशिक्षण और नियमित अभ्यास पर बहुत बल दिया गया है। केवल उपदेशात्मक शिक्षा से चरित्र विकास और बुराइयों से मुक्ति संभव नहीं है। महापुरूषों की जीवनियां प्रेरित तो करती हैं किन्तु चेतना का रूपान्तरण नहीं कर सकती। उपदेश इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समर्थ नहीं है क्योंकि चेतना के रूपान्तरण का हेतु रासायनिक परिवर्तन है। जब तक अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के रसायनों का सन्तुलन नहीं होगा तब तक केवल बौद्धिक व्यायाम सफल नहीं हो सकता। अतः प्रायोगिक प्रशिक्षण एवं नियमित अभ्यास ध्यान, स्वतः सुझाव, कायोत्सर्ग, श्वासप्रेक्षा, प्राणायाम जीवन विज्ञान पाठ्यक्रम का आधारभूत हिस्सा है। सैद्धान्तिक ज्ञान उतना ही है जो प्रायोगिक विधि को समझने के लिए आवश्यक है।

3.5 शिक्षा और समाज–व्यवस्था

शिक्षा और समाज–व्यवस्था में गहरा अनुबंध है। शिक्षा समाज–व्यवस्था के अनुरूप होकर ही समाज को लाभान्वित कर सकती है। उसका काम है समाज–व्यवस्था को गतिशील बनाने वाले व्यक्तियों का निर्माण। हिन्दुस्तान लोकतंत्रीय समाजवादी समाज–व्यवस्था का संकल्प लिए चल रहा है। लोकतंत्र का आधार है जनमत का सम्मान और समाजवादी व्यवस्था का आधार है सामाजिक न्याय। इनकी संपूर्ति के लिए आर्थिक संतुलन और तकनीकी विकास जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है नैतिक या चारित्रिक विकास। समाजवाद का दुहाई के चार दशक बीत जाने पर भी जातिवाद, संप्रदायवाद, प्रांतीय और भाषाई अलगाववाद का दृष्टिकोण नहीं बदला है, आर्थिक विषमता में अन्तर नहीं आया है। क्या इसमें शिक्षा–प्रणाली का कोई दोष नहीं है? यदि शिक्षा के द्वारा लोकतंत्रीय मूल्यों का विकास नहीं होता है तो उसकी सार्थकता में संदेह किया जा सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में आज संदेह का वातावरण बना हुआ है। विद्यार्थी का भविष्य क्या है? यह प्रश्न आर्थिक परिप्रेक्ष्य में भी उभरता है और वैयक्तिक जीवन के संदर्भ में भी। मनुष्य केवल सामाजिक नहीं है और वह केवल व्यक्ति भी नहीं है। वह संबंधों के कारण सामाजिक है और जन्मजात वैयक्तिकता के कारण व्यक्ति है। शिक्षा में सामाजिक और वैयक्तिक दोनों पहलुओं का समन्वय आवश्यक है। इसके द्वारा ही आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक मूल्यों का सामंजस्यपूर्ण विकास किया जा सकता है। जीवनविज्ञान मूल्यपरक शिक्षा की समन्वयात्मक प्रयोग–पद्धति है। उसमें सोलह मूल्य निर्धारित किए गए हैं। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है–

सामाजिक मूल्य	कर्त्तव्यनिष्ठा	स्वावलम्बन
बौद्धिक मूल्य	सत्य	समन्वय
मानसिक मूल्य	सम्प्रदाय निरपेक्षता	मानवीय एकता
नैतिक मूल्य	मानसिक संतुलन	धैर्य
आध्यात्मिक मूल्य	प्रामाणिकता, सह–अस्तित्व, अनासक्ति,	करुणा, सहिष्णुता,
	मृदुता, आत्मानुशासन	अभय

केवल सिद्धांत बोध के द्वारा विद्यार्थी अपनी अस्मिता को पहचान सके और सामाजिक न्याय के प्रति समर्पित हो सके, यह कम संभव है। इसके लिए सिद्धान्त और प्रयोग दोनों का समन्वय आवश्यक है। आचार्य तुलसी ने अणुव्रत की आचार–संहिता के माध्यम से अच्छे नागरिक का प्रारूप समाज के सामने रखा था। जीवन विज्ञान उसकी क्रियान्विति का प्रयत्न है। इसका उद्देश्य है–

- बौद्धिक और भावनात्मक विकास का संतुलन।
- विवेक और संवेग में सामंजस्य।
- वैयक्तिकता और सामाजिकता में सामंजस्य।
- मानवीय सम्बन्धों में परिवर्तन।
- नैतिक मूल्यों का विकास।
- आत्मानुशासन की क्षमता का विकास।
- मानवीय समस्या के प्रति संवेदनशीलता का विकास।

स्वामी विवेकानन्द ने शताब्दी पूर्व कहा था– अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय होना चाहिए। आचार्य विनोबा भावे इस अपेक्षा को बार–बार दोहराते रहे। जीवन–विज्ञान में इस अपेक्षा की पूर्ति की गई है। जीवन–विज्ञान की पृष्ठभूमि में व्यक्ति और समाज दोनों को संतुलित मूल्य दिया गया है। समाज के संदर्भ से कटा हुआ व्यक्ति रामूभेड़िया बन सकता है, दार्शनिक और वैज्ञानिक नहीं बन सकता। व्यक्तिगत क्षमता के बिना वह विद्यालय का जीवन जीकर भी बौद्धिक विकास नहीं कर सकता। सामाजिक और वैयक्तिक दोनों अस्मिताओं का योग होने पर ही पूर्ण व्यक्तित्व विकसित होता है। व्यक्तिगत जीवन स्वयंकृत कर्म के द्वारा निर्मित होता है। प्रत्येक मनुष्य अपने–अपने कर्म के अनुरूप शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, स्वास्थ्य, आयु और सुखानुभूति प्राप्त करता है। हम कर्म–संस्कार को छोड़कर व्यक्तित्व की सही व्याख्या नहीं कर सकते। सामाजिक जीवन संबंधों के द्वारा निर्मित होता है। संबंध का पहला सेतु है– आनुवंशिकता । प्राणी अपने माता–पिता के संस्कार प्राप्त करता है, वातावरण और परिस्थिति से सीखता है। इसलिए सामाजिक संदर्भ के बिना भी व्यक्तित्व की पूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकती। व्यक्तित्व के दो पहलू हैं– सामाजिक और वैयक्तिक। जो वातावरण से प्रभावित है, वह सामाजिक है और जो कर्म–संस्कार से प्रभावित है, वह वैयक्तिक है। इन दोनों पहलुओं का संतुलन बनाए रखने के लिए कर्मवाद और परिस्थितिवाद, अध्यात्म और विज्ञान दोनों का अध्ययन आवश्यक है। साथ–साथ कर्म–संस्कार का परिष्कार और परिस्थिति का परिवर्तन भी आवश्यक है। कर्म–संस्कार के परिष्कार का उपाय है– भावशुद्धि और व्यवहारशुद्धि। व्यवहारशुद्धि के तीन रूप बनते हैं–

- संयमपूर्ण व्यवहार।

- प्रामाणिक व्यवहार –नैतिकता।
- मृदु व्यवहार।

मनुष्य में रोग या आसक्ति का आवेश है, इसलिए वह असंयमपूर्ण व्यवहार करता है। उसमें लोभ का आवेश है, इसलिए वह अप्रामाणिक व्यवहार करता है। उसमें क्रोध और अहंकार का आवेश है, इसलिए वह क्रूर व्यवहार करता है। अवांछनीय व्यवहार का मूल हेतु है– आवेश। जैसा आवेश वैसा व्यवहार, यह कर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण है। जैसा रसायन वैसा व्यवहार यह मानसशास्त्रीय दृष्टिकोण है। उसके अनुसार व्यवहार के नियंत्रण सूत्र नाड़ीतंत्रीय और ग्रंथितंत्रीय रसायन हैं। वे बदलते रहते हैं और उन्हें बदला जा सकता है। उन्हें बदलने का आध्यात्मिक सूत्र है– भावशुद्धि । जैसा भाव वैसा रसायन । भाव शुद्ध तो रसायन शुद्ध, भाव अशुद्ध तो रसायन भी अशुद्ध। भाव का स्त्रोत सूक्ष्म शरीर है। रसायन हमारे स्थूल शरीर में पैदा होते हैं। मानवीय व्यवहार की व्याख्या का आदि सूत्र है– कर्म का स्पन्दन। उसके दृश्य सूत्र हैं– जैविक रसायन और जैविक विद्युत्। इस श्रृंखला में कर्म–स्पन्दन का भाव का, भाव जैविक रसायन का, जैविक रसायन विचार और व्यवहार का कारण बनता है। कर्म–संस्कार के संचय का कारण है– विचार और व्यवहार। विचार की एकाग्रता और व्यवहार की शुद्धि की प्रणाली सिखाने पर पचास प्रतिशत शिक्षा सम्पन्न हो जाती है। शेष पचास प्रतिशत शिक्षा का क्षेत्र है– बौद्धिक और कर्म–कौशल का विकास। तथ्यों का ज्ञान, देश और समाज के प्रति कर्त्तव्य का बोध, बौद्धिक शिक्षा के द्वारा हो सकता है। किन्तु आवेश–नियन्त्रण की प्रायोगिक शिक्षा के बिना कर्त्तव्य का सही रूप में पालन शक्य नहीं बनता। सामाजिक और आर्थिक विकास तकनीकी ज्ञान के द्वारा संभव हो सकता है पर उससे आर्थिक विषमता वाली व्यवस्था का परिवर्तन शक्य नहीं बनता। उसके लिए उस शिक्षा की जरूरत है, जो व्यक्ति को समाज के प्रति संवेदनशील बनाए, सृजनात्मक दृष्टिकोण का निर्माण करे। आज के विद्यार्थी को व्यवहार–शुद्धि का पाठ नहीं पढ़ाया जाता, इसलिए वह समाज के साथ सामंजस्य स्थापित करने में सफल नहीं हो रहा है। उसे श्रमनिष्ठा का पाठ नहीं पढ़ाया जाता, इसलिए वह अपनी आर्थिक समस्या सुलझाने में सक्षम नहीं हो रहा है। उसे नैतिकता का पाठ नहीं पढ़ाया जाता, इसलिए वह अपने राष्ट्रीय दायित्वों और कर्तव्यों का पालन नहीं कर पा रहा है। नई शिक्षा नीति के परिपार्श्व में शिक्षा के आमूलचूल परिवर्तन के स्वर उभर रहे हैं। केवल पढ़ाने की प्रणाली बदलने से आमूलचूल परिवर्तन नहीं होगा। उसके लिए शिक्षा के स्वरूप को बदलना आवश्यक है। उस स्वरूप की प्रतिष्ठा अपेक्षित है, जिसमें बौद्धिक विकास, व्यवहार शुद्धि या नैतिकता, श्रमनिष्ठा और दायित्वबोध– इन सबकी समन्विति फलित हो सके। शिक्षा के बारे में भारतीय चिंतन अभी स्वस्थ नहीं है। बड़े–बड़े लोगों का स्वर है कि हमारी शिक्षा–प्रणाली गलत है। यह स्वर अनगिनत बार पुनरूच्चारित हुआ है, पर अभी कोई समाधान नहीं निकल पाया है। वस्तुतः यह ठीक नहीं है। शिक्षा–प्रणाली गलत है, उसकी अपेक्षा यह कहना उचित होगा कि शिक्षा प्रणाली अपर्याप्त है। उसमें बौद्धिक विकास पर अधिक बल दिया गया है, भावात्मक विकास की उपेक्षा की गई है। यह असंतुलन ही सिरदर्द बना हुआ है। अनुशासन, चरित्र–विकास तथा अपराधी मनोवृत्ति के परिवर्तन के लिए बौद्धिक विकास की अपेक्षा भावात्मक विकास अधिक मूल्यवान् है।

3.6 सामाजिकता का आधार : परस्परता

हम स्वावलम्बन की बात करते हैं, किन्तु वास्तव में हमारा परस्परावलंबन है, जिसे हम कभी विस्मृत नहीं कर सकते। आदमी प्रातःकाल घूमने निकलता है। वृक्ष कुछ वायु छोड़ते हैं। वह आदमी के लिए प्राणवायु बन जाती है। आदमी प्राणवायु को भीतर ग्रहण करता है और निःश्वास के रूप में कार्बनडाइऑक्साइड का विसर्जन करता है। वृक्ष उसे ग्रहण करता है। वह वृक्ष को प्राण देने वाला बन जाता है। यह परस्परता है। केवल आदमी–आदमी में ही परस्परता नहीं है किन्तु प्रत्येक प्राणी के साथ परस्परता है। एक प्राणी दूसरे से जुड़ा हुआ है। जो मनुष्य के लिए अनुपयोगी बन गया, वह वनस्पति जगत् के लिए उपयोगी बन गया और जो वनस्पति

जगत् के लिए अनुपयोगी बन गया, वह मनुष्य के लिए उपयोगी बन गया। सारी सृष्टि में एक संतुलन बना हुआ है। सब एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं। इन्हें पृथक् या विश्लेषित नहीं किया जा सकता। परस्परता से सब कुछ जुड़ा हुआ है। एक के लिए उपयोगी, दूसरे के लिए अनुपयोगी। एक के लिए अनुपयोगी, दूसरे के लिए उपयोगी।

3.6.1 सामाजिकता का शत्रु : स्वार्थ

शिक्षा का एक कार्य है– परस्परता की चेतना का विकास। यही है समाजीकरण के विकास का महत्वपूर्ण सूत्र। आज स्वार्थ बहुत बढ़ा है, परमार्थ कम हुआ है। इसका कारण है कि आज की प्रचलित शिक्षा में परमार्थ की चेतना को उजागर करने वाले तत्त्व कम हैं और स्वार्थ –चेतना के तत्त्व अधिक हैं। आदमी की चेतना परमार्थ तक जाती ही नहीं, वह स्वार्थ तक ही सीमित रह जाती है। व्यक्ति वैयक्तिक स्वार्थ साधना चाहता है। यही समूचे विश्व में हो रहा है। जिस समाज के व्यक्ति ने अपने वैयक्तिक स्वार्थ पर ध्यान अधिक दिया, वह समाज सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक– सभी दृष्टियों से पिछड़ गया। यदि एक अध्यापक छात्र पर पूरा ध्यान देता है तो छात्र का विकास होता है। यदि अध्यापक अपने स्वार्थ पर ध्यान देता है, स्व–केन्द्र और स्वार्थ–केन्द्रित रहता है तो उसके स्वार्थ के कारण पूरे समाज को नुकसान होता है और स्वयं भी उस नुकसान से बच नहीं सकता।

3.6.2 परस्परता की श्रंखला

जिस समाज में ऐसा चिंतन होता है कि लाभ लिया जाय, पर कुछ दिया न जाए, वह समाज विघटित हो जाता है, यह स्वार्थ–परायणता है। इस स्वार्थ का परमार्थीकरण परस्परता के सिद्धांत पर किया जा सकता है। परस्परता की बहुत लंबी श्रृंखला है। आदमी एक दूसरे से इतने जुड़े हुए हैं कि उनका विस्तार सीमा पार गया है। इस स्थिति में जो व्यक्ति केवल अपनी ही बात सोचता है, अपना ही स्वार्थ देखता है, दूसरों की ओर से आंखे मूंद लेता है, ऐसा अज्ञान के कारण होता है, इसमें शिक्षा भी कारण बनती है। क्योंकि उसने परस्परता की चेतना को जगाया नहीं।

3.6.3 संवेदनशीलता

सामाजीकरण का दूसरा घटक है– संवेदनशीलता का विकास। जब तक यह सूत्र नहीं जुड़ता, तब तक सही अर्थ में समाज बनता ही नहीं। संवेदनशीलता का अर्थ है– एक दूसरे के कष्ट में सहभागिता की अनुभूति। जब यह समाज में आती है तब नैतिकता और प्रमाणिकता का विकास होता है और क्रूरता कम होती है। संवेदनशीलता का सूत्र जब टूट जाता है तब क्रूरता, अप्रामाणिकता, अनैतिकता, मिलावट आदि बुराइयां बढ़ती हैं। जब आदमी संवेदनशील नहीं होता तब वह दूसरों को कष्ट देने में संकोच नहीं करता। जिस व्यक्ति में यह भावना होती है कि दूसरों को कष्ट देने का अर्थ है स्वयं को कष्ट देना, वह आदमी कभी बुराई नहीं कर सकता, धोखा नहीं दे सकता, क्रूर व्यवहार नहीं कर सकता। जब यह चेतना सिकुड़ जाती है, तब कोई भी क्रूर कर्म करने में हिचकिचाहट नहीं होती। संवेदनशीलता है– एक दूसरे के साथ एकात्मकता का व्यवहार करना, तादात्म्य की अनुभूति के लिए व्यक्तित्व का परिष्कार करना।

3.7 जीवन विज्ञान : परिष्कार की प्रक्रिया

संवेग वैयक्तिक तत्त्व है। इसका परिष्कार करना बहुत जरूरी है। संवेग के परिष्कार का अर्थ है– निषेधात्मक भावों का परिष्कार । क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, घृणा– ये सब निषेधात्मक भाव हैं। विधायक भावों का जितना विकास होगा, उतना ही संवेदनशीलता का सूत्र आगे बढ़ेगा। आनुवंशिकता का परिष्कार भी संवेदन–परिष्कार के द्वारा किया जा सकता है। आनुवंशिकता का प्रभाव व्यक्ति के चरित्र, नैतिकता और

मानसिकता पर ज्यादा होता है। नैतिकता आनुवंशिकता से प्रभावित होती है। संवेग–परिष्कार के द्वारा इसका भी परिष्कार किया जा सकता है। प्रश्न होता है– संवेगों का परिष्कार कैसे किया जाए? मनोविज्ञान ने संवेगों की विस्तृत व्याख्या की है और व्यक्ति संवेगो से कितना प्रभावित होता है, यह भी विस्तार से बताया है। किंतु संवेगों का परिष्कार कैसे किया जाए– इसकी व्याख्या मनोविज्ञान की अपेक्षा अध्यात्म, धर्म और योग में अधिक उपलब्ध है। कठिनाई यह है कि आज की शिक्षा में अध्यात्म, धर्म और योग को अनावश्यक माना गया है। आवश्यक नहीं मानने का कारण है– धर्म की ज्योति संप्रदाय की राख से इतनी ढ़क गई है कि उसके अस्तित्व का बोध भी होना दुर्लभ हो गया है। साम्प्रदायिकता के कारण अध्यात्म के मूल तत्त्व नीचे दब जाते हैं। संप्रदाय को इतना महत्त्व मिल गया कि अध्यात्म की शुद्ध धारा विलुप्त हो गई। उसे पकड़ पाना भी कठिन हो गया। यह बहुत बड़ी समस्या है। इसका समाधान सूत्र है– संवेग को संतुलित, व्यवस्थित और परिष्कृत करना। जीवन विज्ञान इन्हें परिष्कृत करने की परिष्कृत प्रक्रिया है।

3.7.1 परिष्कार के तत्व

भारत के ऋषि–मुनियों, आचार्यों और साधकों ने अतीत में ऐसे तत्त्वों को खोजा था, जिनके द्वारा संवेगों को परिष्कृत किया जा सके। संवेग बदलते हैं, उनका पष्किार होता है, संवेदनशीलता विकसित होती है। अध्यात्म के क्षेत्र में ऐसी घटनाओं का प्रचुर उल्लेख है। सभी धर्म–सम्प्रदायों में ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिनकी संवेदनशीलता अपूर्व थी। जिसमें संवेदनशीलता का विकास होता है, उसके मन में किसी प्रकार का छलावा नहीं होता। जब संवेदनशीलता जाग जाती है, तब समाज को सुधरने में समय नहीं लगता। नैतिकता, प्रामाणिकता और चरित्र–विकास सहज होने लगता है। जब तक भारत में संवेदनशीलता की प्रखरता थी, तब तक उसका चित्र बहुत सुन्दर था। बाहर से आने वाले यात्रियों ने भारत का चित्र प्रस्तुत करते हुए लिखा– भारत में घरों के ताले नहीं लगते। दरवाजे खुले रहते हैं। किसी को यदि चरित्र का शिक्षण लेना हो तो वह भारत आए और यहां से वह शिक्षा प्राप्त करे। संवेदनशीलता के विकास से ही ऐसा चित्र सम्भव है। जैसे–जैसे संवेदनशीलता कम हुई, वैसे–वैसे संवेग प्रबल हुए और अनैतिकता बढ़ी। शिक्षा जगत् का बहुत बड़ा काम है– संवेदनशीलता को विकसित करना।

3.7.2 मूल तत्त्व की विस्मृति

आज के विद्यालयों की विशाल योजनाएं हैं। उसमें भाषा, साहित्य, कला, विज्ञान, इतिहास, भूगोल– ये सारे विषय सिखाए जाते हैं, पर इनके साथ भावों के परिष्कार की बात नहीं है। इसे आवश्यक भी नहीं माना गया है। आज आवश्यक माना जाता है भाषा, साहित्य, कला आदि का अध्ययन जिससे अच्छी जीविका कमाई जा सके, बौद्धिक स्तर ऊंचा उठ सके, दूसरे राष्ट्रों के साथ अच्छा सम्पर्क स्थापित किया जा सके। व्यवसाय और सम्पर्क का विकास किया जा सकता है किन्तु मूल में जो चरित्र की कमी है, वह अन्य सब चीजों को खोखला बना डालती है। शिक्षाशास्त्रियों और शिक्षानीति का निर्धारण करने वालों ने अनेक योजनाएं बनाईं, अनेक प्रारूप तैयार किए, पर किसी में भी चरित्र–विकास की योजना सन्निहित नहीं की, संवेग–नियन्त्रण की योजना सम्मिलित नहीं की। इसका मतलब यह हुआ कि हमारी नींव कमजोर रह गई और उस कमजोर नींव पर बढ़िया मकान बन गया। पर वह मकान कभी भी धराशायी हो सकता है।

3.7.3 स्वामित्व का समाजीकरण

समाज में स्वामित्व भी अपेक्षित तत्त्व है। भूमि का स्वामित्व होता है, संपदा का स्वामित्व होता है, अन्यान्य पदार्थों का भी स्वामित्व होता है। स्वामित्व होना आवश्यक तत्त्व है। किन्तु जब उस स्वामित्व की सीमा नहीं होती तो वह समाज के लिए खतरनाक बन जाता है। स्वामित्व की सीमा होनी चाहिए, परिष्कार होना

चाहिए। शिक्षा के द्वारा स्वामित्व का समाजीकरण होना चाहिए। आज की जितनी आर्थिक समस्याएं हैं, वे स्वामित्व की समस्याएं हैं। भारत का यह प्राचीन सूत्र है– सम्पति सामाजिक होती है, वैयक्तिक नहीं। मार्क्स ने कोई नई बात नहीं कही। उनका भी सूत्र रहा– सम्पदा सामाजिक होती है। भारत के आचार्यों ने जो एक बात कही, वह मार्क्स भी नहीं कह पाया। भागवत का एक श्लोक हैः

यावद् भ्रियेत जठरं, तावत् युक्तं हि देहिनाम्।

योऽधिकं चाभिमन्येत, स स्तेनो वधमर्हति।।

जितने से पेट भरा जा सके, उस पर स्वामित्व करना ही विहित है। जो इससे अधिक संग्रह करता है, वह चोर है, वध्य है।

आज सारा झगड़ा स्वामित्व की परिधि में चल रहा है। शिक्षा का एक काम है– कि उसके द्वारा स्वामित्व की सीमा की चेतना जागृत हो। आज के आदमी का संस्कार तो यह है कि मै खांऊ, बेटा पोता भी खाए, इतना ही नहीं , सात पीढ़ियां भी उसका उपभोग करें। संस्कार तो सात पीढ़ियां का है और सरकार चाहती है कि स्वामित्व की उचित सीमा हो। इस स्थिति में आदमी संस्कार की बात मानेगा या सरकार की बात मानेगा? जब तक संस्कार नहीं बदलता, तब तक दो नंबर के खातों को और काले धन को नहीं रोका जा सकता। राजनेता कहते हैं– काला धन मिटना चाहिए। सचाई यह है, धन नहीं, मन होता है काला और मनुष्य का काला मन मिटना चाहिए। काले मन को मिटाए बिना काले धन को मिटाने की बात नहीं सोची जा सकती। जब तक मन काला है तब तक धन काला आता रहेगा, जाता रहेगा। उसे कोई कानून नहीं मिटा सकता। कानून के सामने आते ही प्रत्यक्षतः चलने वाली बुराई भूमिगत होकर चलने लगती है, बुराई सामने न हो– यह कानून का परामर्श है। कानून को आपत्ति होती है जब बुराई प्रकट में होती है, पकड. में आती है। किसी ने बुराई की, अपराध किया, गवाह नहीं मिला, तो वह अपराध से छूट जाएगा। कानून वहां पंगु बन जाता है। बुराई तभी मिट सकती है जब मन का कालापन मिटता है। मन के कालेपन को मिटाना शिक्षा का काम है।

3.7.4. स्वतंत्रता की सीमा

स्वतंत्रता की चेतना भी शिक्षा के द्वारा जगाई जाती है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं कि उस स्वतंत्रता के आधार पर व्यक्ति जो कुछ चाहे, कर सके। समाज में जीने वाला व्यक्ति पूर्णतः स्वतंत्र नहीं हो सकता। परतंत्रता भी उसके साथ जुड़ी रहती है। जहां एक से दो होते हैं, वहां परतंत्रता आ जाती है। समाज में सापेक्ष स्वतंत्रता हो सकती है। यह परतंत्रतायुक्त स्वतंत्रता है। जो व्यक्ति अहंकार के वशीभूत होकर यहां पूर्ण स्वतंत्रता का अर्थ खोजने लग जाता है, वह कठिनाई पैदा करता है। स्वतंत्रता की सीमा को समझना आवश्यक है। समाजीकरण का मूल आधार है– संवेगों का परिष्कार । यद्यपि संवेग वैयक्तिक होते हैं, फिर भी वे समाज को प्रभावित करते हैं। एक लड़के का गुस्सा पूरे परिवार को विघटित कर देता है। पिता का अहं और क्रोध पूरे राष्ट्र को विनाश के कगार पर ला खड़ा करता है। महामात्य चाणक्य ने लिखा है– जो नेता अपने संवेगों पर नियन्त्रण नहीं रख सकता, वह पूरे राष्ट्र को ले डूबता है। इसलिए यह आवश्यक है कि संवेगों का परिष्कार किया जाए। शिक्षा को इसका माध्यम बनाना चाहिए।

3.7.5 कोरी बौद्धिक शिक्षा के परिणाम

बौद्धिकता शिक्षा का एक अंग है, पर वह पूरा नहीं है। बौद्धिक विकास के साथ–साथ समाज के प्रति अपने दायित्व का बोध, मानवीय मूल्यों का विकास तथा व्यक्तिगत चरित्र का विकास भी आवश्यक है। कोरी बौद्धिकता से आदमी ज्यादा खतरनाक भी बन सकता है। आजकल बहुत सारे पढ़े लिखे लोग चोरी–डकैती में भी अपनी बौद्धिकता का उपयोग करते हैं, बल्कि अबौद्धिकों की अपेक्षा वे अपने धन्धे को ज्यादा दक्षता से चला

सकते हैं। आज यही सबसे बड़ी समस्या है। समाज तथा शासन तंत्र में बौद्धिक व्यक्तियों की भरमार है, पर केवल बौद्धिकता से काम नहीं चल सकता। उसके साथ–साथ चरित्र का भी विकास होना चाहिए। दोनों मिलकर ही पूर्ण व्यक्तित्व की रचना करते हैं।

3.8 जीवन विज्ञान : समन्वित शिक्षा पद्धति

आज तक शिक्षा का आधार मस्तिष्क का विकास रहा है, पर अब यह सिद्ध हो चुका है कि ग्रन्थि तंत्र ही हमारे सारे व्यवहारों का निदेशक है। मस्तिष्कीय ज्ञान की उपेक्षा नहीं की जा सकती, पर उसके साथ–साथ ग्रन्थि तंत्र के विकास के प्रयोगों को भी जोड़ना होगा। ये दोनों एक दूसरे के पूरक होंगे। जीवन–विज्ञान में योग, कर्मशास्त्र और धर्मशास्त्र इन तीनों का प्रशिक्षण जुड़ा है। आज की शिक्षा में फिजियोलोजी, एनोटोमी और साइकोलोजी का विशेष महत्व है। ये छह विषय मिलकर सम्पूर्ण और समन्वित जीवन निर्माण करते हैं। हम चाहते हैं कि छात्रों में एकाग्रता, इच्छाशक्ति तथा संकल्प का विकास हो। हमारे यहां एकाग्रता, संकल्प तथा इच्छा शक्ति का अभाव है। जब तक इनका विकास नहीं हो जाता तब तक देश आगे नहीं बढ़ सकता। आज शिक्षा में शारीरिक और मानसिक विकास की तो शिक्षा दी जाती है पर भावात्मक विकास की बात नहीं की जाती, जबकि तीनों में सबसे मूल्यवान यही है। इसीलिए तो मूल में भूल हो रही है। जीवन विज्ञान इसी भूल को सुधारने का प्रयत्न है। हमारा यह उद्देश्य नहीं है कि धर्म ग्रंथों के उदाहरण न लें। पर हम उन्हें पर्याप्त नहीं मानते। वे प्रेरक तो बन सकते हैं, पर बदलाव के वाहक नहीं बन सकते और आज तो प्रश्न ही यह है कि जीवन में बदलाव कैसे आये? जब तक हारमोन व उनके स्त्रावों को नहीं बदला जाएगा तब तक विकास अधूरा व एकांगी रहेगा। हमारा ध्यान इस ओर क्यों नहीं जाता कि आंतरिक बदलाव के बिना सारे प्रयत्नों का केवल क्षणिक प्रभाव ही हो सकता है। धर्म शास्त्रों में जो समाधान दिए गए हैं, वे एक परिस्थिति से जुड़े हुए हैं। वे समाधान ही एकमात्र समाधान नहीं हो सकते। इसका अर्थ यह नहीं है कि शास्त्रों के समाधान गलत हैं, पर समस्याएं यदि आज की हैं तो उनके समाधान भी इसी संदर्भ में खोजे जाने चाहिए। आज पदार्थ विज्ञान, मनोविज्ञान, शरीर विज्ञान जिस तरीके से विकसित हो गये, उनसे भी समस्याओं के समाधान मिल सकते हैं। जहां तक धर्म शास्त्रों से समाधान मिलें, मिल जाएं, पर धर्म ग्रन्थ के नाम पर आधुनिक उपलब्धियों से परहेज नहीं किया जाए, यह जीवन विज्ञान का स्पष्ट मत है।

अज्ञान और मूर्च्छा दो भिन्न तत्व हैं। अज्ञान से केवल इतना ही होता है कि व्यक्ति को ज्ञान नहीं होता, पर मूर्च्छा से व्यक्ति का व्यवहार और चरित्र भी प्रभावित होता है। आज शिक्षा का सारा आयोजन मनुष्य के अज्ञान को गिराने का, उसे आंकड़ों का ज्ञान करा देने मात्र का है, पर मूर्च्छा को हटाने का कोई उपाय नहीं है। ऐसी शिक्षा से मनुष्य में अनुशासन नहीं आ सकता। इसके लिए शिक्षा को द्विआयामी बनाना पड़ेगा और ये दोनों आयाम परस्पर पूरक होंगे। नैतिक शिक्षण को अलग विषय के रूप में थोपने के स्थान पर वह पाठ्यक्रम का ही एक अंग होना चाहिए। प्रायोगिक प्रशिक्षण के लिए शिविर पद्धति का उपयोग किया जा सकता है। प्रायोगिक प्रशिक्षण से जितना निर्माण होता है उतना सैद्धान्तिक शिक्षा से नहीं हो सकता।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली ने अनेक अच्छे–अच्छे व्यक्तित्व दिये हैं। साइकोलोजी, टेक्नोलोजी, इन्जीनियरिंग आदि के क्षेत्र में अनेक विशेषज्ञ सामने आए हैं। आज जितनी कुशलता प्रकट हुई है उतनी शताब्दियों में नहीं हुई। इस दृष्टि से शिक्षा को दोषपूर्ण नहीं माना जा सकता, पर इसमें एक कमी है। वह है जीवन विज्ञान की शिक्षा का अभाव। यदि इसे शिक्षा के साथ जोड़ा जाए तो शिक्षा प्रणाली सब दृष्टियों से पूरी हो जायेगी। शिक्षा में व्याप्त असन्तोष को मिटाने के लिए व्यक्तिगत धरातल पर चेतना को जगाने के कुछ उपक्रम किये जाएं। आज शिक्षा वस्तुनिष्ठ बन रही है, उसे स्वनिष्ठ बनाया जाए। दूसरे शब्दों में, चरित्रनिष्ठ बनाया जाये। जिन देशों ने आंतरिक समस्याओं पर ध्यान दिया वहां कार्य दक्षता में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। इस दक्षता के पीछे कोरी

पुस्तकीय शिक्षा ही नहीं रही है, ध्यान का भी महत्वपूर्ण हाथ रहा है। जापान में झेन संप्रदाय के नाम से ध्यान का एक संप्रदाय चलता है। वहां केवल छात्रों को ही नहीं, सैनिकों को भी ध्यान का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसीलिए हमारे यहां जो कार्य छह घण्टे में किया जाता है, वह वहां तीन घण्टे में हो जाता है। यह शिक्षा का प्रायोगिक रूप है। यह सिद्ध हो चुका है कि पीनियल, थायराइड, पिच्यूटरी आदि ग्रन्थियां मनुष्य के चरित्र को प्रभावित करती हैं। दस बारह वर्ष के बच्चों की पीनियल ग्रन्थि बहुत सक्रिय होती है। इसी से उनके जीवन में पवित्रता रहती है ज्यों ज्यों वे बड़े होते हैं, उनकी यह ग्रन्थि निष्क्रिय होती जाती है। यदि प्रायोगिक स्तर पर उस ग्रथि को सक्रिय बनाया जा सके तो उन्हें बहुत पवित्र व अनुशासित रखा जा सकता है। इसके लिये आवश्यक है कि छात्रों को न केवल शरीरशास्त्र का अध्ययन ही कराया जाये, अपितु उनके ऐसे साप्ताहिक शिविर लगाये जाएं , जिनमें उनकी ग्रंथियों को सक्रिय करने के लिए प्रायोगिक स्तर पर काम किया जा सके। इससे एक नयी पीढी का निर्माण होगा। सब लोग चाहते हैं, अनुशासनहीनता न हो। पर बिना प्रयोगों के केवल उपदेश या प्रशिक्षण के द्वारा उसे नहीं मिटाया जा सकेगा। हम यह नहीं कहते कि बौद्धिकता का विकास न हो, पर साथ ही साथ उस पर नियन्त्रण करने के लिए अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों को जगाना पड़ेगा। उन पर ध्यान देकर ही अपराधी वृत्तियों पर अंकुश लगाया जा सकता है। छोटे बच्चे सहयोग करते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ है कि अभी तक उनका बौद्धिक विकास नहीं हुआ है। जब बौद्धिक विकास हो जाता है, वे आपका सहयोग नहीं करते। इसीलिए तो केवल बौद्धिक विकास खतरनाक है। आज हमारे सामने चुनाव का प्रश्न है। एक और बौद्धिक विकास करने वाली शिक्षा है, दूसरी ओर धर्म शास्त्रों की शिक्षा है। केवल बौद्धिक शिक्षा या केवल धर्म शास्त्रों की शिक्षा बड़ा परिवर्तन नहीं कर सकेगी। वह धर्म भी हमारा बहुत अधिक मार्ग–दर्शन नहीं करेगा, जो विज्ञान की कसौटी पर नहीं कसा जा सके। आज विज्ञान ने हमारे सामने जो बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत की है, उसकी छाया में धर्म शास्त्रों की शिक्षाओं तथा पुस्तकीय शिक्षाओं का प्रायोगिक रूप में उपयोग किया जा सके तो हम नयी पीढ़ी का निर्माण कर सकेंगे, सर्वांगपूर्ण स्वस्थ व्यक्तियों का निर्माण कर सकेंगे। हम अपनी जीवन की धारा को दो तटों के बीच चला रहे हैं। एक है समस्या का तट और दूसरा है अपेक्षा का तट। अनेक समस्याएं हैं, जैसे हिंसा, तनाव, मानसिकता, अनैतिकता, मिथ्यादृष्टिकोण आदि। इनमें सबसे बड़ी समस्या है– मिथ्यादृष्टिकोण।

3.9 जीवन विज्ञान की फलश्रुति : दृष्टिकोण का परिवर्तन

शिक्षा जगत् को दिशा दर्शन–दृष्टिकोण बदल सकता है, यह हमारी आस्था है। जीवन विज्ञान ने इस आस्था को जगाया है। यह आस्था भी दृढ़मूल हुई है कि आदत, स्वभाव और व्यवहार में भी परिवर्तन आ सकता है। प्राचीन आचार्यों ने प्रत्येक वृत्ति को बदलने के लिए भिन्न–भिन्न उपाय निर्दिष्ट दिए हैं। वे एकत्रित नहीं है, इधर उधर बिखरे पड़े हैं। जीवन विज्ञान शिक्षा की पूरक कार्य पद्धति है। मूल्यपरक शिक्षा को यह पूरी करती है। शिक्षा में जो भावात्मक परिवर्तन तथा चरित्र निर्माण का पक्ष गौण है, उसकी यह पूर्ति करती है। मूल्यपरक शिक्षा : सिद्धान्त और प्रयोग– हमारे दो जगत् हैं। एक है– भीतर का जगत् और दूसरा है– बाहर का जगत्। भीतर का जगत् बहुत सूक्ष्म है और बाहर का जगत् स्थूल है। बाहर के जगत् से व्यवहार को नापा जा सकता है, देखा जा सकता है। जैसा भाव होता है वैसा व्यवहार होता है। भाव का जगत् सूक्ष्म है उसे पकड़ना बहुत कठिन है। जैसा स्त्राव होता है वैसा भाव होता है, वैसा ही व्यवहार करते हैं। भाव और व्यवहार की संवादिता नहीं होती। हमें व्यवहार को बदलना है। विद्यार्थी के व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिए ही मूल्यपरक शिक्षा की जरूरत है। कुछ समय पूर्व यह नैतिक शिक्षा के नाम से जानी जाती थी। आज नैतिक शिक्षा मूल्यपरक शिक्षा की अविधा से विकसित और प्रतिष्ठित हो गई।

जीवन में मूल्यों का अवतरण हो, शिक्षा के साथ मूल्यों का बोध हो तथा विद्यार्थी के जीवन में मूल्यों की प्रतिष्ठा हो, यह वर्तमान की शिक्षा के साथ सुचिंतित विचार चल रहा है। सब चाहते हैं कि विद्यार्थी के जीवन में मूल्यों की प्रतिष्ठा हो। सत्य का मूल्य है। इसके दो पहलू हैं– भावात्मक और व्यवहारात्मक। सिद्धांत का ज्ञान कराया जाता है किन्तु परिवर्तन की बात बहुत कम होती है। जितने सिद्धान्त हैं, जितना वाङ्मय है, जितने उपदेश हैं, उनका काम है जानकारी दे देना। किंतु भावात्मक परिवर्तन हो या व्यवहार बदले, ऐसा बहुत कम होता है। कभी किसी की बात सुनकर व्यक्ति का मस्तिष्क झंकृत हो उठता है और वह बदल जाता है, पर इसे सामान्य घटना नहीं माना जा सकता। श्रवण, प्रवचन, वाणियां, सिद्धांत आज ये सब देश काल प्रतिबद्ध हो गए। धर्म स्थान पर भगवान की पूरी चिंता करना और दूकान, घर या कार्यालय में उसे भूल जाना यह आज की प्रवृत्ति है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कोरा सिद्धांत उतना उपयोगी नहीं है, जितना प्रयोग के साथ वह उपयोगी बनता है। भाव परिवर्तन के लिए सिद्धांत और प्रयोग दोनों का समन्वय आवश्यक है। सिद्धांत को जाने बिना प्रयोग हो नहीं सकता। इसलिए ज्ञान और क्रिया का समन्वय होना चाहिए। 'पढमं नाणं तओ दया'– पहले ज्ञान और फिर क्रिया, पहले जानो फिर उसका अभ्यास करो। सिद्धान्त या मूल्य बोध को व्यर्थ नहीं माना जा सकता। उसकी सार्थकता है। यदि वह कोरा या अकेला है तो सार्थकता आधी हो जाती है। वह पूरी होती है अभ्यास या प्रयोग के द्वारा। पक्षी के दो पंख होते हैं। वह दाएं पंख से उड़ता है या बाएं से? उत्तर होगा– न वह केवल दाएं पंख से उड़ता है और न वह केवल बाएं पंख से उड़ता है। वह दोनों से उड़ान भरता है। एक पैर से चला जा सकता है, पर वह लंगड़ापन है। दोनों पैरों से ही ठीक चला जा सकता है। सिद्धांत और अभ्यास–ये दो पंख हैं। इनके सहारे से ही ठीक उड़ान भरी जा सकती है। ये दो पैर हैं, इनके सहारे ही ठीक चला जा सकता है।

4. अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय

जीवन का मूल्य है समन्वय। उसका विकास होना चाहिए। एक ओर वैज्ञानिक है और दूसरी ओर आध्यात्मिक या धार्मिक। यह समन्वय का दूसरा पक्ष है। दोनों में बहुत दूरी है। वैज्ञानिक समझता है कि धर्म कोरा बकवास है और धार्मिक समझता है कि वैज्ञानिक नास्तिक है, व्यर्थ की बातें प्रचारित करता है। किन्तु चिन्तनशील लोग मानते हैं कि अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय होना चाहिए। आज के विद्यार्थी में यह दृष्टिकोण विकसित होना चाहिए। विनोबा बहुत बार कहते– अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय होना चाहिए। आचार्य तुलसी ने इस बात पर बहुत बल दिया और समन्वय की बात को आगे बढ़ाया । जीवन विज्ञान के पाठ्यक्रम में अध्यात्म और विज्ञान का पूरा समन्वय है। जीवन विज्ञान प्रशिक्षण की परिकल्पना है– आध्यात्मिक+वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण हो। कोरा आध्यात्मिक व्यक्तित्व या कोरा वैज्ञानिक व्यक्तित्व बहुत लाभदायी नहीं होता। दोनों से समन्वित व्यक्तित्व बहुत लाभप्रद हो सकता है। जीवन विज्ञान का विद्यार्थी बहुविध ज्ञान विधाओं का ज्ञान प्राप्त करता है, पर साथ ही साथ प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में पूरे प्रयोग भी करता है। यह है ज्ञान और क्रिया की समन्विति। जैसे मेडिकल साइन्स का विद्यार्थी जानता है कि अमुक अमुक ग्रंथियां कहां हैं? उनका कार्य क्या है? इसका उसे पूरा ज्ञान होता है। वह डॉक्टर बन सकता है। पर आध्यात्मिक+वैज्ञानिक नहीं बन सकता। हमें उनके आध्यात्मिक मूल्य की जानकारी भी होनी चाहिए। पिनियल का कार्य शारीरिक है, किन्तु उस पर ध्यान–एकाग्रता करने से क्रोध शांत हो सकता है। मेडिकल साइन्स में यह विषय स्पष्ट नहीं है। यह एक रहस्य की बात है। जैसे–जैसे विज्ञान ने नई खोजें शुरू की हैं, वैसे–वैसे नई बातें सामने आ रही हैं। यह स्पष्ट है कि भाव के द्वारा व्यवहार को और व्यवहार के द्वारा भाव को बदला जा सकता है। हमें विद्यार्थी के व्यवहार को बदलना है तो कुछ प्रयोग करने होंगे। प्रत्येक व्यक्ति में सोचने समझने की शक्ति होती है और जब कुछ प्रयोग किए जाते हैं तब चेतना बहुत शीघ्र जागृत हो जाती है। बुद्धि परीक्षण के अनेक प्रयोग किए जाते हैं। उसी प्रकार आदत के परिवर्तन के लिए भी अनेक प्रयोग किए जा सकते हैं।

मूल्यों का विकास प्रयोग और अभ्यास के द्वारा हो सकता है। इसलिए प्रयोगों को विकसित किया जाए। मूल्य विकास के लिए ये दोनों पद्धतियां हैं– व्यवहार के द्वारा भावों को बदलना या भावों के द्वारा व्यवहार को बदलना। जब भाव परिवर्तन होता है तब व्यवहार अवश्य बदलता है। जैसा भाव होता है, वैसा व्यवहार बनता है। इसके बीच में विज्ञान की एक कड़ी और जुड़ती है कि भाव द्वारा रसायन पैदा होता है। रसायन भाव पैदा करता है। प्रत्येक व्यवहार के पीछे एक रसायन पैदा होता है। क्रोध का रसायन भिन्न होता है और क्षमा का रसायन भिन्न होता है। जितने भाव हैं उतने ही रसायन हैं। भाव के द्वारा रसायन बदलता है और रसायन के द्वारा व्यवहार।

मूल्यपरक शिक्षा– मूल्यपरक शिक्षा के विषय में दो बातों का ध्यान देना चाहिए–

1. सिद्धांत और प्रयोग का समन्वय
2. भाव परिवर्तन के लिए अनुप्रेक्षा के प्रयोग और व्यवहार परिवर्तन के लिए व्यावहारिक प्रयोग।

ये समन्वित प्रयोग होने चाहिए। प्रयोग के बिना आदतें बदलती नहीं। विद्यार्थियों को रचनात्मक विकल्प देने से उनमें परिवर्तन घटित होने लगता है। संतुलन सिद्धान्त और प्रयोग के समन्वय से ही संभव है। जीवन विज्ञान इसकी पूर्ति का उपक्रम है। इससे शिक्षा का क्षेत्र तेजस्वी बनेगा और नए व्यक्तियों का निर्माण होगा।

5. गांधी की मूल्यपरक शिक्षा– नयी तालीम

गाँधीजी ने भारत की शिक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने के लिए अपने कई मौलिक सुझाव दिये जिन्हें नयी तालीम (नई शिक्षा) में स्थान दिया गया। उनकी पुस्तकों 'Towards New Education' तथा 'Basic Education' में नयी तालीम के निम्नांकित तत्त्वों को प्रस्तुत किया गया था–

- नई तालीम से हममें आशावाद का संचार होना चाहिए, हमारी निर्धनता के स्थान पर धन कमाने के साधन स्थापित होने चाहिए। नौकरी के स्थान पर रोजगार मिलना चाहिए और भेदभाव के स्थान पर एकता होनी चाहिए।
- सारी पढ़ाई किसी मूल उद्योग–धन्धे से सम्बन्धित होनी चाहिए।
- हाथों के द्वारा मस्तिष्क का विकास किया जाना चाहिए।
- शिक्षा को भले और बुरे के मध्य अन्तर करना सिखना चाहिए।
- नई तालीम एक नयी सामाजिक व्यवस्था को प्रसारित करने के लिए है।
- आरम्भ से ही बालकों को अंग्रेजी सिखाने से उन पर अनावश्यक बोझ पड़ता है। ऐसा नहीं किया जाना चाहिए।
- एक राष्ट्रीय शिक्षक को अपने क्षेत्र में स्वराज का मिशनरी बनना चाहिए।
- नई तालीम की जड़ें भारतीय संस्कृति और लोगों के जीवन में होनी चाहिए।
- भारत कभी भी धर्मविहीन नहीं होगा। सभी धर्मों और मतों में सद्भाव और एकता होनी चाहिए।
- नई तालीम का आध्यात्मिक पक्ष यह है कि ज्ञान और कर्म एक है।
- स्वराज का अर्थ सत्ता का परिवर्तन नहीं, अपितु राजनैतिक नियंत्रण के बदले सेवा है।
- ब्रह्मविद्या (आध्यात्म) और उद्योग को नई शिक्षा में शामिल करना होगा।
- नई तालीम को सरकार निरपेक्ष (सरकार के विचारात्मक नियन्त्रण से परे) होना चाहिए।
- विश्वविद्यालय पहुँचने के पूर्व शिक्षा आत्मनिर्भरता के लिए होनी चाहिए। विश्वविद्यालय स्तर पर वह आत्मनिर्भरता के माध्यम से होनी चाहिए।

गाँधीजी ने नई शिक्षा को 'समग्र शिक्षा' (Total Education) भी कहा अर्थात् शिक्षा जीवनपर्यन्त चलने वाली होनी चाहिए। यह गर्भाधान के क्षण से लेकर मृत्यु के अन्तिम क्षण तक चलने वाली होनी चाहिए। अतः उन्होंने इस शिक्षा के निम्नांकित सोपान बताये थे–

1. **पूर्व बुनियादी शिक्षा**– इसमें चार उप सोपान हैं–
   1) गर्भाधान से जन्म तक, (2) जन्म से ढाई वर्ष तक, (3) ढाई से चार वर्ष तक, (4) चार से सात वर्ष तक।
   पूर्व बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम में सफाई, रचनात्मक क्रियाएँ, यथा–1) बर्तन व खिलौने तैयार करना तथा रंग का काम, (2) कताई, (3) बागवानी तथा भाषा, गणित, सामाजिक विज्ञान का परिचय तथा सांस्कृतिक क्रियाएँ, यथा–(1) संगीत, (2) चित्रकला, और सामाजिक क्रियाएँ जैसे उत्सव, मेले, त्यौहार, नाटक आदि में भाग लेना, उनकी तैयारी करना आदि रखे गये थे।
2. **बुनियादी शिक्षा**– (सात वर्ष से पन्द्रह वर्ष तक की आयु हेतु)
3. **उत्तर बुनियादी शिक्षा–(**पन्द्रह वर्ष से अट्ठारह वर्ष तक की आयु हेतु)
4. **उत्तम बुनियादी शिक्षा–**(विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा)
5. **प्रौढ़ शिक्षा–**इसमें (1) उद्योग, (2) सफाई व स्वास्थ्य, (3) साक्षरता, (4) ग्राम संगठन व समाज पुननिर्माण तथा (5) ग्राम संस्कृति का अध्ययन प्रस्तावित किया गया था।

गाँधीजी का विचार था– उपरोक्त सभी सोपानों की शिक्षा को तीन प्रकार के माध्यमों–(1) प्राकृतिक वातावरण (Natural Environment), (2) सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण (Social and Cultural Environment) तथा उद्योग या औद्योगिक वातावरण (Craft Envrionment) की क्रियाओं के द्वारा प्रदान किया जाना चाहिए।

इस सभी सोपानों में से सबसे अधिक जोर बुनियादी शिक्षा पर दिया गया था।

5.1 बुनियादी शिक्षा (Basic Education) की पृष्ठभूमि

गाँधीजी ने अपने दक्षिण अफ्रीका के प्रवास काल में फीनिक्स संस्थान और टॉलस्टाय आश्रमों में भारतीय बालकों को पढ़ाने सम्बन्धी अपने अनुभवों और तत्पश्चात् भारत में साबरमती आश्रम में किये गये अनुभवों के आधार पर अपने मौलिक विचार बनाये थे।

ऐतिहासिक दृष्टि से बुनियादी शिक्षा का जन्म 31 जुलाई,1937 को हुआ जब महात्मा गांधी ने 'हरिजन' में अपना प्रथम ऐतिहासिक शिक्षा सम्बन्धी लेख लिखा था। परन्तु विचारों की दृष्टि से बुनियादी शिक्षा का उदय दक्षिण अफ्रीका में हुआ जबकि गांधीजी के सम्मुख बालकों की शिक्षा का प्रश्न प्रस्तुत हुआ था। उस समय भी उनका विचार था कि प्रारम्भिक अवस्था में घर पर ही शिक्षण सम्बन्धी बहुत–सी सम्भावनाएं हैं। अतः इस कार्य को पूर्णतया विद्यालय को सौंपना उचित नहीं है। उनका यह भी विचार था कि एकमात्र बौद्धिक शिक्षा ही सम्पूर्ण शिक्षा नहीं है।

यह शिक्षा का एक महत्वपूर्ण अंग है। उन्होंने अपनी आत्मकथा (तृतीय भाग, परिच्छेद पांच) में इस आरोप का उत्तर दिया है जिसमें उनसे कहा गया था कि उन्होंने अपने बच्चों की बौद्धिक शिक्षा के प्रति उदासीनता दिखायी थी।

''मैं समझता हूं कि यदि मैंने उन्हें उनकी इच्छानुसार किसी विद्यालय में प्रविष्ट करा दिया होता तो जो भी अनुभव उन्होंने प्राप्त किये हैं, अपने माता–पिता का जो सम्पर्क उन्हें मिला है, स्वतन्त्रता सम्बन्धी जो अनुभव उन्होंने प्राप्त किये हैं वे उन्हें न मिले होते। यदि मैंने उन्हें अपने से पृथक् करके उनकी शिक्षा का प्रबन्ध विदेशों

में किया होता अथवा दक्षिणी अफ्रीका के किसी स्कूल में किताबी शिक्षा दिलायी होती तो जो विश्वास मैंने उनमें केन्द्रित किया है अथवा सदा जीवन एवं सेवा भाव का जो पाठ उन्होंने ग्रहण किया है वह सम्भव नहीं होता। इसके विपरीत उनका कृत्रिम जीवन मेरे राष्ट्रीय कार्य में बाधा स्वरूप होता।''

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गांधीजी ने 1887 ई. में ही वर्तमान शिक्षा–प्रणाली के अराष्ट्रीय एंव कृत्रिम स्वरूप के विरूद्ध अपनी धारणाएं बनायी थीं। उन्होंने कहा था–''मैं नहीं समझता कि वे बच्चे मनुष्यता की दृष्टि से मेरे बच्चों से अधिक आगे बढ़े हुए हैं अथवा मेरे बच्चों को उससे कुछ सीखना शेष है।''

उनका यह दृष्टिकोण जीवन की प्रयोगशाला से शाश्वत सत्य को खोज निकालने का दृष्टिकोण है और उस त्याग एवं साहस का द्योतक है जो देश के स्वतन्त्रता संग्राम के लिए आवश्यक था। उन्होंने स्वयं लिखा है– ''इस समस्या पर विचार–विमर्श करने का मेरा ध्येय यह है कि जो मानव–जीवन के विकास का अध्ययन करते हैं वे घर की शिक्षा और विद्यालय की शिक्षा के अन्तर को समझ सकें और मां–बाप की शिक्षा के फलस्वरूप बालकों के जीवन में जो परिवर्तन होता है उसे भी ठीक प्रकार से समझ लें।''

इसके अतिरिक्त सत्य के जिज्ञासु इस प्रयोग से इस बात को देख सकते हैं कि सत्य के प्रति उनकी निष्ठा उन्हें कहां ले आती है और स्वतन्त्रता की देवी अपने भक्तों से कितने बलिदान मांगती हैं। यदि मैंने इस विचार को अपने सम्मुख न रखा होता तो मैंने उस वस्तु की महत्त्वाकांक्षा न की होती, जिसे हमारे भारतीय बच्चे नहीं प्राप्त कर सकते और उन परिस्थितियों में मैंने अपने बच्चों के लिए बौद्धिक (Literary) शिक्षा का प्रबन्ध किया होता । जहां प्रश्न बौद्धिक (साहित्यिक) शिक्षा एवं स्वतन्त्रता का हो, वहां कौन नहीं कह सकता कि स्वतन्त्रता बौद्धिक शिक्षा से सहस्त्र गुना अच्छी है?''

इस दृढ़ विश्वास ने ही उन्हें असहयोग आन्दोलन के दिनों में छात्रों से विद्यालय छोड़कर बाहर आने के लिए अपील करने की प्रेरणा दी, क्योंकि गांधीजी के शब्दों में बौद्धिक शिक्षा पाकर गुलाम रहने की अपेक्षा तो निरक्षर रहकर सड़क के पत्थर तोड़ना कहीं अच्छा है, गांधीजी उस समय भी मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने के प्रबल समर्थक थे। श्री पोलक से उनकी जो चर्चा हुई थी उसमें उन्होंने बताया था कि अंग्रेजी माध्यम के द्वारा दी जाने वाली शिक्षा बच्चों को उनकी धार्मिक एवं सामाजिक सत् परम्पराओं से वंचित करती है और उस सीमा तक उन्हें देश–सेवा एवं मानवता की सेवा के अयोग्य बनाती है।

दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी ने बाजार से रोटी मंगवाना बन्द करके घर पर ही खमीर की रोटी बनवाना प्रारम्भ किया, परन्तु जब इसके लिए भी हाथ के पिसे आटे की आवश्यकता पड़ी तो उन्होंने हाथ से आटा पीसने की एक चक्की खरीद ली, इसके लिए उन्होंने अपने बालकों से कार्य लेना प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि चक्की एक हाथ से नहीं चल सकती थी।

उन्होंने इस बात को भी खोज निकाला था कि बालकों को कार्य करने में विशेष आनन्द आता है। अफ्रीका में डरबन व जोहान्सबर्ग में पीसने के सम्बन्ध में अपने अनुभवों का जिक्र करते हुए उन्होंने लिखा है– '' यह व्यायाम बच्चों के लिए बहुत उपादेय सिद्ध हुआ है। मैंने बालकों को अपने लिए यह कार्य करने के लिए कभी बाध्य नहीं किया था। वे स्वेच्छा से ही यह कार्य करते थे मानो उनके लिए यह खेल हो। नटखट बालकों को, जिनसे मुझे अधिक काम पड़ता था इन कार्यों में बड़ा आनन्द आता था। मैंने ऐसे बहुत कम बच्चों को देखा था जो कहते थे कि 'अब मैं थक गया हूं।''

गांधीजी ने अपने बच्चों को छोटे से छोटे से लेकर बड़े से बड़े काम को करने की प्रेरणा दी, जिसका परिणाम गांधीजी के शब्दों में यह हुआ कि '' एक भी लड़के को पाखाना साफ करने की घिन नहीं रह गयी और आरोग्य के साधारण नियमों को वे जान गये।''

गांधीजी को अपने बच्चों को अक्षर ज्ञान देने का अवसर कम मिलता था। वे ऑफिस तक पैदल ही अपने बच्चों को ले जाते और वापस लाते थे। पांच मील के लम्बे मार्ग में वे बच्चों को अक्षर ज्ञान देते तथा बच्चों के लिए यह सहज व्यायाम भी हो जाता था। दफ्तर में भी वे मुवक्किलों और मुंशियों से मिलते–जुलते, कुछ पढ़ने को दिया जाता तो पढ़ते तथा बाजार से सौदा भी लाते। गांधीजी ने सदैव जीवन की व्यावहारिक शिक्षा पर बल दिया।

गाँधीजी का विश्वास था– चरित्र भी बालकों को अपने माँ–बाप से विरासत में मिलता है।

अफ्रीका में विविध भाषाभाषी बच्चों के अभिभावक के रूप में उनके विचार शिक्षा के स्वरूप के विषय में बने थे। उन्होंने अनुभव किया कि एक अच्छे विद्यालय के लिए प्रथम आवश्यकता यह है कि वह अच्छा घर भी हो। साथ ही उन्होंने यह भी अनुभव किया कि बौद्धिक तथा अन्य प्रकार की शिक्षा की भित्ति दृढ़ चरित्र एवं शारिरिक गठन के आधार पर बनायी जानी चाहिए। श्रम की महत्ता के सम्बन्ध में भी उनके विचार स्पष्ट रूप से बन गये थे।

उनके यहां सफाई से लेकर भोजन बनाने तक का सारा काम वहां के निवासियों को स्वयं करना पड़ता था। प्रत्येक दिन जो बच्चे रसोईघर में काम नहीं करते थे उन्हें खेत में बीज बोने, पौधे लगाने आदि का कार्य करना पड़ता था। उन्होंने इस बात को देखा कि बच्चे इस प्रकार के कार्यों में रूचि लेते थे और इससे उनका स्वास्थ्य भी सुधरता था। कभी–कभी कार्य कराने के लिए बच्चों से साधारण सख्ती से भी काम लेना पड़ता था परन्तु जब भी ऐसा करना पड़ता था, बच्चों को यह बात बता दी जाती थी कि '' जिस समय कोई कार्य में लगा हो उस समय खेलना एक अच्छी आदत नहीं है।''

वहां उन्होंने इस बात का भी अनुभव किया कि शारीरिक व्यायाम किसी उद्योग की शिक्षा के द्वारा भी किया जा सकता है। वहां इसी कारण चर्म–कला एवं काष्ठ–कला के उद्योगों को प्रारम्भ किया गया।

5.2 फीनिक्स संस्थान

डरबन व जोहान्सबर्ग में घर पर अपने बच्चों के साथ गांधीजी ने जो शिक्षण सम्बन्धी प्रयोग किये उनमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली। इन प्रयोगों को बाद में उन्होंने बड़ा रूप प्रदान किया। अफ्रीका से 'इण्डियन ओपीनियन' नामक एक पत्र निकलता था जो भारतीयों के अधिकारों के लिए काफी सचेष्ट था। गांधीजी का इस पत्र के संचालन में विशेष हाथ था। सन् 1904 में उक्त पत्र के कर्मचारियों के लिए उन्होंने फीनिक्स संस्थान की स्थापना की। यहां के निवासियों को बड़ा अनुशासित एवं सात्विक जीवन व्यतीत करना पड़ता था जिसमें ब्रह्मचर्य, सादापन, सहभावना, प्रेम, शरीर श्रम, निष्ठा आदि सद्गुण सम्मिलित थे। अपने शिक्षण सम्बन्धी सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने के सम्बन्ध में गांधीजी ने यही ठोस कदम उठाया था।

संस्थान में जो पाठशाला जारी की गयी उसके छात्र तीन घण्टे शाला में काम करते थे, उसके अतिरिक्त दो घण्टे खेती का काम करते तथा दो घण्टे प्रेस में काम करते थे। रात्रि को पुस्तकें पढ़ने का कार्यक्रम था। अध्यापन कार्य में विशेषता यह थी कि श्रम या उत्पादन सम्बन्धी कार्य करते हुए भी वे साधारण ज्ञान की बातें सीखते जिनमें महापुरूषों की जीवनियां, दैनिक अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएं भी शामिल थीं।

इससे ज्ञात होता है कि उद्योग केन्द्रित शिक्षा का जो स्वरूप वर्धा शिक्षा योजना में निहित है उसके सम्बन्ध में गांधीजी के विचार बहुत पहले ही बन चुके थे और उसका सबसे पूर्व रूप हमें फीनिक्स संस्थान से मिलता है। गांधीजी ने अनुभव किया कि बुद्धि एवं कर्म के इस समन्वय के द्वारा बालकों के मन एवं व्यवहार दोनो शुद्ध रहते हैं और इससे बालकों के चरित्र–निर्माण में भी योग मिलता है। गांधीजी की धारणा थी कि शिक्षा का प्रारम्भ साक्षरता से न करके दैनिक व्यवहार, इन्द्रियों एवं चरित्र की शिक्षा से किया जाये।

यद्यपि गांधीजी ने अपनी अहिंसा के द्वारा हृदय परिवर्तन की धारणा का विकास एवं उसका प्रयोग विशेष रूप से टॉलस्टॉय आश्रम में किया, परन्तु इसके प्रथम प्रयोग उन्होंने फीनिक्स संस्थान में भी किये। जब गांधीजी जोहान्सबर्ग में थे तब संस्थान के दो सदस्यों का नैतिक पतन हुआ, उससे गांधीजी को बहुत दुःख हुआ। उनकी अनुशासन सम्बन्धी धारणा यह थी– बालकों को भय के द्वारा नहीं वरन् प्रेम पूर्वक सहानुभूति के द्वारा जीता जा सकता है। इसके लिए उन्होंने सात दिन का उपवास करने का निश्चय किया और साथ ही साढ़े चार मास तक केवल एक समय तक भोजन करने का निश्चय किया।

गांधीजी की धारणा थी कि चरित्र–निर्माण में जिस प्रकार अध्यापक के गुणों का प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार चरित्र के पतन का भी कारण और जिम्मेदारी माता–पिता या शिक्षक पर होती है। इसका प्रभाव आशातीत हुआ, उन व्यक्तियों ने अपना–अपना अपराध स्वीकार किया और बापू से क्षमा–याचना की। गांधीजी ने अपने इस प्रकार के प्रयोगों के सम्बन्ध में चेतावनी देते हुए कहा– प्रत्येक स्थान पर इस प्रकार का प्रयोग सफल नहीं हो सकता है। इसकी सफलता बहुत कुछ साधक की तपस्या, आत्मशुद्धि एवं बालकों के साथ उसके सम्बन्धों पर निर्भर है। निरर्थक उपवास व्यर्थ ही नहीं जाता कभी–कभी हानिप्रद भी सिद्ध होता है और शिष्यों के हृदय परिवर्तन के स्थान पर विरूद्ध धारणाएं भी बना सकता है।

गांधीजी इस प्रकार नकारात्मक अनुशासन एवं शारीरिक दण्ड के सर्वथा विरूद्ध थे और प्रेम एवं सहानुभूति द्वारा छात्रों को जीतने के पक्ष में थे। उन्होंने लिखा है– सच्चे अध्यापक को छात्रों के सुख–दुख में सम्मिलित होना चाहिए और उनकी समस्याओं एवं कठिनाइयों को निकट से समझना चाहिए।

इस प्रकार दक्षिणी अफ्रीका में गांधीजी ने जिस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था की वह अफ्रीका के अन्य विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा से नितान्त भिन्न थी।

5.3 टॉलस्टॉय आश्रम

इसकी स्थापना सन् 1915 में दक्षिण अफ्रीकी सत्याग्रहियों के लिए की गयी थी। यहां प्रारम्भ से ही गांधीजी ने इस प्रकार की परम्परा डाली थी कि जिस कार्य को अध्यापक स्वयं न करता हो, उसे करने के लिए वह छात्रों से भी न कहे और जो अध्यापक छात्रों को कार्य करना सिखाये वही उनके साथ रहे। इस प्रकार छात्र रूचि के साथ सीखते थे।

बौद्धिक शिक्षा के सम्बन्ध में गांधीजी के जो अनुभव थे उनका वर्णन करने से पूर्व उन दो कमियों को ध्यान में रखना आवश्यक है जिन्हें गांधीजी ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था।

प्रथम कठिनाई तो आर्थिक थी जो इस प्रकार की शिक्षा के लिए एक योग्य अध्यापक की नियुक्ति के सम्बन्ध में उत्पन्न होना आवश्यक था।

दूसरी विभिन्न भाषाभाषी छात्रों को अपनी भाषा के माध्यम से पढ़ाने के सम्बन्ध में थी।

उन्होंने यह भी अनुभव किया कि अध्यापन में पाठ्य–पुस्तकों की आवश्यकता नहीं है, ''मेरी सम्मति में अध्यापक छात्रों के लिए स्वयं एक जीवित पुस्तक है।'' उनकी अध्यापन विधि यह थी कि वे साधारण भाषा में पाठ पढ़कर सुनाते थे जिसे छात्र रूचि के साथ सुनते थे। तत्पश्चात् प्रश्नोत्तर विधि से छात्रों को अपना पढ़ा हुआ पाठ सुनाना पड़ता था। उन्होंने इस बात को समझा कि बौद्धिक शिक्षा में आंखों की अपेक्षा कर्मेन्द्रिय का योग अधिक होता है। अतः पाठ्य–पुस्तक विधि से कथन विधि कहीं उत्तम है। यदि गांधीजी ने शिक्षा को स्पष्ट एवं रूचिकर बनाने के सम्बन्ध में 'audio –visual aids' को उपयोग में लाने की कला के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की होती तो उनकी धारणाएं क्या होतीं? इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा

सकता। उस समय तक बौद्धिक शिक्षा को उद्योग व अन्य क्रियाओं से समन्वित करने के सम्बन्ध में भी उनके विचार स्पष्ट रूप से नहीं बने थे। उनकी शिक्षा पद्धति का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष जो समय के परिवर्तन के अनुसार भी बहुत कम बदला है वह चरित्र की शिक्षा अथवा नैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में है। इस सम्बन्ध में उनके विचार स्पष्ट हैं। अपनी आत्मकथा के चौंतीसवे परिच्छेद में इसके सम्बन्ध में उन्होंने विस्तार से लिखा है– ''बच्चों का अध्यापन कार्य करने से पूर्व टॉलस्टॉय कॉलोनी में मैंने यह बात अनुभव की कि आत्मा की शिक्षा अथवा नैतिक शिक्षा स्वयं एक स्वतन्त्र विषय है। आत्मा के विस्तार का अर्थ है–चरित्र का निर्माण अथवा आत्म साक्षात्कार या ईश्वर प्राप्ति। मैं जानता था कि बालकों को इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए विशेष सहायता की आवश्यकता है और मेरा विश्वास था कि बिना इस ज्ञान के अन्य प्रकार का ज्ञान व्यर्थ था और कभी–कभी तो हानिप्रद सिद्ध हो सकता था।

मुझे बालकों को शारीरिक एंव बौद्धिक ज्ञान देने की अपेक्षा आत्मा सम्बन्धी ज्ञान देने में अधिक कठिन परिश्रम की आवश्यकता थी। मैं उनकी आत्मा के विकास के लिए धर्म सम्बन्धी लेखों को बहुत कम प्रयोग में लाता था। मैं विश्वास करता था कि बच्चों को अपने धर्मग्रन्थों के विषय में साधारण जानकारी होनी चाहिए। इन्हें इस प्रकार की जानकारी दिलाने के लिए मैंने पहले ही प्रबन्ध कर दिया था परन्तु मैं इसे भी बौद्धिक विकास के अन्तर्गत मानता हूं।

परन्तु नैतिक शिक्षा किस प्रकार दी जाय? मैं बच्चों से भक्ति सम्बन्धी गाने गाने के लिए कहता था, नैतिकता सम्बन्धी पुस्तकों को उनके सम्मुख पढ़कर सुनाता था। परन्तु इन सबसे मुझे सन्तोष नहीं हुआ। बच्चों से जैसे –जैसे मेरा सम्पर्क बढ़ा, मैंने अनुभव किया कि इस प्रकार का ज्ञान पुस्तकों द्वारा नहीं दिया जा सकता है। एक कायर अथवा नैतिक दृष्टि से गिरा हुआ अध्यापक कभी भी अपने बच्चों को आत्मनियन्त्रण का पाठ नहीं पढ़ा सकता। यदि अपने लिए नहीं तो कम से कम अपने बच्चों के लिए तो मुझे अपने चरित्र को अच्छा बनाना चाहिए, इस प्रकार मेरे छात्र ही मेरे गुरू बन गये।''

गांधीजी ने लिखा है– अध्यापकों के पास छात्रों की भलाई के लिए एक दृढ़ नैतिक शक्ति होनी चाहिए जिसके द्वारा वे बिगड़े हुए बच्चों के दुर्व्यवहार को ठीक कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने उदाहरण दिये हैं कि किस प्रकार वे शैतान व उद्दण्ड बालकों को ठीक किया करते थे। बालकों को सुधारने के लिए वे शारीरिक यातना के दण्ड के सदैव विरूद्ध थे क्योंकि इसका अर्थ अध्यापक एवं छात्रों के सम्बन्धों के बीच में पाशविक प्रवृत्तियों को स्थान देना था।

गांधीजी ने लिखा है– यदि अच्छे और बुरे लड़के साथ–साथ रहें तब भी कोई हानि नहीं हो सकती, यदि माता–पिता एवं अध्यापक सतर्क रहें क्योंकि उनके पास स्नेह की एक महान शक्ति होती है। उन्होंने श्री बैक के इस प्रस्ताव का विरोध किया कि बुरे छात्रों को अन्य छात्रों से पृथक रखा जाय क्योंकि गांधी इस बात के विरूद्ध थे कि इस आधार पर किसी प्रकार का सामाजिक पक्षपात न हो। उन्होंने कहा कि क्या अच्छाई भी बुराई के समान ही छूत फैलाने वाली सिद्ध नहीं हो सकती?

टॉलस्टॉय आश्रम में एक बगीचा था। सभी आश्रमवासियों को उसमें काम करना पड़ता था जिसमें गड्ढ़े खोदना, पेड़ काटना, बोझा ढोना आदि कार्य सम्मिलित थे। इस समय तक गांधी की एक निश्चित धारणा बन चुकी थी कि शिक्षा के साथ उद्योग अवश्य सिखाया जाना चाहिए। आश्रम में बढ़ईगीरी का काम भी केलनबैक तथा अन्य व्यक्ति सिखाते थे।

कालान्तर में आश्रम में चर्म उद्योग भी प्रारम्भ किया गया। इस कार्य को सीखने के लिए केलनबैक को ट्रेपिस्ट मठ भेजा गया। इस मठ के साधु अपने हाथों से काम करके अपनी आजीविका कमाते थे। मठ में

प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम पांच घण्टे तक शारीरिक श्रम करना पड़ता था जो वहां की शिक्षा का एक अनिवार्य अंग था। वहां रहकर बैक ने भी जूते तथा सेण्डिल बनाना सीखा, उन्होंने इसे फिर गांधीजी को सिखाया तथा गांधीजी ने अन्य आश्रमवासियों को इसका प्रशिक्षण दिया।

टॉलस्टॉय आश्रम में प्रत्येक व्यक्ति को आठ घण्टे शारीरिक श्रम करना पडता था और उसी के द्वारा सम्पूर्ण शिक्षा दी जाती थी। अक्षर ज्ञान के लिए अधिक से अधिक तीन घण्टे रखे गये थे। बालकों को शिक्षा उन्हीं की मातृभाषा में दी जाती थीं। इसलिए वहां हिन्दी, उर्दू, गुजराती व तमिल सभी भाषाएं सिखाई जाती थी। गुजराती व हिन्दू बालकों को थोडी बहुत संस्कृत भी सिखाई जाती थी। हिन्दी, अंग्रेजी, गणित, इतिहास, भूगोल सबको सिखाया जाता था।

गांधीजी ने टॉलस्टॉय आश्रम में सहशिक्षा के सम्बन्ध में भी महत्वपूर्ण प्रयोग किये। वहां लड़के व लड़कियों को एक ही स्थान पर स्नान करने के लिए भेजा जाता और आत्म–संयम के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश दिये जाते। वे सामूहिक स्नान व अन्य कार्य वहां करते परन्तु एकान्त में रहने की आज्ञा बालक–बालिकाओं को नहीं दी जाती थी। बालक, बालिका व अध्यापक साथी एक साथ ही खुले बरामदे में फर्श पर सोते थे। ओढ़ने–बिछाने के लिए केवल दो कम्बलों का प्रयोग होता था और तकिये के रूप में लकड़ी के टुकडों का। इस प्रयोग में गांधी को बड़ी सफलता मिली और उनकी यह निश्चित धारणा हो गयी कि लड़के–लड़कियों को उचित निर्देशन में रखा जाय तो उन्हें सच्चरित्र एवं शिष्ट बनाया जा सकता है।

5.4 साबरमती आश्रम

भारत लौटने पर सन् 1915 के निकट साबरमती के किनारे उन्होंने टॉलस्टॉय आश्रम की तरह एक आश्रम की स्थापना की । जैसे–जैसे गांधी का जनता से राजनीतिक सम्पर्क बढा, उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि गांवों में शिक्षा का प्रसार किये बिना देश में राजनैतिक चेतना का विकास नहीं हो सकेगा। चम्पारन में कुछ ऐसे सच्चरित्र एंव सच्चे अनुयायियों के साथ उन्होंने यह प्रयोग प्रारम्भ किया जो अधिक शिक्षित नहीं थे। गांधीजी ने सोचा कि पुरूषों की अपेक्षा स्त्रियों की शिक्षा भी कम महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि घर पर अच्छे नागरिकों का निर्माण करने के लिए माताओं का शिक्षित होना आवश्यक है। अतः इस शिक्षण प्रयोग में कुछ महिलाओं ने भी भाग लिया। ग्रामीण शिक्षा से उनका आशय अच्छे जीवनयापन से था जो सफाई एवं सुन्दर मकान आदि के द्वारा सम्भव हो सकता था। वे जानते थे कि ग्रामीण जनता के उत्थान में दरिद्रता सबसे बड़ी समस्या है परन्तु सामाजिक पुनर्निर्माण के कार्यक्रम में सहयोग के आधार पर जो अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न हो रही थी उससे भी वे भली भांति परिचित थे।

आश्रम में गांधी प्रयत्न कर रहे थे कि वे वस्त्र की दृष्टि से भी स्वावलम्बी हो सकें। 1915 में जब आश्रमवासी जुलाहों के सम्पर्क में आये और उन्होंने उनकी दयनीय अवस्था, शोषण, कार्य तथा मिल के सूत पर उनकी निर्भरता को देखा तो उन्होंने स्पष्टतः इस बात का अनुभव किया कि जब तक वे स्वयं अपने हाथों से सूत नहीं कातेंगे उस समय तक मिल के सूत पर उनकी निर्भरता समाप्त नहीं होगी और यह परावलम्बन उनके विनाश का कारण बना रहेगा। उन्होंने इसके लिए चरखे की खोज की और अपना सारा विश्वास चरखे पर केन्द्रित कर दिया क्योंकि गांधी का मानना था चरखे द्वारा '' भूखे और अधिक बेकार पुरूष–स्त्रियों को कार्य मिल सकता है।'' उसके पश्चात् एक वृहत् दार्शनिक, आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक दृष्टिकोण इस विचारधारा के समर्थन में खड़ा हो गया।

जिस सीमा तक गांधीजी ने आत्मशुद्धि को प्राप्त किया और पूर्व धारणाओं से निरक्षेप होकर एक निश्चय को प्राप्त किया उसी सीमा तक हम उनके प्रयोगों पर निर्भर रह सकते हैं। ''बिना आत्मशुद्धि के हम संसार के

अन्य चेतन प्राणियों से साक्षात्कार नहीं कर सकते। बिना आत्मशुद्धि के अहिंसा को प्राप्त करना असम्भव है। अशुद्ध मानव ईश्वर को प्राप्त करने के लिए अयोग्य है। अतः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आत्मशुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु आत्मशुद्धि का यह मार्ग कठिनाइयों से परिपूर्ण है। शुद्ध होने का अर्थ है– शारीरिक, मानसिक एवं वाणी के बन्धनों से मुक्त होना तथा परिग्रह एवं ईर्ष्या से निरपेक्ष होना। नम्रता में अहिंसा निहित है और बिना नम्रता के मनुष्य मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता।''

उनके रचनात्मक कार्यक्रम के अन्य पहलुओं के सम्बन्ध में भी हम उसी भावना को खोज सकते हैं जिसमें वे जीवन के अन्य भागों में व्यस्त रहे। उनके लिए अछूतोद्धार एवं साम्प्रदायिक समस्या लगभग असत्य एंव अहम् को स्वीकार करने समान था। व्यक्ति के बाह्य, धार्मिक, जातिगत और राजनैतिक सम्बन्धों में अस्पृश्यता की भावना को प्रश्रय देने का कारण बहुत कुछ मनोवैज्ञानिक होता है।

''आत्मा के लिए प्रार्थना उतनी ही आवश्यक है जितना शरीर के लिए भोजन'', गांधीजी ने जीवन के प्रारम्भिक दिनों में ही इस प्रकार की धारणा बना ली थी। प्रार्थना का आत्मशुद्धि सम्बन्धी जो महत्व है, वह स्पष्ट है। प्रार्थना ने गांधीजी को सदैव नैतिक शक्ति प्रदान की है।

साबरमती आश्रम में बीस आश्रमवासी रहते थे जो सभी दक्षिण अफ्रीका से गांधीजी के साथ आये थे। वहां पर छोटे बच्चों एवं प्रौढों के लिए एक पाठशाला का प्रबन्ध किया गया। जहां पर पढ़ने–लिखने के अतिरिक्त कताई–बुनाई तथा बढ़ई का काम सीखना प्रत्येक के लिए आवश्यक था। यह आश्रम भी श्रमनिष्ठा के आधार पर चलता था। गांधीजी उस समय भी एक आदर्श शिक्षा प्रणाली की खोज करना चाहते थे और उसके लिए आश्रम को एक आदर्श रूप प्रस्तुत करना चाहते थे। अनेक बार आश्रम में शिक्षा सम्बन्धी विषयों पर चर्चा हुआ करती थी। आश्रम में उद्योग को अनिवार्य रूप से स्थान मिलना चाहिए परन्तु उसे किस रूप में शिक्षालयों में स्थान मिले, उसके सम्बन्ध में मतभेद था। मगनलाल गांधी का विचार था कि उद्योग का प्रमुख रूप से विषय में समावेश किया जाना चाहिए। काका कालेलकर का विचार था– उद्योग को शैक्षणिक पद्धति के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए और उसकी शिक्षण सम्बन्धी सम्भावनाओं को ध्यान में रखना चाहिए। गांधीजी ने यहीं से उ़द्योग शिक्षा के विचार को ग्रहण किया।

काका कालेलकर ने यह भी कहा– ग्रामोद्योगों का संचालन भी शैक्षणिक पद्धति पर किया जाना चाहिए और इसलिए साबरमती आश्रम में ग्रामोद्योगों का संभालना शिक्षकों के हाथों में दिया गया। गांधीजी ने कताई–बुनाई को केन्द्रिय उद्योग के रूप में स्वीकार करने का महत्व जाना और यहीं पर गांधीजी को इस बात की प्रेरणा मिली की हमारी शिक्षा देहाती जीवन एवं उसकी सभ्यता को उंचा उठाने वाली हो तथा यथासम्भव स्वावलम्बी हो।

गांधीजी इस बात को स्वीकार नहीं करते थे कि गुरू के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। वे मानते थे– सबसे ऊंची शिक्षा आत्मशिक्षा है और इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी अर्थ में स्वयं अपना गुरू है। वे अनुभव को जीवन की सबसे बडी पाठशाला मानते थे और साथ ही यह भी मानते थे कि जन्म से लेकर मृत्यु तक शिक्षा की प्रक्रिया किसी न किसी रूप में चलती है। इसके लिए सहनशीलता तथा आत्मविश्वास की बड़ी आवश्यकता है।

5.5 शान्ति निकेतन

शिक्षा में स्वावलम्बन के सम्बन्ध में गांधीजी ने एक छोटा प्रयोग शान्ति निकेतन में किया। दक्षिण अफ्रीका से भारत आने के पश्चात् कुछ दिनों तक गांधीजी शान्ति निकेतन में ठहरे थे। वहां भोजन बनाने के लिए रसोइया था। दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी स्वयं कार्य करने का पाठ सीख चुके थे। वे खाना पकाना भी

जानते थे। उन्होंने शान्ति निकेतन के अध्यापकों व छात्रों के सम्मुख यह बात रखी कि यदि वे मिलकर खाना पकायेंगे तो इससे न केवल उनका स्वास्थ्य सुधरेगा बल्कि वे स्वावलम्बन का भी अच्छा पाठ पढ़ेगें। कुछ छात्रों व अध्यापकों ने उत्साह से इस कार्य को प्रारम्भ किया। कार्यकर्त्ताओं को टोलियों में विभक्त कर दिया गया। एक दल सब्जी काटता था, दूसरा अनाज साफ करता और पीसता, तीसरा खाना पकाता और चौथा रसोईघर के आपस–पास की सफाई करता, परन्तु कुछ व्यक्तियों को यह काम पसन्द न आता था और वे रोज इसके सम्बन्ध में वाद–विवाद करते। उनकी धारणा थी कि इससे समय बर्बाद होता है। जब दल के लोग बर्तन मांजते तो कुछ लोग इन्हें आनन्दित करने के लिए सितार बजाते थे। चूंकि गांधीजी अधिक दिनों तक शान्ति निकेतन में नहीं रहे अतः उन्हें यह प्रयोग बन्द कर देना पड़ा।

5.6 गुजरात विद्यापीठ

वर्धा शिक्षा योजना से पूर्व गांधीजी ने शिक्षण सम्बन्धी अपने जो प्रयोग किये, उनमें सबसे बड़ा प्रयोग अहमदाबाद में गुजरात विद्यापीठ का था। सन् 1920 में असहयोग के दिनों में जब सरकारी स्कूलों का बहिष्कार भी एक कार्यक्रम था तब राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पांच विद्यापीठ देश के विभिन्न भागों में प्रारम्भ किये गये– बिहार विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, जामिया मिलिया दिल्ली, महाराष्ट्र विद्यापीठ और गुजरात विद्यापीठ। इनमें सबसे प्रमुख गुजरात विद्यापीठ था। विद्यापीठ का आदर्श सूत्र था– ''सा विद्या या विमुक्तये'' अर्थात् सच्ची विद्या वही है जो मुक्ति की ओर ले जाये। गांधीजी ने विद्यापीठ की स्थापना के उद्देश्य के समबन्ध मे लिखा– ''आचार्य और अध्यापकों की यहां काम करने में एक ही भावना है– विद्या की नहीं चरित्र की। यदि छात्रों में पुरूषार्थ नहीं, सत्य नहीं, ब्रह्मचर्य नहीं और अहिंसा नहीं तो इसमें दोष उनका नहीं मां–बाप, अध्यापकों और आचार्य का है। हम इस विद्यालय की स्थापना विद्या की दृष्टि से नहीं, राष्ट्रीय दृष्टि से करते हैं। विद्यार्थियों को बलवान और चरित्रवान बनाने की खातिर करते हैं।''

विद्यापीठ में न केवल स्वयं अस्पृश्यता को त्याज्य माना था बल्कि एक प्रस्ताव भी पास किया था कि जो पाठशाला अछूतों का बहिष्कार करेगी, उसे विद्यापीठ मान्य नहीं समझेगा। विद्यापीठ ने जिन शिक्षण सम्बन्धी सिद्धान्तों को स्वीकार किया वे निम्नलिखित थे–

- शिक्षा में बालक के सर्वांगीण विकास पर ध्यान दिया जाए जिसमें शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास सम्मिलित हैं।
- कुटीर उद्योगों को शिक्षा का अनिवार्य अंग माना जाये ताकि शिक्षा स्वावलम्बी हो सके।
- मातृभाषा के द्वारा समस्त शिक्षा दी जाये, हिन्दुस्तानी सीखना उस समय सब छात्रों के लिए अनिवार्य समझा गया।
- बौद्धिक ज्ञान की अपेक्षा व्यावहारिक ज्ञान पर अधिक ध्यान दिया जाये।
- भारतीय संस्कृति को शिक्षा का आधार माना जाये।
- शिक्षा व्यक्तिगत हितों का साधन न होकर समाज–सेवा हो सके।
- अनुशासन नकारात्मक न होकर विधेयक हो। शारीरिक दण्ड देना विद्यापीठ में हानिप्रद माना गया था। छात्रों में प्रेम व सहानुभूति के आधार पर अनुशासन रखना आवश्यक समझा गया था।
- शिक्षा केवल बालकों के लिए ही नहीं वयस्कों के लिए भी आवश्यक समझी गयी थी।

उस समय तक गांधीजी का मत बन चुका था कि शिक्षा को स्वावलम्बी बनाया जा सकता है। वे यह भी स्वीकार कर चुके थे कि बौद्धिक शिक्षा के साथ–साथ औद्योगिक शिक्षा भी दी जानी चाहिए परन्तु अभी तक उद्योग द्वारा शिक्षण की उनकी धारणा स्पष्ट नहीं हो सकी है।

गांधीजी निःशुल्क शिक्षा के विरूद्व थे क्योंकि निःशुल्क छात्रवृत्ति बालक के मन पर आजीवन भार बनकर रहती है। अतः गुजरात विद्यापीठ में नाममात्र की फीस अवश्य थी परन्तु उसकी पूर्ति उद्योग द्वारा करने का प्रयत्न किया जाता था ताकि शिक्षा स्वावलम्बी हो सके।

5.7 वर्धा शिक्षा योजना

सन् 1935 के शासन विधान के अनुसार सन् 1936 में भारत में आम चुनाव हुए और उसके परिणामस्वरूप ग्यारह में से सात प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की स्थापना हुई। शिक्षा, उन प्रान्तों में एक ऐसा विषय था, जिसका पूरा उत्तरदायित्व जनता द्वारा चुने गये उत्तरदायी मन्त्रियों पर पूर्ण रूप से सौंपा गया था। उस समय कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के सम्मुख दो प्रमुख समस्याएं थीं– एक सामूहिक शिक्षा की और दूसरी शराबन्दी की। शराब से सरकार को बहुत आय थी, दूसरी और सार्वजनिक शिक्षा के लिए सरकार के पास पर्याप्त धन नहीं था। इसी कारण शिक्षा का सम्बन्ध शराब की आय से जोड़ा गया। शराब के रूप में सरकार देश का चरित्र गिराकर रूपया लूट रही थी। कांग्रेसी सरकार जहां एक ओर शराब बन्दी करने के लिए कटिबद्ध थी वहीं शिक्षा का प्रसार भी करना चाहती थी, पर इसके धन कहां से आता ? गांधीजी ने उस समय स्पष्ट कहा था कि चाहे शिक्षा प्रसार हो या न हो पर वे शराबबन्दी को स्थगित नहीं करना चाहते । इसलिए गांधीजी ने एक नई शिक्षा योजना प्रस्तुत की जिससे दोनों समस्याओं का समाधान होता था। जब सारा देश और विशेषकर कांग्रेसी सरकार एक नई शिक्षा योजना की ओर आंख उठाकर देख रहे थे उस समय गांधीजी ने अपनी स्वावलम्बी शिक्षा की ऐतिहासिक योजना प्रस्तुत की। उनके शब्दों में–''हमारें लिए यह विचार भी लज्जाजनक और अपमानजनक मालूम होना चाहिए कि अगर हमें शराब की आय न मिले तो हम अपने बच्चों को शिक्षा न दे सकें।''

31 जुलाई, 1930 को 'हरिजन' में अपने ऐतिहासिक लेख में गांधी ने लिखा– एक राष्ट्र के नाते हम शिक्षा की दृष्टि से इतने पिछड़े हुए हैं कि यदि हम धन पर ही निर्भर रहें तो एक शताब्दी में भी हम शिक्षा सम्बन्धी अपने कर्तव्यों को पूरा नहीं कर सकेंगे। अतः मैनें यह निर्भीक सुझाव दिया है कि शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए, चाहे इस कार्य के लिए लोग मुझे रचनात्मक कार्य के लिए अयोग्य समझने लगें। शिक्षा का अर्थ है– बालक अथवा पुरूष के अन्दर शारीरिक, बौद्धिक एवं नैतिक दृष्टि से जो भी निहित शक्तियां हैं उनका पूर्ण विकास किया जाय। साक्षरता न तो शिक्षा का अन्तिम ध्येय है और न प्रारम्भ। वह केवल एक साधन है जिसके द्वारा पुरूष और स्त्री शिक्षित किये जा सकते हैं। साक्षरता स्वयं कोई शिक्षा नहीं है। अतः मैं बालक की शिक्षा एक उपयोगी शिल्प से प्रारम्भ करूंगा ताकि जिस क्षण से वह शिक्षा प्रारम्भ करे, उत्पादन करना भी प्रारम्भ कर दे। इस शर्त पर कि राज्य बच्चों के स्कूलों के उत्पादन को ग्रहण करे तो प्रत्येक विद्यालय स्वावलम्बी बनाया जा सकता है।

उन्होंने कहा– ''मेरा विश्वास है कि बुद्वि और आत्मा का सर्वोच्च विकास इस प्रकार की शिक्षण पद्धति के द्वारा सम्भव है परन्तु प्रत्येक शिल्प को बिना समझे–बूझे न पढाया जाना चाहिए जैसा कि आजकल होता है। उसे वैज्ञानिक दृष्टि से पढ़ाया जाना चाहिए ताकि बालक प्रत्येक प्रक्रिया को समझे और उसका विश्लेषण कर सके।''

नगरों की उपयुक्त शिक्षा के स्थान पर ग्रामीण पुनरूत्थान की शिक्षा का विचार पहले से ही गांधी के मस्तिष्क में गुंज रहा था। वे नहीं चाहते थे कि सीमित मात्रा के अतिरिक्त विश्वविद्यालय की शिक्षा के लिए राज्य धन लगाये। वे चाहते थे कि संस्थाएं ही उस शिक्षा का खर्च वहन करें, जो इस प्रकार के विश्वविद्यालयों से शिक्षा चाहती थीं। वे बुनियादी शिक्षा को उपयोगी शिल्प द्वारा दी जाने वाली ग्रामीण राष्ट्रीय शिक्षा कहना पसन्द करते थे।

22 व 23 अक्टूबर, 1937 को गांधीजी की अध्यक्षता में शिक्षाशास्त्रियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। इस समय वर्धा के नवभारत विद्यालय (मारवाडी हाई स्कूल) की रजत जयन्ती थी। यह वृहत् सम्मेलन नहीं था। इसमें कुछ विशिष्ट शिक्षाशास्त्रियों को ही निमन्त्रित किया गया था।सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए महात्मा गांधी ने अपने शिक्षा सम्बन्धी दार्शनिक सिद्वान्तों पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला।

5.8 वर्धा शिक्षा परिषद् में गांधीजी का भाषण (22 अक्टूबर,1937)

प्राथमिक शिक्षा का स्वरूप क्या हो?

''किसी उद्योग या दस्तकारी को बीच में रखकर उनके जरिये ही सारी शिक्षा दी जानी चाहिए। मेरे चार लड़के हैं। चन्द धन्धों के मार्फत मैंने इनको जो तालीम दी है, उससे उन्हें फायदा ही पहुंचा है। अपनी वकालत के दिनों में भी मैं घर पर कुछ न कुछ उद्योग किया करता था और बच्चों को भी बढ़ईगिरी वगैरह की तालीम देता था। जूते बनाने का काम मैंने श्री केलनबैक से सीखा, जो खुद इसे 'ट्रैपिस्ट मोनेस्टरी' में सीखकर आये थे, क्योंकि वे लोग हिन्दुस्तानियों को सीखाते नहीं थे। इस प्रकार जिन्होंने मुझसे तालीम ली, मैं नही समझता हूं कि उनकी दिमागी हालत कमजोर रही या कोई नुकसान उन्हें पहुंचा । टॉलस्टॉय फार्म में भी शिक्षा का यही तरीका रहा। वहां तो तरह–तरह के लड़के थे। अच्छे–बुरे और बदमाश, सभी। इनमें हिन्दु भी थे, मुसलमान भी थे और पारसी भी थे। ये सब एक साथ मिल–जुलकर रहते थे और अपने–अपने धर्मों का पालन भी करते थे। इसकी वजह यह थी कि मैनें इनको सिर्फ किताबी तालीम न दी, बल्कि साथ–साथ कुछ धन्धे भी सिखाये। इनमें कुछ ने चमडे का काम सीखा, कुछ ने बढ़ईगिरी सीखी और चन्द ऐसे भी निकले जो आज इन धन्धों के जरिए काफी कमा रहे हैं। इन सबको मैंने वही सिखाया जो मैं खुद थोडा–बहुत जानता था।

लेकिन आज मैं जो चीज आपके सामने रखने जा रहा हूं, वह पढ़ाई के साथ–साथ एक धन्धा सिखा देने की चीज नहीं है। मैं तो अब यह कहना चाहता हूं कि लड़कों को जो कुछ भी सिखाया जाय, सब किसी न किसी उद्योग या दस्तकारी के जरिये ही सिखाया जाय। आप कह सकते है कि मध्य युग में हमारे यहां लड़कों को सिर्फ धन्धे ही सिखाये जाते थे। मैं मानता हूं। लेकिन उन दिनों धन्धों के जरिये सारी तालीम देने की बात लोगों के सामने न थी। धन्धा सिर्फ धन्धे के ख्याल से सिखाया जाता था। हम धन्धे या दस्तकारी की मदद से दिमाग को भी आला दर्जे का बनाना चाहते हैं। आज हालत यह है कि लोहार का लड़का लोहारी नहीं जानता, और सुतार का लड़का सुतारी छोड़ बैठा है। इन्होंने किताबी तालीम तो पायी, मगर अपने पेशे को भूल गये। उससे मुंह फेर लिया। अब गांव छोड़कर शहर में बसते हैं और मुहर्ररी करते हैं। अगर वे पढ़–लिखकर भी अपने पुश्तैनी धन्धों को न छोड़ते और उसमें तरक्की करके दिखाते, तो आज हिन्दुस्तान की जैसी बुरी हालात हो गई है, न हो पाती। आज देहात में कहीं भी चले जाइये, अच्छे बढ़ई, लोहार या कारीगर के दर्शन नहीं होते। मेरे जो साथी गांव में बैठकर काम कर रहे हैं उनका भी यह तजुर्बा है कि वहां जो बढ़ई बगैरह हैं वे अपने धन्धे के लिहाज से नाकामयाब से हैं। दूर क्यों जाइये? इस चर्खे को ले लीजिए, जो सारे हिन्दुस्तान में फेला हुआ था। मगर अंग्रेज इसे इंग्लैण्ड ले गये और वहां इसमें इतनी तरक्की कर दी कि बड़ी–बड़ी मिलें खड़ी हो गयी। मेरा आशय यह नहीं है कि उन्होंने जो कुछ किया बहुत अच्छा किया। मगर इसमें कोई शक नहीं है कि जब उन लोगों ने इतनी तरक्की कर ली तो हम, जो कुछ हमारा था, उसे भी खो बैठे।

इसलिए मेरी दरख्वास्त है कि हम सिर्फ उद्योग का दस्तकारी ही न सिखायें, बल्कि इन्हीं के जरिये बच्चों को सारी तालीम दें। मसलन इस तकली का सबक हमारे विद्यार्थी का पहला सबक होगा, जिसके जरिये वह कपास का, लंकाशायर का और अंग्रेजी सल्तनत का बहुत कुछ इतिहास सीख सकेगा। मैं खुद भी यही कर रहा हूं। मेरा पोता छः साल का है। वह लिखता तो बहुत मामूली है और लिखना मैं अभी उसके लिए जरूरी समझना भी नहीं। पर वह ज्यादातर मेरे साथ हवाखोरी के लिए आता–जाता है और घर पर तकली चलाना भी

सीखता हैं। इस तकली में आज उसे जो दिलचस्पी है और इसके जरिये वह जो इल्म हासिल कर रहा है, वैसा हमारे पुरखे शायद नहीं करते थे। यह तकली कैसे चलती है? इसका क्या उपयोग है और इसके अन्दर क्या–क्या ताकत पड़ी हुई है? सो सब खेल ही खेल में बालक जान लेता है। इसी के जरिये थोड़ा गणित का ज्ञान भी उसे मिल जाता है क्योंकि तकली पर जो सूत के तार उससे गिनवाये जायें और पूछा जाय कि कितने तार कते, तो धीरे–धीरे इसके अन्दर से गणित का भी काफी ज्ञान कराया जा सकता है और खूबी यह है कि उसके दिमाग पर इन सब का जरा भी बोझ नहीं पड़ता। सीखने वाले को तो पता भी नहीं चला कि वह कुछ सीख रहा है। वह खेलता–कूदता और गाता रहता है, तकली चलाता रहता है और इसी में बहुत कुछ सीख लेता है।

अब आप देखिये कि मैं क्यों इस चीज पर इतना जोर देता हूं। सिर्फ तकली की बात मैं इसलिए कर रहा हूं कि मैंने उसकी ताकत और उसके रोमांस का अनुभव किया है। और आज तो इस तकली के जरिये ही हम करोड़ों बालकों को शिक्षा दे सकते हैं। तकली के जरिये कमाई भी काफी हों सकेगी और इसके फैलावे में कोई रूकावट भी नहीं आयेगी। क्योंकि इसके सूत से जो कपड़ा बनेगा, उसके पहनने वालों की संख्या हमारे यहां इतनी है कि अपने ही बच्चों द्वारा बनाये गये कपड़े को छोड़कर दूसरा कपड़ा खरीदने की हमें जरूरत न पड़ेगी और यह कपड़ा खरीदना हम पसन्द भी करेंगे।

मैंने सोचा है कि यह पाठ्यक्रम सात साल का रखा जाये। इससे जहां तक तकली का सम्बन्ध है, विद्यार्थि बुनाई तक के व्यावहारिक ज्ञान में(जिसमें रंगाई और डिजाइनिंग आदि भी शामिल होगें) निपुण हो जायेंगे। कपड़ा जितना हम बना पायेंगे उसके लिए ग्राहक तो तैयार हैं ही।

मैं इस बात के लिए बहुत ही उत्सुक हूं कि दस्तकारी के जरिये विद्यार्थी जो कुछ पैदा करें, उसकी कीमत से शिक्षक का खर्च निकल आये, क्योंकि मुझे यकीन है कि देश के करोडों बच्चों को तालीम देने के लिए सिवाय इसके कोई रास्ता नहीं है और न यही मुमकिन है कि हम उस वक्त तक ठहरे रहें, जब तक कि सरकार अपने खजाने से हमें आवश्यक रूपया दे या वाइसराय फौजी खर्च कम कर दें या इसी तरह का कोई और कारगर जरिया निकल आये। आप लोग यह भी समझ लीजिए कि प्राथमिक शिक्षा की इस योजना में सफाई, आरोग्य और आहारशास्त्र के प्रारम्भिक सिद्धान्तों का समावेश भी हो जाता है। इसमें बच्चों की वह शिक्षा भी शामिल समझिये, जिसमें वे अपना काम खुद करना सीखेंगे और घर पर अपने मां–बाप के काम में भी मदद पहुंचायेंगे। मैं चाहूंगा कि उनके लिए संगीत के साथ लाजमी तौर पर ऐसी कवायद और कसरत बगैरा का इन्तजाम हो जाये, जिससे उनकी तन्दुरूस्ती सुधरे और जीवन तालबद्ध बने।

मुझ पर यह इलजाम लगाया जा रहा है कि मैं साहित्यक या अदबी शिक्षा के खिलाफ हूं। मगर बात ऐसी नहीं है। मैं तो सिर्फ वह तरीका बता रहा हूं जिससे ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए। मेरे स्वावलम्बन के पहलू पर भी हमला किया गया है। मेरे ख्याल में तो तालीम का यही एक तरीका आता है। मैं यह कहूंगा कि खैराती तालीम देकर मुल्क के बच्चों को असहाय या अपाहिज ही बनायेंगे, जबकि उनकी शिक्षा के लिए उनसे खुद मेहनत कराकर वे उन्हें बहादुर और आत्मविश्वासी बना सकेंगे।

तालीम का यह तरीका हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई सभी के लिए एक सा होगा। मुझसे पूछा जाता है कि मैं धार्मिक शिक्षा पर कोई जोर क्यों नही देता? वजह यह कि मैं उन्हें स्वावलम्बन का धर्म तो सिखा ही रहा हूं, जो मेरे ख्याल में, सब धर्मों का असली रूप है।

अपना रोजगार शुरू करने से पहले अगर हमारे नौजवानों को एक या दो साल के लिए लाजिमी तौर पर सेवा का या पढ़ाने का काम करना पड़े तो उसे गुलामी कहना कहां तक ठीक होगा? पिछले सत्रह वर्षों में

हमारी आजादी के आन्दोलन ने जो सफलता पायी है, उसमें नौजवानों का हिस्सा कम नहीं रहा है, इसलिए मैं उनसे कहूंगा कि अपनी जिन्दगी का एक साल देश की सेवा के लिए मुफ्त दे दें। खुशी–खुशी दे दें। इसके लिए कानून बनाने की जरूरत भी हुई, तो वह जबर्दस्ती न कहलायेगी, क्योंकि हमारे अधिकांश प्रतिनिधियों की रजामन्दी के बिना ऐसा कानून बन ही न सकेगा।

इनके लिए मैं उनसे पूछ लूंगा कि हाथ मेहनत या दस्तकारी के जरिये दी जाने वाली यह शिक्षा उन्हें पसन्द है या नहीं। इसकी उपयोगिता की मेरी कसौटी तो यह होगी कि मैं इसे स्वावलम्बी बना दूं। सात साल के अन्त में बालकों को इस काबिल हो जाना चाहिए कि वे अपनी पढ़ाई का खर्च अदा कर सकें और अपने परिवार के कमाउ पूत बन सकें।

हमारे यहां कौमी झगडे होते है, लेकिन यह कोई हमारी ही खासियत नहीं है इंग्लैण्ड में भी ऐसी लड़ाइयां हो चुकी हैं और आज ब्रिटिश साम्राज्यवाद सारे संसार का शत्रु हो रहा है। अगर हम कौमी और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष को बन्द करना चाहते हैं तो हमारे लिए जरूरी है कि जिस शिक्षा की मैंने यहां हिमायत की है, उससे अपने बालकों को शिक्षित करके शुद्ध और सुदृढ़ आधार पर उसका आरम्भ करें। मेरी इस योजना की तह में अहिंसा भरी हुई है और हालांकि मैंने इससे सम्पूर्ण मद्य–निषेध को राष्ट्रीय सिलसिले में सुझाया है, तब भी मैं कहता हूं कि अगर सरकारी आमदनी में कोई कमी न हो और खजाना हमारा भरा हुआ रहे, तो भी हमारे लिए शिक्षा का यही तरीका उपयोगी रहेगा, बशर्ते कि हम अपने बालकों को शहरी न बनाना चाहें। हम तो उन्हें अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता और अपने देश की सच्ची प्रतिभा का प्रतिनिधि चाहते हैं और मेरे ख्याल में स्वावलम्बी प्राथमिक शिक्षा के सिवाय दूसरे किसी ढ़ंग से हम उन्हें ऐसा नहीं बना सकते। इस मामले में यूरोप हमारा आदर्श नहीं बन सकता, क्योंकि वह हिंसा में विश्वास करता है। और इसलिए उसकी तजबीजें और कठिनाइयां हिंसा पर बनी रहती हैं। रूस ने जो कामयाबी हासिल की है, उसे मैं कभी इन्कार नहीं करता, लेकिन मानना होगा कि उसका सारा दारोमदार जोर–जबर और हिंसा पर रहा है अगर हिन्दुस्तान ने हिंसा को छोड़ देने का निश्चय किया है तो उसे जिस अनुशासन में होकर गुजरना पड़ेगा, शिक्षा का यह तरीका उसका एक खास अंग होगा। इससे कहा जाता है कि इंग्लैण्ड शिक्षा पर लाखों रूपया खर्च करता है और अमेरिका का भी यही हाल है, मगर कहने वाले भूल जाते हैं कि उनका धन लूट का धन होता है। लूट या शोषण की इस कला को उन्होंने विज्ञान का रूप दे रखा है और यही वजह है कि वे आज अपने बालकों को इतनी महंगी शिक्षा दे सकते हैं। लेकिन हम इस शोषण की बात न तो सोच सकते हैं और न सोचना पसन्द ही करेंगे। इसलिए हमारे पास शिक्षा की इस अहिंसक योजना के सिवाय और कोई उपाय नहीं रह जाता।

गांधीजी के उपरोक्त भाषण के बाद सम्मेलन में शिक्षा के विभिन्न पक्षों पर विचार विमर्श हुआ जिसमें डॉ.जाकिर हुसैन, प्रो. के.टी. शाह, आचार्य विनोबा भावे, ख्वाजा गुलाम सैयदीन, काका कालेलकर, महादेव देसाई तथा अनेक प्रान्तों के शिक्षामन्त्रियों ने भाग लिया। सम्मेलन मे निम्नलिखित प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुए–

- सात वर्ष तक सार्वजनिक रूप से निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा दी जानी चाहिए।
- शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए।
- सात वर्षों तक यह शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए कि सारी शिक्षा किसी शारीरिक उत्पादक श्रम पर केन्द्रित हो। जो केन्द्रिय उद्योग चुना जाए वह बालक के वातावरण से सम्बन्धित हो और बालक की समस्त योग्यताओं का विकास इसी केन्द्रिय उद्योग को आधार मानकर किया जाये।
- उद्योगों की आय से ऐसी आशा की गयी है कि अध्यापकों का वेतन निकल आयेगा और इस प्रकार शिक्षा स्वावलम्बी हो जायेगी।

इसके लिये डॉ. जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गयी जिसके अन्य सदस्य आर्यनायकम् संयोजक, विनोबा भावे, किशोरीलाल मशरूवाला, जे.सी. कुमारप्पा, कृष्णदास जाजू, प्रो. के.टी. शाह, श्रीमती आशादेवी आदि प्रमुख शिक्षाशास्त्री थे। 2 दिसम्बर, 1937 को समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। रिपोर्ट में प्रचलित शिक्षा प्रणाली की निस्सारता पर भी प्रकाश डाला गया, और औद्योगिक शिक्षा पर विशेष बल दिया गया। यही योजना 'वर्धा शिक्षा योजना' कहलायी।

5.9 शिक्षा के सर्वमान्य सिद्धान्त

गांधीजी के इस शिक्षा सम्बन्धी वक्तव्य में कुछ ऐसे शिक्षण सम्बन्धी सर्वमान्य सिद्धान्त हैं जिनके सम्बन्ध में किसी भी शिक्षाशास्त्री को कोई भी विरोध नहीं हो सकता–

- शिक्षा से उनका अर्थ केवल बालक में ही नहीं, वयस्क के अन्दर भी जो शारीरिक, मानसिक व नैतिक गुण हैं, उनका सम्पूर्ण विकास करना था, जिससे उन्होंने सम्भवतः अपनी शिक्षण सम्बन्धी परिभाषा में प्रौढ़ो की शिक्षा को भी सम्मिलित कर लिया था।
- उन्होंने कहा था– साक्षरता साध्य नहीं साधन है जिससे उन्होंने बच्चों व वयस्कों की शिक्षा के सम्बन्ध में परम्परागत धारणाओं की आलोचना की और बताया कि शिक्षा एकांगी न होकर सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करने वाली होनी चाहिए।
- उन्होंने शिक्षा को माध्यम के रूप में प्रस्तुत किया और विश्वास किया कि इसके द्वारा बुद्धि का अधिक से अधिक विकास किया जा सकता है और सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभव दिया जा सकता है।
- इसके सम्बन्ध में उनकी शिक्षण पद्धति सम्भवतः यह थी कि जब बालक उद्योग सम्बन्धी कार्य में व्यस्त हों उस समय परिस्थितियों में अनुकूल जो भी प्रसंग उठे उसके सम्बन्ध में महत्वपूर्ण जानकारी उन्हें दी जाये।
- उन्होंने कहा था– शिल्प को वैज्ञानिक एवं शिक्षण सम्बन्धी सम्भावनाओं को अध्यापक बालकों के सहयोग से खोजे। वे नहीं चाहते थे कि शिल्प शिक्षण के द्वारा शिल्पकारों का निर्माण हो परन्तु शिक्षण प्रयोगशाला के अन्दर दार्शनिक और वैज्ञानिकों का निर्माण हो।

5.10 बुनियादी शिक्षा के बुनियादी नियम

जाकिर हुसैन समिति ने बुनियादी शिक्षा की जो रूपरेखा प्रस्तुत की थी उसके मुख्य आधार निम्नलिखित हैं–

- **सात वर्ष की अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा–** शिक्षा सात वर्ष से तेरह वर्ष की आयु के समस्त बालक–बालिकाओं के लिए अनिवार्य एवं निःशुल्क होनी चाहिए। शिक्षा की अवधि कम से कम सात साल होनी चाहिए। सात वर्षों की आयु पर शिक्षा प्रारम्भ करने का निश्चय इसलिए किया गया कि इस आयु तक बालक की इन्द्रियों का पूर्ण विकास हो जाता है और इन सात वर्षों के अध्ययन क्रम के पश्चात् वह बौद्धिक एवं शारीरिक दृष्टि से इस योग्य हो सकता है कि वह अपने शिल्प ज्ञान से स्वावलम्बी बन सके। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह अवस्था ज्ञानार्जन के लिए सर्वश्रेष्ठ है। इसके बाद बालक अपनी रूचि के अनुसार भावी जीवन का निर्माण कर सकता है। गांधीजी शिक्षा को एक अभिन्न, अखण्ड समष्टि के रूप में मानते थे परन्तु देश की विशिष्ट परिस्थितियों के अनुरूप सर्वप्रथम उन्होंने अपना ध्यान सात से चौदह वर्ष के बालकों की ओर लगाया। इसका यह अर्थ नहीं कि शिक्षा के कालक्रम के अन्य विभागों के महत्व को उन्होंने अस्वीकार किया परन्तु देश में प्रजातन्त्र के सफल होने के लिए न्यूनतम सार्वजनिक शिक्षा आवश्यक थी। उन्होंने कहा– मेरा विचार है कि इस उच्च शिक्षा का

प्रश्न कुछ समय के लिए स्थगित कर सकते हैं। परन्तु प्रारम्भिक शिक्षा का प्रश्न एक मिनट के लिए भी स्थगित नहीं किया जा सकता है।'' गांधीजी ने कहा– शहरों के मां–बाप यदि अपने बालकों की शिक्षा सात वर्ष की आयु से पूर्व करना चाहते हैं तो उसका भार राज्य पर न डाला जाए परन्तु नियमित शिक्षा सात वर्ष से ही प्रारम्भ की जाये।

- **आधुनिक केन्द्रित शिक्षा–** आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों जिनमें पेस्टालॉजी, ड्यूवी आदि सम्मिलित हैं, का मत है कि शिक्षा कार्य द्वारा दी जानी चाहिए। किण्डरगार्टन, मॉण्टेसरी, प्रोजेक्ट प्रणाली सभी इस बात का समर्थन करते हैं परन्तु गांधीजी ने कार्य का एक नया रूप प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा– बालक जो कार्य करें, वह उत्पादक श्रम के रूप में होना चाहिए तथा सोद्देश्य होना चाहिए। इसके लिए बालक के सामाजिक एवं प्राकृतिक वातावरण से सम्बन्धित किसी केन्द्रिय उद्योग के केन्द्र मानकर सारी शिक्षा उसी के आधार पर दी जानी चाहिए। जाकिर हुसैन कमेटी रिपोर्ट में कहा गया – ''वर्तमान शिक्षा सिद्धान्तों में यह बात सर्वमान्य है कि शिक्षा कार्य के द्वारा दी जानी चाहिए। एक अविच्छिन्न एवं सर्वतोन्मुखी शिक्षा के लिए यह विधि अत्यधिक प्रभावोत्पादक है।''
  - वर्धा योजना के अनुसार जो उद्योग चुना जाए वह क्रमवद्ध रूप से तथा वैज्ञानिक ढंग से सीखा जाना चाहिए ताकि प्रयोगात्मक रूप से बालक उसमें दक्ष हो सके। उद्योग न तो बौद्धिक कार्य का साधन होना चाहिए और न स्वावलम्बन का। यह साधन एवं साध्य दोनों होना चाहिए।
    - उद्योग के चुनाव के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वह बालक की रूचि, योग्यता, शक्ति, सामाजिक एवं प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल ही न हो वरन् उसकी शैक्षणिक सम्भावनाएं भी अधिक हों ताकि उसके द्वारा अधिक से अधिक विषयों का ज्ञान दिया जा सके।
    - इसके लिए गांधीजी ने कताई–बुनाई व कृषि उद्योग पर अत्यधिक बल दिया क्योंकि वे जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं, भोजन एवं वस्त्र से सम्बन्ध रखते हैं तथा उनकी शैक्षणिक सम्भावनाएं भी बहुत अधिक हैं।
- वर्धा योजना में उद्योग पर जो विशेष बल दिया है उसी के कारण कुछ लोगों की यह भ्रमपूर्ण धारणा हो गयी है कि उद्योग की शिक्षा विशेषकर कताई की शिक्षा वास्तविक बुनियादी शिक्षा है। परन्तु वस्तुतः बुनियादी शिक्षा जीवन शिक्षा है क्योंकि बुनियादी शिक्षा मे ऐसे ही उद्योग का चुनाव किया जाता है जो बालक के जीवन सीधे सम्बन्धित हों। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा का परोक्ष सम्बन्ध बालक के जीवन से हो जाता है, परन्तु बुनियादी शिक्षा के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह उद्योग द्वारा ही दी जाये। हमने बुनियादी शिक्षा के ऐतिहासिक विकास में यह बात मान ली है कि शिक्षा के माध्यम के लिए प्राकृतिक एवं सामाजिक वातावरण को भी लिया जा सकता है। उद्योग, प्रकृति एवं समाज के अन्तर्गत जीवन की लगभग सभी क्रियाएं आ जाती हैं। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा स्पष्टतः उद्योग केन्द्रित शिक्षा न होकर जीवन केन्द्रित शिक्षा है।
- **शिक्षा का स्वावलम्बी पक्ष–** गांधीजी का मत था– बुनियादी शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए कि वह बालक को उत्तरोत्तर स्वावलम्बन की ओर ले जाये। यहां तक कि सात वर्ष की शिक्षा के बाद बालक उद्योग में इतना दक्ष हो जाय कि वह स्वतन्त्र रूप से जीवनयापन कर सके और बेकार रहकर समाज के लिए भार न बने। गांधीजी ने यह विश्वास प्रकट किया कि बालक विद्यालयों में जो माल तैयार करेंगे उसे बेचकर विद्यालय का चालू खर्च, विशेषकर अध्यापकों को वेतन निकल आयेगा। भारत जैसे गरीब देश में सार्वजनिक शिक्षा सफल बनाने का और कोई तरीका नहीं है। जाकिर हुसैन कर्मटी रिपोर्ट में जहां शिक्षा के स्वावलम्बी पक्ष का समर्थन किया गया है वहां एक चेतावनी भी दी गयी है कि उसके लिए बालक के श्रम का शोषण न किया जाये और न उसके सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक विकास को रोका

जाए। इस सम्बन्ध में योजना में कहा गया है– राज्य स्कूल–भवन, किताबें, कुर्सी–मेज, औजार व अन्य आवश्यक सामान का प्रबन्ध करे और जो उत्पादन हो उसे स्वयं अपने काम में या स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति के काम में ले।

- **शिक्षा का माध्यम मातृभाषा–** गांधीजी के विचारों के अनुरूप वर्धा शिक्षा योजना में स्पष्ट रूप से कहा गया कि सारी शिक्षा मातृभाषा के द्वारा दी जाय परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय एवं बौद्धिक विकास की दृष्टि में एक अन्य भाषा भी सीखना आवश्यक माना गया। अतः यह बात सुझाई गयी कि–(क) जिन बच्चों की मातृभाषा और राष्ट्रभाषा एक ही हो उनके लिए ऐच्छिक विषय के रूप में पांचवी श्रेणी से अंग्रेजी प्रारम्भ की जाए। (ख) जिन बच्चों की मातृभाषा एवं राष्ट्रभाषा भिन्न हो तो वे तीसरी श्रेणी से मातृभाषा प्रारम्भ कर सकते हैं। बुनियादी शिक्षा के संचालकों ने मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने पर इसलिए जोर दिया क्योंकि उनका विचार था कि बिना मातृभाषा पढ़े न तो विचारों में मौलिकता आती है और न बालक में अपने विचारों को ठीक प्रकार से अभिव्यक्त करने की योग्यता उत्पन्न होती है। साथ ही विदेशी भाषा के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने में अधिक समय लगता है और व्यर्थ ही बालक के मस्तिष्क पर भार पड़ता है। सबसे अधिक हानि जो विदेशी भाषा के द्वारा शिक्षा प्राप्त करने में होती है वह है कि इसके बालकों का सम्पर्क भारतीय संस्कृति से दूर हो जाता है। मातृभाषा द्वारा शिक्षा प्राप्त करने में बालक का परिचय भारतीय संस्कृति से हो जाता है और वे उससे प्रेम करने लगते हैं। इस प्रकार इसका नैतिक मूल्य भी है।
- **नैतिकता एवं अहिंसा का आधार–** यह एक निर्विवाद सत्य है कि बुनियादी तालीम गांधीजी की अहिंसा सम्बन्धी मान्यताओं पर आधारित है। बुनियादी तालीम एक ऐसी नवीन समाज रचना की प्रेरणाशक्ति है जिसमें वर्ग शोषण, अन्याय, अविश्वास एवं पारस्परिक मनोमालिन्य न हो। जहां प्रेम एवं नैतिकता द्वारा पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण हो, जहां समाजसेवा, त्याग, स्नेह, सहयोग एवं दूसरों के अधिकारों के प्रति निष्ठा की भावना हो। वह ऐसे उदार एवं स्वस्थ मानव का निर्माण करना चाहती है जिसमें एक मनुष्य दूसरे के शोषण पर निन्दा न रहकर स्वयं साध्य हो।
- **नागरिकता की भावना–** बुनियादी शिक्षा के अनुसार नागरिकता का आदर्श अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान भारत के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन का आधार लोकतान्त्रिक है। बुनियादी शिक्षा एक श्रमनिष्ठ समाज का निर्माण करना चाहती है जहां के नागरिक स्वावलम्बी हों। बुनियादी शालाओं के कार्य का सामाजिक जीवन एवं उसके कार्यों से निकटतम सम्बन्ध होता है। अतः बालकों का दृष्टिकोण भी सामाजिक एवं नागरिक आदर्शों के अनुरूप प्रारम्भ से ही होना चाहिए ताकि एक पूर्ण नागरिक के रूप में वे योग्य, स्वावलम्बी, कुशल, स्वाभिमानी, संयमी एवं समाजसेवी बन सकें।
- **सहयोगी समाज का विचार–** प्रारम्भ से ही बुनियादी शिक्षा में सहयोग के आधार पर विद्यालय के दैनिक कार्यक्रम को संचालित करने पर विशेष बल दिया गया। बुनियादी शालाओं का वातावरण सहयोग, प्रेम के आधार पर संगठित किया जाना चाहिए क्योंकि बुनियादी शिक्षा जिस नये समाज की कल्पना करती है उसमें सामाजिक सन्तुलन सहयोग के आधार पर ही कायम रखा जा सकता है। नये सर्वोदय समाज का संगठन स्वार्थ एवं प्रतिद्वन्द्विता के आधार पर न होकर सहयोग के आधार पर होगा। मनुष्य स्वं जियेंगे और दूसरे को भी जीने देंगे।

1940–1947 की अवधि में कई राज्यों में बुनियादी शिक्षा की पाठशालाएं बहुत उत्साह से खोली गयीं और चलीं। 1947 से 1960 तक भारत की स्वतन्त्रता के वर्षों में मौलाना आजाद और कालू लाल श्रीमाली भारत सरकार में शिक्षामन्त्री थे। इन्होंने बुनियादी शिक्षा को प्रसारित करने में बहुत अहम् भूमिका निभायी। लेकिन 1960–70 के बीच बुनियादी शिक्षा को देश के शिक्षाशास्त्रियों और नेताओं ने लगभग छोड़ दिया, मृतप्राण कर

दिया। 1964–66 के कोठारी आयोग ने बुनियादी शिक्षा को समाप्त कर दिया। किन्तु आज भी निम्नांकित कारणों से गांधी शिक्षा योजना की महत्ती आवश्यकता है–

- आज की शिक्षा के नियन्त्रण और कार्य प्रणाली में मूल्यहीनता आ गयी है।
- वैश्वीकरण , शिक्षा के निजीकरण , शिक्षा में खूब कमाने की प्रवृति और आजकल की इन्द्रियप्रधान में सभी धर्मलोलुप और फैशन प्रधान बन गये हैं।
- 'मूल्य शिक्षा' का आज सभी लोग नारा लगाते हैं। उसके महत्व को सभी सर्वोपरि मानते है, लेकिन गांधीजी के मूल मूल्यों स्वराज, सत्य और सेवा को सभी ने तिलांजलि दे दी है।

देश में शिक्षा और समाज में हो रहे गम्भीर विघटन से मुक्ति पाने का एकमात्र इलाज अब यही है कि गांधीजी की नयी तालीम/बुनियादी शिक्षा को परिष्कृत और आधुनिक युग के अनुकूल बनाया जाकर पुनःलागू किया जाये अन्यथा देश की अधिकांश जनता (विशेषकर ग्रामीण और निर्धन–पिछड़े वर्गों के लोग) शिक्षा से वंचित रहती रहेगी और निकट भविष्य में भारत में सामाजिक–आर्थिक अन्तर बहुत बढ़ जायेंगे और अशान्ति तथा लूटमार फैलने का खतरा बहुत जल्दी आ सकेगा। वर्तमान केन्द्रिय सरकार ने अभी तक इस दिशा में सोचना प्रारम्भ नहीं किया है कि गांधीजी की नई तालीम/बुनियादी शिक्षा कि सिद्धान्तों को पुनः लाये बिना भारतीय समाज का विघटन रूकेगा नहीं, उसका उत्थान सम्भव नहीं हो पायेगा।

6. सर्वधर्म समभाव

अहिंसा गांधी का जीवन दर्शन था। विचार के स्तर पर सबके साथ सद्भाव एवं कर्म के स्तर पर सबकी सेवा ही गांधीजी की अहिंसा का मूल तत्त्व था। साम्प्रदायिक एकता अन्य प्रवृत्तियों की तरह गांधीजी के अहिंसा का जीवंत अंग रहा। वे इस कथन को दुहराते थे– साम्प्रदायिक विद्वेष यदि शांत नहीं होता है तो यह मेरी अहिंसा की विफलता नहीं, मेरे जीवन की निरर्थकता भी है। हिंसा किसी भी रूप में हो, गांधी उसे व्यक्ति, समाज अथवा राज्य के पतन का प्रमाण मानते थे। उनकी विचारधारा में मनुष्य सर्वोच्च महत्त्व का प्रतीक था। हिंसा के अवलम्बन द्वारा वे मनुष्य का पतन देख नहीं सकते थे।

अहिंसा, गांधी के सर्वधर्म समभाव के दर्शन की बुनियाद है। अहिंसा का अर्थ मन, वचन और कर्म से दूसरे को कष्ट या तकलीफ न देना है। व्यापक दृष्टिकोण से अहिंसा का अर्थ प्रेम, दया और सेवा है और इसी के द्वारा एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के दिल को जीत सकता है। गांधी अहिंसा के पुजारी थे और इसी के बल पर वे हिन्दू–मुस्लिम एकता कायम करना चाहते थे। गांधी ने लिखा– हिन्दुओं को चाहिए कि वे मुसलमानों की ओर मदद का हाथ बढ़ायें और बहुसंख्यक होने के नाते उन पर जबरदस्ती अपने अधिकारों को न थोपें। उन्हें अल्पसंख्यक समुदाय के दिल को जीतने का प्रयास करना चाहिए क्योंकि सम्प्रदायिक एकता दबाव से नहीं बल्कि प्रेम से प्राप्त की जा सकती है।

गांधी के अनुसार साम्प्रदायिक हिंसा ईश्वर–अल्लाह, मंदिर–मस्जिद के नाम पर होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि हम अपने धर्म को अच्छी तरह नहीं जानते। उसके मूलभूत सार तत्त्वों को हमने ग्रहण नहीं किया है। जब कभी धर्म का प्रश्न होता है, धार्मिक उन्माद के कारण हम हिंसा पर उतारू हो जाते हैं। अतः साम्प्रदायिक द्वेष को नियंत्रित कर एकता स्थापित करने के लिए यह जरूरी है कि सभी धर्मों के अनुयायी अपने धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझें। गांधीजी ने कहा– मैं सनातनी हूं इसलिए सच्चा मुसलमान भी हूं। सच्चा सिक्ख भी हूं, सच्चा ईसाई भी हूं। सभी धर्मों और पंथों को मानने वालों को एकत्रित करके सभी धर्मों की प्रार्थना करने का संदेश उनके जीवन में मिलता है। भगवान को कोई राम या कृष्ण कहता है, कोई अल्लाह कहता है तो कोई सिद्ध कहता है, तो कोई वाहे गुरु कहता है तो कोई ईशु पिता प्रभु कहता है, कोई बुद्ध कहता है।

भगवान के नाम अनेक हैं किन्तु वास्तव में वह एक है। भगवान एक है और मनुष्य अनेक हैं। चाहे हम हिन्दू हों, मुसलमान हों, सिक्ख हों, ईसाई हों, हम सब भाई–भाई हैं। सभी धर्मों और पंथों के बीच भाईचारे की भावना और सहनशीलता से ही समाज में शांति और एकता कायम की जा सकती है।

वर्तमान समय में साम्प्रदायिक एकता की आवश्यकता सभी धर्मों और पंथों के लोग महसूस करते हैं। लेकिन एकता का अर्थ सिर्फ राजनीतिक एकता ही नहीं बल्कि सामाजिक और भावात्मक एकता भी है। राजनीतिक एकता तो जोर–जबरदस्ती से भी लादी जा सकती है किन्तु सामाजिक और भावात्मक एकता दूसरे के साथ आत्मीयता अनुभव करने, उसके सुख–दुख में सहभागी बनने और एक दूसरे के धर्म के प्रति मन में प्रेम और आदर की भावना को संजोने और विकसित करने से ही प्राप्त की जा सकती है। यह प्रेम, सेवा और विश्वास से ही प्राप्त की जा सकती है। इस तरह की एकता के लिए सबसे पहली जरूरत जो गांधी ने महसूस की वह यह थी कि कांग्रेसजन चाहे वे किसी भी धर्म के अनुयायी हों अपने को सभी धर्मों का प्रतिनिधि समझें और सभी हिन्दुस्तानवासियों से अपनेपन और आत्मीयता का अनुभव करें।

गांधीजी न तो एक धर्म के पक्षधर थे और न धर्म परिवर्तन में ही उनका विश्वास था। एक साथ रहते हुए यदि सभी धर्मों के लोग अपने धर्म का पालन करें और कोई भी महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने के पूर्व अल्पसंख्यक समूहों से विचार–विमर्श करें तो देश में पड़ने वाली दरारें सदा के लिए रुक सकती हैं। गांधीजी ने स्पष्ट शब्दों में इसका समर्थन करते हुए कहा– ''अगर आजाद हिन्दुस्तान में सभी अपने धर्म का पालन करें तो सारा हिन्दुस्तान खुश हो सकता है तात्कालिक आवश्यकता यह नहीं है कि एक धर्म हो बल्कि यह है कि विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में परस्पर आदर और सहिष्णुता हो। यंग इण्डिया में गांधी ने अपने उपरोक्त कथन का समर्थन करते हुए घोषित कर दिया था कि ''मैं ऐसी आशा नहीं करता हूं कि मेरे सपनों के आदर्श भारत में केवल एक ही धर्म रहेगा, यानी वह पूर्णतः हिन्दू या ईसाई बन जाएगा। मैं तो यह सोचता हूं कि वे पूर्णतः उदार और सहिष्णु बनें और उसके सब धर्म साथ–साथ चलते रहें।

सभी धर्मों का लक्ष्य एक ही है। सभी धर्म सदाचार और नैतिकता का उपदेश देते हैं। ईश्वर को साक्षी मानकर अपने कर्त्तव्यों का पालन करना ही वास्तविक धर्म है। किन्तु प्रत्येक धर्म में लक्ष्य तक पहुंचने के लिए अलग–अलग साधना या विधि की व्यवस्था है। जिस प्रकार एक पेड़ की अनेक शाखाएं होती हैं तथा उनमें भेद पाया जाता है उसी प्रकार सभी धर्मों का सार–तत्त्व एक ही है, किन्तु संस्कार, रीति–रिवाज आदि के आधार पर उनमें अन्तर दृष्टिगोचर होता है। गांधी के अनुसार धर्म एक व्यक्तिगत मामला है। जिस प्रकार हम अपनी रुचि और इच्छा के अनुसार वस्त्र पहनते हैं या भोजन करते हैं इससे किसी को एतराज नहीं होता है उसी प्रकार धर्म के मामले में भी किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। यदि समाज के लोग धर्म का गलत इस्तेमाल करना छोड़ दें और इसे व्यक्तिगत मामला समझें तथा दूसरे धर्मों के प्रति आदर का भाव रखें तो साम्प्रदायिक विद्वेष और भेदभाव धीरे–धीरे स्वतः दब जाएगा। इस तथ्य का समर्थन करते हुए गांधीजी ने कहा– ''सभी धर्म एक ही स्थान पर पहुंचने के अलग–अलग रास्ते हैं। अलग–अलग रास्तों में क्या हर्ज है? वास्तव में जितने मनुष्य हैं उतने ही धर्म हैं। धर्म अत्यन्त व्यक्तिगत वस्तु है। धर्म का संचार ज्ञान, मत, पंथों के बीच की दीवार को हटाकर सहिष्णुता उत्पन्न करना है।''

राजनीति और धर्म के गठबंधन से विकृतियां उत्पन्न होती हैं और धार्मिक समुदायों के परस्पर प्रेम–भाव और सद्भावना पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। भारत एक धर्म–निरपेक्ष देश है। इसका कोई राज्य धर्म नहीं है। लेकिन फिर भी देश में साम्प्रदायिक तनाव और संघर्ष बढ़ रहे हैं। ऐसी स्थिति में आवश्यकता इस बात की है कि राज्य और उसके नागरिक मन, वचन, और कर्म से धर्म–निरपेक्ष बनने का प्रयास करें, क्योंकि इसके बिना साम्प्रदायिक एकता की स्थापना असंभव है। गांधी ने कहा– ''बेशक राज्य धर्म–निरपेक्ष होना चाहिए। उसमें रहने

वाले हर नागरिक को बिना किसी रुकावट के अपना धर्म मानने का हक होना चाहिए, जब तक वह मेरे देश के कानून को मानता हो। हुकूमत तो सब लोगों के लिए बनाई है। अंग्रेजी शब्द तो उसके लिए सेक्युलर है, अर्थात् वह कोई धार्मिक सरकार नहीं है, या ऐसा कहें कि वह किसी एक धर्म की नहीं है।''

गांधी न केवल एक आदर्शवादी बल्कि व्यवहारवादी विचारक भी थे। उन्होंने अपने जीवन में जो कुछ अनुभव किया उसे लोगों को कहा और उसके अनुकरण पर बल दिया। हिन्दू–मुस्लिम एकता के लिए न केवल भाषण दिए, गोष्ठियां आयोजित कीं बल्कि रचनात्मक कदम भी उठाए। साम्प्रदायिक एकता की भावना को मजबूत करने के लिए गांधीजी ने 1920 में नेशनल यूनिवर्सिटी ऑफ गुजरात (गुजरात विद्यापीठ) की स्थापना की। यह विश्वविद्यालय हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म के समन्वय का उत्कृष्ट उदाहरण था। इसका उद्देश्य राष्ट्रीय भावना की नींव को मजबूत करना था। गांधी शिक्षण संस्थाओं के माध्यम से प्राचीन अनुभवों और परम्पराओं के आधार पर एक नई भारतीय सभ्यता का सृजन करना चाहते थे। वे भारत में पनपी और विकसित हुई सभी सभ्यताओं को एक दूसरे के अनुकूल बनाकर उनमें से एक सर्वमान्य सभ्यता उत्पन्न करना चाहते थे। उनके अनुसार स्वदेशी सभ्यता में प्रत्येक सभ्यता को अपना उचित स्थान मिलेगा और कोई एक अकेली सभ्यता किसी दूसरी सभ्यता पर हस्तक्षेप या अधिकार नहीं जमाएगी। हिन्दुओं को कुरान के अध्ययन का अवसर मिलेगा और मुसलमानों को हिन्दू शास्त्र का। इस प्रकार समन्वय की आधारशिला पर निर्मित भारत और उसकी सभ्यता सभी धार्मिक समुदायों को एक साथ रहने और जीने की कला से अवगत कराएगी और वह दिन दूर नहीं कि देश में एकता की जड़ें गहरी और मजबूत होंगी।''

सन् 1920 में जब गांधी ने स्वतंत्रता की बागडोर अपने हाथ में ली तो स्वयंसेवकों को यह शपथ लेने को कहा– ''मैं भारत में रहने वाले सभी सम्प्रदायों और भारत में बसने वाली सभी जातियों की एकता को शक्तिशाली बनाने में विश्वास करता हूं। मैं इस एकता की हमेशा कोशिश करूंगा।'' इस प्रकार सन् 1930 के सत्याग्रही प्रतिज्ञापत्र में गांधी ने प्रत्येक सत्याग्रही को यह शपथ दिलायी वह जानबूझ कर साम्प्रदायिक झगड़े का कारण नहीं बनेगा। साम्प्रदायिक दंगे की सूरत में वह किसी की तरफदारी नहीं करेगा। जिस तरफ न्याय होगा उसकी सहायता करेगा। यदि वह हिन्दू है तो मुसलमानों और दूसरे सम्प्रदायों के साथ उदारता का व्यवहार करेगा। और यदि उन पर हिन्दू हमला करेंगे तो उनकी रक्षा में अपने प्राणों का बलिदान करने से नहीं हिचकेगा। यदि हिन्दुओं पर हमला होगा तो मन में बिना बदले की भावना लाए हिन्दुओं की रक्षा में अपने प्राणों की बलि चढ़ा देगा। वह पूरी ताकत से हर ऐसी स्थिति को रोकेगा जो साम्प्रदायिक दंगे का कारण बन सकती है। इस प्रकार गांधी ने साम्प्रदायिक एकता का एक अनोखा रास्ता प्रशस्त किया जिस पर चलकर इस समस्या को सुलझाया जा सकता है। अहिंसा और न्याय के प्रति प्रतिबद्धता से ही देश में एकता की मशाल जलाई जा सकती है।

गांधी एक आशावादी चिन्तक थे। उनका कहना था– हिन्दू–मुस्लिम एकता के बिना सच्चा स्वराज नहीं हो सकता। गांधी ने कहा– मुझे विश्वास है कि हिन्दू और मुसलमानों में सच्ची और स्थायी दिली एकता, पेबन्ध लगी राजनीतिक एकता नहीं, देर–सबेर अवश्य होगी, इसके लिए सभी को प्रयास करने की जरूरत है। यह सभी की जिम्मेदारी है कि वह इस एकता के लिए तन, मन और धन से कोशिश करें। इस प्रश्न पर यदि हम विभाजित हो गए या दो विरोधी खेमों में बंट गए जैसा कि अक्सर होता है तो मेरा सम्पूर्ण स्वराज्य का सपना कभी पूरा नहीं होगा। इससे स्पष्ट होता है कि साम्प्रदायिक एकता के लिए किसी एक नेता, राजनीतिक पार्टी या समुदाय की आवश्यकता नहीं वरन् जन–समूह की आवश्यकता है और सम्मिलित प्रयास से ही इसे पूरा किया जा सकता है।

धर्म के नाम पर राजनीति द्वारा अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए भड़काने या धार्मिक कट्टरपन, अज्ञानता और अंध विश्वास के कारण एक समुदाय के लोग दूसरे समुदाय से लड़ते हैं, खून की होली खेलते हैं और अमानवीय व्यवहार करते हैं। धर्म को पहचानने से यह पता चलता है कि सभी धर्मों में बुनियादी एकता पाई जाती है। विभिन्न धर्मों के अध्ययन से ही इस सच्चाई को जाना जा सकता है और धर्मान्धता दूर हो सकती है। धर्मों की बुनियादी एकता पर प्रकश डालते हुए गांधी कहते हैं– ''मुझे इस बात का विश्वास है कि अगर हम अलग–अलग मजहबों की किताबों को उन मजहबों के मानने वालों की निगाहों से पढ़ें तो हमें पता चलेगा कि सब मजहबों की जड़ एक है। सभी धर्म हमें उपदेश देते हैं कि सम्पूर्ण मानव–समाज एक कुटुम्ब है और मानव–समाज की एकता को साक्षात करना ही मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य है। जिस प्रकार वसुधैव कुटुम्बकम् हिन्दू धर्म का पुराना आदर्श है उसी प्रकार कुरान की एक मशहूर आयत है– ''ये इंसान अल्लाह का कुनबा हैं।'' इसी तरह की उक्तियां दुनिया के अन्य धर्म ग्रंथों में भी पाई जाती हैं। गांधी ने यह अनुभव किया कि सभी धर्मों के बुनियादी सिद्धान्त एक हैं, अन्तर सिर्फ रूढ़ियों, कर्मकाण्डों और ऊपरी रीति–रिवाजों में है। ईश्वर, अल्लाह, ईसा मसीह– सब एक ही हैं, फर्क सिर्फ इतना है कि हिन्दू उनकी उपासना मंदिर में, मुसलमान मस्जिद में और ईसाई गिरजाघर में अपने–अपने ढंग से करते हैं। व्यक्ति धोती पहनें या लुंगी, चावल खाएं या रोटी, मंदिर जाएं या मस्जिद– इस आधार पर आपस में द्वेष और वैमनस्य पालने का कोई अर्थ नहीं है। सभी मनुष्य पहले इंसान हैं तब हिन्दू, मुसलमान या सिक्ख। मनुष्य होने के नाते सभी भाई–भाई हैं, बराबर हैं। सभी धर्मों में भलाई की बात कही है। प्रेम और अहिंसा को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। जहां भलाई है वहां प्रेम है। जहां प्रेम है वहां अहिंसा है। जहां अहिंसा है वहां सच्चाई है और जहां सच्चाई है वहां धर्म का राज्य है।

प्रत्येक समाज या देश के कुछ सामान्य लक्ष्य होते हैं। प्रत्येक देशवासी का यह कर्त्तव्य है कि वह समाज के उन सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मिल–जुल कर प्रयास करें तथा देश के सुख–दुःख में समानता से साझेदार बनें। इस तरह मानसिकता और विचार के पनपने पर ही लोगों में भाई–चारे का भाव उत्पन्न होगा और बनावटी भेद–भाव को भूलकर वे एक हो सकेंगे। गांधी के अनुसार हिन्दू–मुस्लिम एकता इस बात पर निर्भर करती है कि उनके लक्ष्य और उद्देश्य सामान्य है या नहीं। देश के सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उन्हें मिलजुल कर प्रयास करना चाहिए। असंतोष तब उत्पन्न होता है जब अल्पसंख्यक समूह की उम्मीदें और आशाएं पूरी नहीं होतीं और वे राष्ट्र की मुख्य धारा से कट जाते हैं। गांधी कहते हैं– सभी प्रकार की हिंसा में अनैतिकता की गंध आती है। अतः नैतिकता को सर्वोच्च महत्त्व प्रदान करके ही साम्प्रदायिक समुदायों में भाईचारे की भावना को बढ़ाया जा सकता है।

सभी धर्म प्रेम और शांति का उपदेश देते हैं। किन्तु हम उन उपदेशों के अनुसार व्यवहार नहीं करते। हिन्दू अपने धर्म का पालन नहीं करते, लेकिन सच्चा हिन्दू होने का ढिंढोरा पीटते हैं। यही बात अन्य धर्मों के लोगों पर भी लागू होती है। हमारे ऊपर हिन्दू, इस्लाम और ईसाई धर्म की सील लगी है। मगर अंदर से हम वैसे नहीं हैं क्योंकि अपने धर्म के उपदेशों और निर्देशों का पालन नहीं करते हैं। हम कर्त्तव्यच्युत हो गए हैं। साम्प्रदायिक एकता की स्थापना तभी हो सकती है जब सभी धर्मों के अनुयायी अपने–अपने धर्म के महान उपदेशों का पालन करें और कर्त्तव्यनिष्ठ बनें। न केवल विभिन्न धार्मिक समुदायों बल्कि विभिन्न जातियों, वर्गों और प्रजातियों को एक सूत्र में पिरोने के लिए सामाजिक सम्पर्क अत्यन्त आवश्यक है। सम्पर्क से उनके मध्य की दूरी कम होती है। पश्चिमी विचारकों ने प्रजातियों में व्याप्त दूरी और मनमुटाव को कम करने में सामाजिक सम्पर्क से धनात्मक भूमिका को अपने अनुसंधान के द्वारा सिद्ध किया है । उनका मत है कि सामाजिक सम्पर्क का अवसर बढ़ाकर एक दूसरे के प्रति लोगों के मनोवृत्ति और पूर्व धारणा को बदला जा सकता है। महात्मा गांधी भी पश्चिमी विचारकों के इस मत से सहमत हैं। गांधी का कहना था– हिन्दू और सिक्ख औरतों को मुस्लिम बहनों के यहां जाना चाहिए और उनसे दोस्ती करनी चाहिए। पर्व–त्यौहार और विवाह–शादी के मौके

पर उन्हें आमंत्रित किया जाना चाहिए। यदि यह क्रम चलता रहे तो उनके मध्य व्याप्त प्रतिकूल मनोवृत्ति और पुरानी धारणाएं स्वतः गायब हो जाएंगी। उनमें दोस्ती और प्रेम का वातावरण फैल जाएगा और द्वेष, घृणा तथा संघर्ष खत्म हो जाएगा।

दुनिया के महान् धर्मों में काफी समानता है। भारत के अनेक विचारकों और दार्शनिकों ने इस तथ्य पर जोर दिया है। हमारे धर्म बाहर से अलग भले दिखें, किन्तु अंदर से एक हैं। बाह्य चिन्हों और प्रतीकों, रीतियों और रस्मों, मजहब और पूजा के रूपों और विधियों में भिन्नता के बावजूद भी दोनों धर्म एक ईश्वर, आत्मा की अनश्वरता, भौतिक वस्तुओं की क्षण भंगुरता और आध्यात्मिक विषयों के स्थायी महत्त्व को समान रूप से महत्त्व देते हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों एक हैं, एक ही ईश्वर–अल्लाह की आराधना करते हैं, एक ही पिता की संतान हैं और एक ही रक्त से उनका निर्माण हुआ है। धर्मों की बुनियादी एकता को प्रकट करते हुए गांधी ने लिखा– जिस प्रकार किसी वृक्ष का तना एक होता है परंतु शाखाएं और पत्ते अनेक होते हैं और उनमें फर्क भी दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार सच्चा और पूर्ण धर्म एक है। किन्तु जब वह मानव के माध्यम से व्यक्त होता है तब अनेक अर्थ ग्रहण कर लेता है। जब तक दोनों को इस बुनियादी एकता का अहसास नहीं होगा तब तक धर्म के नाम पर होने वाला युद्ध बंद नहीं होगा। अतः इससे बचने के लिए यह जरूरी है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म के सर्वोत्तम गुणों को ग्रहण करें और दूसरे धर्मों का उसी प्रकार आदर करे जिस प्रकार वह अपने धर्म का करता है। सह–अस्तित्ववाद के दर्शन को व्यावहारिक जीवन में उतार कर ही शांति कायम की जा सकती है।

मनुष्य और मनुष्य निर्मित समूहों में आत्म नियंत्रण और सहिष्णुता घटती जा रही है। जब हमारे स्वार्थों पर प्रहार होता है तो हम क्रोधित होते हैं और कुछ अनर्थ करते हैं। आत्म नियंत्रण और सहने की क्षमता पर ही समाज में कानून और व्यवस्था कायम रहती है। बिना नियंत्रण और सहिष्णुता के मनुष्य जंगली बन जाता है। धर्म से सम्बन्धित छोटी–छोटी घटनाएं भयंकर रक्तपात और मानव की तबाही का कारण तब बनती हैं जब सहन करने की हमारी क्षमता हार मान लेती है। अतः धार्मिक संघर्ष को कम करने के लिए यह जरूरी है कि हम सहिष्णुता को बढ़ाएं और अपने ऊपर पूर्ण नियंत्रण रखें। गांधी के अनुसार सहिष्णुता साम्प्रदायिक संघर्ष के समाधान की कुंजी है। वर्तमान समय में विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में परस्पर आदर और सहिष्णुता की कमी है। सहिष्णुता विभिन्न धर्म के लोगों को अच्छे पड़ोसी और दोस्त के समान रहने के योग्य बनाती है। सहिष्णुता में ही मानव जाति और उसके धर्मों की भलाई निहित है।

प्रत्येक धार्मिक समुदाय के कुछ मूल्य होते हैं, कुछ रीति–रिवाज और संस्कार होते हैं जिनके द्वारा वे अपने आराध्य–देव को रिझाते और खुश करते हैं। हिन्दुओं के उत्सव में बाजा बजाना जरूरी है। किन्तु जिस प्रकार मस्जिद के आगे बाजा बजाने से मुसलमानों को तकलीफ होती है, उनके धार्मिक भावना को ठेस पहुंचती है उसी प्रकार गो–वध की बात हिन्दुओं को असहनीय है। अतः दोनों के लोगों की भलाई इसी में है कि वे एक दूसरे की भावनाओं को समझें और दबाव से नहीं बल्कि स्वेच्छा से ऐसा करना बंद कर दें। गांधीजी यह मानते थे– दबाव डालकर या जोर–जबरदस्ती करके हिन्दू गो–वध बंद नहीं करा सकते और न मुसलमान मस्जिद के आगे संगीत पर रोक लगा सकते हैं। अतः अनुनय–विनय करके ही इसे रोका जा सकता है। जब तक एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयायी के दुख–दर्द को नहीं समझेंगे और एक–दूसरे के लिए कुछ त्याग करने को तैयार नहीं होंगे तब तक उनके सम्बन्ध मधुर और गहरे नहीं हो सकते। अतः राष्ट्रीय एकता के लिए यह जरूरी है कि विशिष्ट पहचान को कायम रखते हुए हम देश के सामान्य हितों के लिए सम्मिलित रूप से प्रयास करें और उसके सुख–दुख में बराबरी के साझेदार बनें।

हिन्दू–मुस्लिम सम्बन्धों की समस्या अपेक्षाकृत एक अर्वाचीन समस्या है। इस्लाम धर्म का प्रवेश भारत में हुआ तब से ही उनके सम्बन्ध खराब रहे हैं और वे एक दूसरे से लड़ते रहे हैं– ऐसी बात नहीं है। गांधी

इस विचार का विरोध करते हैं कि दोनों समुदाय के लोगों में स्वाभाविक रूप से दुश्मनी और वैमनस्य पाया जाता है। हिन्दू और मुसलमान जन्म से एक दूसरे के दुश्मन होते हैं, इसमें कोई दम नहीं है। यह एक अंधविश्वास के अलावा कुछ भी नहीं है। हिन्दू–मुस्लिम में जन्मजात दुश्मनी की बात वे करते हैं जो दोनों के दुश्मन हैं और इस प्रकार दोनों में फूट डालकर वे अपने निहित स्वार्थ की पूर्ति करते हैं। यदि उनमें जन्मजात दुश्मनी की भावना विद्यमान रहती तो उनके संघर्ष कभी बंद नहीं होते, वे निरन्तर चलते रहते। इसके अलावा दोनों एक दूसरे के शासनकाल में अच्छी तरह फले–फूले हैं। दोनों यह मानते हैं कि उनके संघर्ष आत्महत्या के समान हैं। अतः उन लोगों ने शांतिपूर्वक जीने की कला सीख ली है। इससे यह सिद्ध होता है कि दोनों धार्मिक समुदायों के लोगों में परस्पर दुश्मनी का कोई जन्मजात गुण नहीं पाया जाता है। उनके सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हो सकते हैं। हिन्दू यदि मुसलमानों के हित के लिए उनका सहयोग करेंगे तो मुसलमान भी हिन्दुओं के हित की पूर्ति के लिए उनका समर्थन करेंगे। मुसलमानों का खिलाफत आंदोलन और गांधी द्वारा हिन्दुओं से इस आंदोलन के समर्थन की अपील का उद्देश्य हिन्दू–मुस्लिम एकता की जड़ों को मजबूती प्रदान करना ही था। यद्यपि यक एक धार्मिक आंदोलन था और इससे हिन्दुओं को कुछ लेना–देना नहीं था, फिर भी गांधी ने हिन्दुओं से इसके समर्थन की अपील की। गांधी का कहना था– यदि हिन्दू मुसलमानों के हितों की रक्षा के लिए उनका समर्थन नहीं करते हैं तो उनके मध्य भाईचारे का रिश्ता कैसे कायम रह सकता है। अतः गांधी ने हिन्दुओं से कहा– हम हिन्दू–मुस्लिम एकता की बात करते हैं, लेकिन यदि हम इस मौके पर जबकि उनके स्वार्थ पर कुठाराघात हो रहा है, उनसे अलग–थलग रहें तो एकता की बात खोखली साबित होगी। अतः यह हमारा कर्त्तव्य है कि इस मौके पर हम उनका साथ दें और आंदोलन को सफल बनायें। इसी में हिन्दू–मुस्लिम एकता का रहस्य छिपा है। गांधी कहते हैं– यह हिन्दू–मुस्लिम एकता को बढ़ाने की एक सरल और सबसे बेहतरीन विधि है। इतना ही नहीं खिलाफत आंदोलन की सफलता के लिए गांधी ने असहयोग आंदोलन शुरू किया और इस प्रकार न केवल हिन्दू वरन् मुसलमानों के भी प्रिय बन गए।

6.1 सत्याग्रह और साम्प्रदायिक संघर्ष

बुद्ध, महावीर और ईसा मसीह के समान गांधी अहिंसा के साधक और समर्थक थे। किन्तु संघर्ष के समाधान के साधन की खोज वे बुद्ध, महावीर और ईसा मसीह से भी आगे निकल गए। गांधी ने सत्याग्रह का प्रयोग न केवल अंग्रेजी सत्ता से मुक्ति के लिए किया वरन् साम्प्रदायिक संघर्ष के समाधान के लिए भी किया। उनके अनुसार हिंसात्मक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने पर सत्याग्रह का प्रयोग करके उसे शांत किया जा सकता है। सामाजिक–राजनीतिक समस्याओं से लड़ने और न्याय को स्थापित करने के लिए सत्याग्रह एक अनुभव सिद्ध साधन है। सत्याग्रह वह प्रविधि है जो लोगों को सत्य, अहिंसा और प्रेम के आधार पर क्रिया करने का उपदेश देती है।

सत्याग्रह दो प्रकार का है– असहयोग और सविनय अवज्ञा। असहयोग की व्याख्या करते हुए गांधी कहते हैं, ''प्रमुख रूप से असहयोग का अर्थ ऐसी सरकार से अपना सहयोग वापस ले लेना है जो असहयोग करने वाले के विचार में भ्रष्ट हो गई है। वास्तव में सत्य को प्रतिष्ठित करने के लिए सभी प्रकार के अहिंसात्मक प्रतिरोध का ही दूसरा नाम असहयोग है। गांधी के अनुसार असहयोग की तीन आवश्यक शर्तें हैं। सर्वप्रथम, राज्य के कानून का विवेकपूर्ण पालन, द्वितीय, सहिष्णुता और तृतीय कष्ट सहन। साम्प्रदायिक संघर्ष को मिटाने के लिए भी असहयोग का उपयोग किया जा सकता है। हिंसा की स्थिति उत्पन्न होने पर यदि एक धार्मिक समुदाय दूसरे का सहयोग करना छोड़ दे, सहिष्णुता का परिचय दे और स्वयं कष्ट सहने के लिए तैयार हो जाए तो दूसरे समुदाय को उसके आगे झुकना पड़ेगा और शांति स्थापित हो जाएगी। सविनय अवज्ञा सत्याग्रह का ही एक अंग है जो असहयोग से अधिक सशक्त और कठोर होता है। स्वतंत्रता के अहिंसात्मक प्रतिरोध में

गांधी ने इसका प्रयोग किया। गांधी के शब्दों में, ''अनैतिक कानूनों का सविनय भंग करना सविनय अवज्ञा है। इसमें प्रतिरोधी किसी कानून का उल्लंघन अहिंसक ढंग से करता है। वह कानून की सजा का स्वागत करता है और खुशी–खुशी जेल जाता है। कानून भंग करने वाला व्यक्ति चोरी–चोरी कानून तोड़ता है और दण्ड से बचने की कोशिश करता है, किन्तु सविनय प्रतिरोधी ऐसा नहीं करता। जब समाज के कानून अन्याययुक्त हो जाते हैं और उससे समाज का अहित होता है तब सत्याग्रही उसके खिलाफ अपना विरोध प्रकट करता है और उसकी अवहेलना भी करता है। प्रत्येक धार्मिक समुदाय के कुछ विशिष्ट नियम और कानून होते हैं। ऐसे नियम जो समाज के लिए अहितकर हों उसे सविनय तोड़ा जा सकता है। सन् 1920 से लेकर देश के विभाजन और उसके बाद देश में अनेक भागों में भयंकर साम्प्रदायिक दंगे हुए। दंगे की विभीषिका से गांधी काफी बेचैन और परेशान थे। साम्प्रदायिक शांति के लिए उन्होनें उपवास का सहारा लिया, जिसका लोगों पर सराहनीय प्रभाव पड़ा।

वर्तमान भारत में गांधी के व्यक्तित्व वाले नेता या सामाजिक सुधारक का नितान्त अभाव है। आज जाति और धर्म के नाम पर हमारे नेता भी बंट गए हैं। साम्प्रदायिक दंगों के अनेक सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक और आर्थिक कारण हैं। साम्प्रदायिक तनाव और संघर्ष के सभी कारणों की प्रकृति को समझे बिना उसका स्थायी समाधान खोजना कठिन है। न केवल नैतिक अपील बल्कि समस्या के सामाजिक–आर्थिक विश्लेषण भी इस स्थिति से निपटने के लिए जरूरी हैं। गांधीजी का उद्देश्य तनाव और संघर्ष की स्थिति को नियंत्रित करना था जिसमें वे बहुत हद तक सफल भी हुए। इस प्रकार सत्याग्रह के द्वारा साम्प्रदायिक संघर्ष को नियंत्रित करके एक सीमा तक लोगों में सद्भाव और प्रेम के बीज बोए जा सकते हैं। अहिंसा ही एक ऐसे समाज की रचना में समर्थ है जिसमें धर्म जाति या वर्ग के नाम पर समुदायों में तनाव और संघर्ष कम से कम हों।

7. अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. मूल्य की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए मूल्यों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. मूल्यपरक शिक्षा के सम्बन्ध में जीवन विज्ञान की भूमिका का वर्णन कीजिए।

2. मूल्यों के विकास में परिवार व समाज की भूमिका का वर्णन कीजए।

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. निम्न में से मूल्य का एक गुण है–

    अ. सृजनात्मकता　　ब. आत्मनिष्ठता

    स. वचनबद्धता　　द. उपरोक्त सभी

2. मूल्य निर्धारण के किस सिद्धान्त के अनुसार मूल्य व्यक्ति में निहित होते हैं–

    अ. उपयोगितावादी सिद्धान्त　　ब. रूचि का सिद्धान्त

    स. आत्मनिष्ठता का सिद्धान्त　　द. पूर्णत का सिद्धान्त

3. राजस्थान में प्राथमिक शिक्षा निदेशालय कहां अवस्थित है–

अ. जयपुर ब. जोधपुर

स. बीकानेर द. उदयपुर

4. प्रथम भारतीय शिक्षा सम्मेलन कहां आयोजित हुआ?

अ. वर्धा ब. पूना

स. दिल्ली द. मद्रास

5. चित्त निरोध के उपाय हैं–

अ. प्रशिक्षण ब. वैराग्य

स. ध्यान द. उपरोक्त में से कोई नहीं

6. गांधी ने हृदय परिवर्तन की धारणा का विकास व प्रयोग मुख्यतः किस आश्रम में किया–

अ. पीनीक्स आश्रम ब. शांति निकेतन

स. साबरमती आश्रम द. टालस्टाय आश्रम

7. ..... धर्म परिवर्तनशील होते हैं, ... धर्म शाश्वत होते हैं।

8. ..... मूल्य का सम्बन्ध बाह्य परिस्थितियों से है।

9. ..... एवं ..... पतन मानव के समस्त संकटों का कारण है।

10. ..... जीवन को स्पर्श करने वाली विद्या है।

इकाई – 4
अहिंसा प्रशिक्षण : हृदय परिवर्तन

उद्देश्य

1. अहिंसा व अहिंसा प्रशिक्षण का परिचय प्राप्त करना।
2. हृदय परिवर्तन की तकनीक को जानना।
3. दृष्टिकोण परिवर्तन को समझना।

संरचना

1. स्वरुप विवेचन
    - 1.1 हिंसा के आंतरिक कारक
    - 1.2 हिंसा के बाह्य कारक
    - 1.3 हिंसा का निवारण
2. अहिंसा प्रशिक्षण क्यों ?
    - 2.1 महाप्रज्ञ दृष्टि
    - 2.2 अहिंसा प्रशिक्षण के उद्देश्य
3. अहिंसा के विविध पक्ष (Facets of Non-violence)
    - 3.1 अहिंसा की शक्ति
    - 3.2 अहिंसा और शांति
    - 3.3 अहिंसा और आहार
    - 3.4 अहिंसा और ध्यान
    - 3.5 अहिंसा और अभय
    - 3.6 अहिंसा और दया
    - 3.7 अहिंसा और करुणा
    - 3.8 अहिंसा और संयम
4. अहिंसा प्रशिक्षण की पृष्ठभूमि
    - 4.1 अहिंसा प्रशिक्षण के दो पक्ष
        - 4.1.1 अहिंसा प्रशिक्षण का सैद्धान्तिक स्वरूप
6. अहिंसा–प्रशिक्षण की विकास यात्रा
    - 6.1 प्राचीन व मध्यकालीन परिप्रेक्ष्य

6.2 महात्मा–गांधी के प्रयत्न

6.2.1 हृदय परिवर्तन

6.2.2 विचार–परिवर्तन

6.2.3 स्थिति–परिवर्तन

6.2.4 शांति–सेना

6.3 विनोबा के प्रयत्न

6.3.1 हृदय–परिवर्तन

6.3.2 विचार परिवर्तन

6.3.3 स्थिति–परिवर्तन

6.4 मार्टिन लूथर किंग के प्रयास

6.5 वार रेसिसटर्स इंटरनेशनल (WRI) के प्रयास

6.6 आचार्य तुलसी के प्रयास

6.6.1 सैद्धांतिक प्रशिक्षण

6.6.2 प्रायोगिक प्रशिक्षण

6.7 विभिन्न संस्कृतियों में अहिंसा प्रशिक्षण का विकास

6.8 बौद्ध दर्शन में अहिंसा प्रशिक्षण

7. साधन की पवित्रता के सिद्धान्त का विकास

8. अहिंसा प्रशिक्षण (आचार्य महाप्रज्ञ प्रणीत) : विविध आयाम

8.1 हृदय परिवर्तन

8.1.1 मानवीय संवेग और हिंसा

8.1.1.1 लोभ (Greed)

8.1.1.2 क्रूरता (Cruelty)

8.1.1.3 मिथ्याभिमान (Vanity)

8.1.1.4 असहिष्णुता (Intolerance)

8.1.1.5 क्रोध (Anger)

8.1.2 हृदय परिवर्तन की आवश्यकता

8.1.3 हृदय परिवर्तन का आधार

8.1.4 हृदय परिवर्तन के सूत्र

8.1.4.1 सैद्धान्तिक प्रशिक्षण के सूत्र

8.1.4.2 प्रायोगिक प्रशिक्षण के अज़्यास सूत्र

8.1.4.3 परिवर्तन का साधन अनुप्रेक्षा व भावनाएं

8.1.4.4 मुज़्य भावनाएं या अनुप्रेक्षाएं

8.1.4.4.1 अनासक्ति

8.1.4.4.2 अभय

8.1.4.4.3 मृदुता

8.1.4.4.4 मैत्री

8.1.4.4.5 करुणा

8.1.4.4.6 विधायक चिंतन

8.2 दृष्टिकोण परिवर्तन

8.2.1 अनेकान्त– व्यापक दृष्टिकोण का आधार

8.2.2 सापेक्षता

8.2.2.1 अहिंसा के विकास में सापेक्षता का योगदान

8.2.2.2 निरपेक्ष दृष्टिकोण– हिंसा का कारण

8.2.2.3 सापेक्षता के सूत्र

8.2.2.4 सापेक्षता के प्रयोग

8.2.3 सह–अस्तित्व

8.2.3.1 सह–अस्तित्व का आधार

8.2.3.2 सह–अस्तित्व के प्रयोग

8.2.3.3 विश्वशांति और सह–अस्तित्व

8.2.3.4 सह–अस्तित्व के सूत्र

8.2.4 दृष्किोण परिवर्तन के प्रयोग

9. अभ्यास प्रश्न

1. स्वरुप विवेचन

जैन शास्त्रों में हिंसा को प्राणातिपात, मृत्यु, नर्क, प्रमाद और काम भोगों में आसक्ति आदि कहा गया है। आत्मा की अशुद्ध परिणति मात्र हिंसा है। संक्षेप में कहें तो रागद्वेषात्मक समस्त प्रवृत्तियां हिंसा है। जो रागद्वेष की प्रवृत्ति करता है वह अपनी आत्मा की घात कर ही लेता है, फिर चाहे वह दूसरों जीवों की घात करे या नहीं। हिंसा से विरत न होना हिंसा है और हिंसा में परिणति होना भी हिंसा है। इस लिए जहां रागद्वेष की प्रवृत्ति है, वहां निरंतर प्राणवध होता है।

सूत्रकृतांग में हिंसा के पांच कारण निर्दिष्ट किए गए हैं—

- अर्थदंड
- अनर्थदंड
- हिंसादंड
- अकस्मातदंड
- दृष्टिविप्रयास दंड

स्वयं, अपनी जाति, परिवार, मित्र, राष्ट्र आदि के लिए की जाने वाली हिंसा अर्थदंड है। स्वयं के लिए किसी जीव का वध न कर बिना किसी प्रयोजन कौतुहलवश उसका वध, छेदन आदि अनर्थ दंड है। ''यह जीर्वित रह कर मुझे मार डालेगा''- की आशंका से किसी भी प्राणी का वध हिंसादंड है। किसी प्राणी की घात करने के अभिप्राय से किए गए आक्रमण या चलाए गए शस्त्र से दूसरे प्राणी का वध हो जाए उसे अकस्मात् दंड कहा जाता है। अन्य प्राणी के भ्रम से अन्य प्राणी की हिंसा करना दृष्टिविप्रयास दंड है।

ये सभी हिंसा के कारण भी हैं और हिंसा के प्रकार भी। हिंसा का उपादान कारण व्यक्ति की असत्वृत्ति है जबकि राग और द्वेष उसके निमित्त कारण हैं। सुत्रकृतांग में राग-द्वेष पर आधारित हिंसा के चार निमित्त कारण बताये गए हैं—

- मित्र-दोष-निमित्तक
- मान-निमित्तक
- माया-निमित्तक
- लोभ-निमित्तक

थोड़े अपराध के लिए बड़ा दंड मित्र-दोष-निमित्तक कारण कहलाता है। कई व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपने माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री, पुत्रवधु आदि को मामूली भूल के लिए महान दंड देते हैं। यह मित्र दोष से होने वाली हिंसा का निमित्त है। जाति, कुल, बल, रूप, तप, ज्ञान, ऐश्वर्य आदि के मद से मत हो कर दूसरे प्राणियों को तुच्छ गिनना तथा उन्हें तिरस्कृत करना मान निमित्तक हिंसा है। धूर्तता, कपट आदि से परिपूर्ण होकर अपनी चित्तवृत्ति को सदा प्रवंचना में लीन रखना तथा हृदय में शुद्ध भाव की प्रवृत्ति का न होना माया निमित्तक हिंसा है। वंदना, पूजा, सज़्मान प्राप्त करने के लिए, जन्म-मरण से छूटने के लिए पदार्थ लिप्सा में रत रहना लोभ निमित्तक हिंसा है।

प्रश्नव्याकरण में कहा गया है— ''कई व्यक्ति क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति-अरति, शोक, स्त्री-पुरुष, नपुंसक के लिए जीवितव्य की कांक्षा के लिए, धर्म निमित्त, स्ववश या परवशता से, प्रयोजन या बिना प्रयोजन त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करते हैं''— वे 'अर्थ, धर्म और काम- तीनों के लिए हिंसा करते है।[4]

आचार्य महाप्रज्ञ हिंसा के कारण और परिणाम— दोनों की एकात्मकता का प्रतिपादन करते हैं। वे हिंसा को प्रवृत्ति नहीं मानते, उसे परिणाम मानते हैं। उनका तर्क है— हिंसा के कारक-कारण नहीं हो तो वह निष्पन्न नहीं होती। वे आचारांग सूत्र में वर्णित हिंसा के चार कारणों का निर्देश करते हैं—

- वर्त्तमान जीवन के लिए
- प्रशंसा, सज़्मान और पूजा के लिए
- जन्म, मरण और मोचन के लिए तथा
- दु:ख प्रतिकार के लिए।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में हिंसा के 15 कारणों का निर्देश है- क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, वैर, रति, अरति, शोक, भोग, अर्थ, कर्म, धर्म, पराधीनता एवं मोह। आचार्य महाप्रज्ञ एक सर्वांगीण दृष्टि का प्रतिपादन करते हुए हिंसा के कारणों को मनुष्य के भीतर भी देखते हैं, और बाहर भी। इन्हें निज़्नांकित रूप से वर्गीकृत किया जा सकता है—

1.1 हिंसा के आंतरिक कारक

(अ) शरीर के स्तर पर

1. नाड़ी तंत्रीय असंतुलन
2. रासायनिक असंतुलन

(ब) सूक्ष्म शरीर के स्तर पर

1. कर्मविपाक
2. धुंधला आभामण्डल

(स) चेतना के स्तर पर

- मानसिक तनाव
- भावनात्मक तनाव
- निषेधात्मक दृष्टिकोण
- मानसिक अति-चंचलता
- अंधभावना
- हीन भावना
- वैचारिक आग्रह या मिथ्या दृष्टिकोण

1.2 हिंसा के बाह्य कारक

- असंतुलित समाज व्यवस्था
- असंतुलित राजनैतिक व्यवस्था
- शस्त्रीकरण
- जातीय कट्टरपन और रंगभेद
- सांप्रदायिक वैमनस्य
- असंतुलित मानव संबंध

- आर्थिक स्पर्धा और अभाव
- संरचनात्मक अन्याय एवं शोषण

हिंसा के कारण बाहर परिवेश में भी हैं और अन्दर हमारी वृत्तियों में भी। कुछ कारण व्यक्ति में हैं, कुछ समाज में हैं। हिंसा का मूल कारण— उपादान व्यक्ति में है। उसको उद्दीप्त करने वाले निमित्त कारण परिवेश में हैं, समाज में हैं।

आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक कारण हिंसा को प्रोत्साहन देते हैं। विषमता, बेरोजगारी, शोषण, दरिद्रता, अतिभाव, विलासिता आदि ऐसे निमित्त हैं, जिनसे व्यक्ति में निहित उपादान को उत्तेजना मिलती है। जो हिंसा भड़काने में निमित्त बनते हैं। हिंसा को भड़काने में सामाजिक विकृतियां, वर्णभेद, अस्पृश्यता, विषम परिस्थितियां, कुरूढ़ियां, दासता आदि का भी बहुत बड़ा हाथ रहता है।

ये बाह्य कारण व्यक्ति के आन्तरिक कारणों को जगाते हैं। व्यक्ति के भीतर हिंसा का मुख्य कारण है— व्यक्ति की वृत्तियां। निषेधात्मक भाव, क्रूरता, भय, ईर्ष्या, क्रोध, अहंकार, लोभ आदि वृत्तियां हिंसा को जन्म देती हो। व्यक्ति में हिंसा का दूसरा कारण है— अपने मत का दुराग्रह एवं स्वयं को ही सही समझने की दृष्टि। अपने से भिन्न मत वाले को गलत समझने का दृष्टिकोण अन्ततः हिंसा को प्रोत्साहित करता है, हिंसा को पोषण देता है। व्यक्ति की जीवन शैली का भी हिंसा से बहुत गहरा संबंध है। सुविधावादी, असंयमित, भोगप्रधान जीवन शैली हिंसा को उत्तेजित करती है।

1.3 हिंसा का निवारण

हिंसा और अहिंसा दोनों के बीज मनुष्य के भीतर हैं। हिंसा की जड़ भी हमारे भीतर विद्यमान है और अहिंसा की जड़ भी हमारे भीतर विद्यमान है। भगवान् महावीर ने कहा— निमित्त और उपादान, परिस्थिति और अन्तर्जगत्, दोनों को तोड़कर मत देखो। कुछ लोग सारा भार परिस्थिति पर ही डाल देते हैं। परिस्थिति नहीं बदलेगी तो समस्या का समाधान नहीं होगा। दूसरी ओर अध्यात्मवादियों का मत है— अन्तर्जगत् में सुधार नहीं होगा, उपादान नहीं बदलेगा तो समस्या का समाधान नहीं होगा। ये दोनों ही एकांगी दृष्टिकोण हैं। निमित्त और उपादान—दोनों जुड़े हुए हैं। उपादान शक्तिशाली और निमित्त प्रतिकूल है तो उपादान कुछ नहीं कर पाएगा। जो घटित होता है इन दोनों के योग से होता है। समग्र परिवर्तन के लिए दोनों पर ध्यान देना अपेक्षित है।

2. अहिंसा प्रशिक्षण क्यों ?

मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य में आहार, भय, मैथुन, युयुत्सा आदि मूलवृत्तियों के अतिरिक्त दो अन्य मूलवृत्तियां पाई जाती हैं —

- जीने की स्वाभाविक इच्छा और
- मरने की स्वाभाविक इच्छा

सभी प्राणी जीना चाहते हैं अर्थात् सभी प्राणियों में जीजीविषा वृत्ति है। यह एक शाश्वत घोषणा है किन्तु देखने और सुनने में यह बड़ा विचित्र लगता है कि मनुष्य में मरने की भी स्वाभाविक इच्छा है। बहुधा इस तथ्य को स्वीकारोक्ति भी नहीं मिलती। एक व्यक्ति जब बुढ़ापे की ओर अग्रसर होता है अथवा गहन वैराग्य की स्थिति में होता है अथवा जब उसकी 'अहं ऊर्जा ' (Ego energy) समाप्त हो जाती है अथवा कम होने लगती है तब उसमें मरने की स्वाभाविक इच्छा स्पष्ट रूप से उजागर होती है।

जीजीविषा और मृत्यु की इच्छा के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। जीजीविषा के तीन महत्त्वपूर्ण परिणाम या प्रतिक्रियाएं हैं—

- प्रेम और सम्बन्ध भाव (Love and Belongingness)
- सामाजिक अन्तर्क्रियाएं (Social Interactions)
- सामाजिक कल्याण (Social Welfare)

जीजीविषा में स्वयं भी जीने की इच्छा होती है और व्यक्ति दूसरों को भी जिंदा देखना या रखना चाहता है; इसीलिए उसे दूसरों से प्रेम करना, दूसरों से संबंध जोड़ना अच्छा लगता है। कई बार व्यक्ति न चाहते हुए भी दूसरे का सहयोग करता है, दूसरे से प्रेम करता है यह उसकी तीव्र जीजीविषा के कारण ही होता है। एक व्यक्ति अथवा एक माँ एक बच्चे के गिरते ही उसे तुरंत उठाने के लिए दौड़ती है, उसकी सार-संभाल करती है क्योंकि वह उसे जिंदा देखना चाहती है। हमारी सभी अन्तर्क्रियाएं परस्परता की द्योतक हैं। परस्पर अन्तर्क्रियाओं के द्वारा हम संबंधों को मजबूत करते हैं। परस्पर निर्भरता का स्तर जितना अधिक होता है, संघर्ष होने की संभावना उतनी ही कम हो जाती है। पारस्परिक निर्भरता संबंधों को एक ऐसा धरातल देती है कि एक के बिना दूसरे के अस्तित्व का सोचना कठिन होता है। परस्पर एक दूसरे का उपकार ही समाज की नींव है और यही सामाजिक कल्याण का आधार भी। स्वास्थ्य, चिकित्सा, शिक्षा आदि सेवाएं समाज कल्याण की द्योतक हैं, जिनका उद्देश्य एक व्यक्ति को जीने के लिए सहयोग करना है और उसके लिए जीने की अनुकूल परिस्थितियां पैदा करना है।

जीजीविषा की ऊर्जा प्रेम और संबंध, सामाजिक अन्तर्क्रियाओं तथा समाज कल्याण के कार्यों में विनियोजित होती है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह अहिंसक ऊर्जा है जो स्वयं और दूसरे को जीने में सहयोग करती है। ऐसी ऊर्जा के व्यक्ति स्वयं के अस्तित्व के लिए दूसरों के जीवन को भी आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार वे जीवन की सापेक्षता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। जीवन मात्र परस्परावलंबित है, एक के बिना दूसरे का जीवन नहीं चल सकता इसलिए हर जीवन के प्रति संयम रखना अहिंसा का अज़्यास ही है।

मृत्यु की इच्छा के भी तीन परिणाम या प्रतिक्रियाएं देखी जाती हैं –

- दुश्चिंता या नैराश्य
- आक्रामकता और
- हिंसा।

मृत्यु की इच्छा जब प्रभावकता की स्थिति में होती है तो एक व्यक्ति दुश्चिंता या निराशा का शिकार होता है। दुश्चिंता या निराशा की लंबी स्थिति उसे आक्रामक बना देती है तथा व्यक्ति हिंसा पर उतारु हो जाता है। मरणेच्छा के प्रभुत्व की स्थिति में एक व्यक्ति में तोड़-फोड़ की कार्यवाही की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। वह दूसरों को कष्ट पहुंचाना चाहता है तथा बहुधा स्वयं को भी कष्ट पहुंचाना चाहता है। यहां न उसे स्वयं का अस्तित्व अच्छा लगता है और न दूसरों का। व्यक्ति अपने जीवन के साथ दूसरों के जीवन को भी कष्ट में डालना चाहता है, उसे समाप्त करना चाहता है। प्रारंभिक स्थिति में वह अपने जीवन के लिए दूसरों के जीवन का हरण करना चाहता है। उसमें यह अनुभूति या संवेदना नहीं होती कि उसका जीवन दूसरों के अस्तित्व पर ही निर्भर है।

यहां 'अहं सुरक्षातंत्र' (Ego Defense Mechanism) को भी स्पष्ट करना आवश्यक है। यह सुरक्षा तंत्र अहं या व्यक्ति को बचाने के लिए है। अहं सुरक्षा तंत्र की तीन प्रतिक्रिया प्राय: देखने को मिलती है–

- लड़ो या भागो (Fight or Flight)
- संघर्ष (Struggle)
- जीविता (Survival)

मरणेच्छा की प्रभावकता की स्थिति में व्यक्ति में गंभीर रूप से असुरक्षा का भाव जन्म ले लेता है। असुरक्षा का भाव 'लड़ो या भागो' या संघर्ष की प्रतिक्रिया को जन्म देता है। व्यक्ति स्वयं के अस्तित्व को बचाने के लिए अथवा अहं की पूर्ति के लिए दूसरों को कष्ट देता है, उन्हें मारता है। इस रूप में मरणेच्छा हिंसक व्यवहार को प्रोत्साहित करती है। हिंसक व्यवहार में एक व्यक्ति अपनी आक्रामकता एवं कुण्ठा का प्रयोग करते हुए 'अहं सुरक्षा तंत्र' को प्रयुक्त करता है तथा स्वयं अथवा दूसरों को कष्ट पहुंचाता है, हत्या या आत्महत्या करता है।

जीजीविषा और मरणेच्छा के उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि जीजीविषा और मरणेच्छा एक व्यक्ति के अहिंसक और हिंसक व्यवहार के लिए जिम्मेदार है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि व्यक्ति का व्यवहार दो प्रकार का हो सकता है– अहिंसक और हिंसक। जीजीविषा की ऊर्जा (Energy of Life Instinct) और मरणेच्छा की ऊर्जा (Energy of Death Instinct) इनकी उद्दीपक हैं।

एक सफल सामाजिक जीवन के लिए जीजीविषा की वृत्ति तथा मरणेच्छा की वृत्ति के बीच संतुलन आवश्यक है। इनके असंतुलन से सामाजिक पर्यावरण को तो क्षति होती ही है, परिस्थितिकी को भी नुकसान पहुंचता है। अहिंसा प्रशिक्षण मुख्यत: इन दोनों के बीच संतुलन को स्थापित करने की एक अभिनव पद्धति है। एक व्यक्ति कार्यक्षम बना रहकर समाजोपयोग बना रहे, इसके लिए कुछ सीमा तक उत्पादक संघर्ष की ऊर्जा भी आवश्यक है तथा इसकी अति को रोका जा सके, इसके लिए हृदय परिवर्तन आदि प्रक्रियाएं कारगर सिद्ध होती हैं।

2.1 महाप्रज्ञ दृष्टि

आचार्य महाप्रज्ञ अहिंसा प्रशिक्षण का आधार सम्यक् दर्शन को मानते हैं। वीतरागता अर्थात् राग–द्वेष मुक्ति का लक्ष्य सम्यक् दर्शन है। वीतरागता में राग–द्वेष और उनसे होने वाले पक्षपात और आग्रह का आवेश नहीं होता।

आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं– पांच अस्तिकाय (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय एवं काल) और षड्जीवनिकाय (पृथ्वीकाय, अप्काय, तैजसकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय) का सिद्धान्त भारतीयदर्शन को महावीर की एक अनुपम देन है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस– ये सब जीवों के निकाय हैं तथा इन सभी निकायों के जीव चेतनायुक्त हैं। षड्जीवनिकाय की स्थापना से अहिंसा को संयम का आयाम मिला। व्यक्ति सभी जीवों को नहीं मार सकता किन्तु उन्हें नहीं मारने का संकल्प नहीं है, वह अहिंसा की दिशा में अग्रसर नहीं हो सकता। इसी प्रकार एक व्यक्ति के जीवों को नहीं मारने मात्र से अहिंसा का सिद्धान्त स्थापित नहीं हो जाता, जब तक वह जीवों को अभयदान नहीं दे देता है, उन्हें नहीं मारने का संकल्प नहीं कर लेता है।

संयम का फलित है– अहिंसा और असंयम का फलित है– हिंसा। असंयम और संयम का संबंध किसी दूसरे से नहीं है, अपनी चेतना से है। यदि अहिंसा (संयम) का संबंध जीवजगत् से हो तो कोई भी मनुष्य अहिंसा की पूर्ण साधना नहीं कर सकता। संपूर्ण लोक जीवों से व्याप्त है। प्रवृत्ति करने वाला प्राणी सूक्ष्म जीवों की हिंसा से बच जाए, यह संभव नहीं। इस समस्या का समाधान संयम का सूत्र है। जो व्यक्ति संयम–पूर्वक प्रवृत्ति करता है, अप्रमाद अथवा जागरूकतापूर्ण प्रवृत्ति करता है, उसके हिंसा से होने वाला कर्म बंध नहीं होता। यह अहिंसा का सम्यक् दर्शन है।

सम्यक्–दर्शन जीवन के लक्ष्य के प्रति स्पष्टता के साथ ही सर्वांगीण और संतुलित दृष्टि का सूचक है। एकांगी या पूर्वाग्रही दृष्टि सत्य की बाधक है और हिंसा की जनक एवं पोषक भी। एक वस्तु के जितने पहलू हैं, उतने ही सत्य हैं। जितने सत्य हैं, उतने ही कहने के तरीके हैं। कहने के जितने तरीके हैं उतने ही मतवाद हैं। मतवादों का एकान्तिक दृष्टिकोण विवादों को जन्म देता है और विवाद हिंसा को। इसलिए अहिंसा के विकास की दृष्टि से पूर्वाग्रह एवं एकांगी दृष्टिकोण से मुक्त सम्यक् दृष्टि की अपेक्षा है, जिसकी पूर्ति अहिंसा प्रशिक्षण करता है।

अहिंसा प्रशिक्षण की आवश्यकता को आचार्य महाप्रज्ञ की दृष्टि अनुसार निम्नांकित बिन्दुओं से स्पष्ट किया जा सकता है–

- हिंसा के साधक तत्त्वों को क्षीण करने, अहिंसा के बाधक तत्त्वों का निराकरण तथा अहिंसा के साधक तत्त्वों के विकास के लिए
- हिंसा को कोई भी व्यक्ति एवं प्राणी इच्छा से स्वीकार नहीं करता है। अहिंसा को उसका प्रयोगकर्ता एवं जिस पर उसका प्रयोग किया जाता है– दोनों ही स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं। हिंसा के परिणाम दमनकारी एवं मजबूरीपरक होते हैं जबकि अहिंसा हृदय से स्वीकृत होती है।

- दण्ड अहिंसा का विकल्प नहीं है। यद्यपि दण्ड सर्वथा अस्वीकार्य नहीं हो सकता किंतु दण्ड ही एक मात्र विकल्प होता तो आज विश्व में शांति स्थापित हो जाती।
- अभाव और अतिभाव हिंसा के कारण हैं। जिस समाज में अर्थ का अभाव भी नहीं हो और उसका प्रभाव भी नहीं हो, वही अच्छा समाज होता है। अभाव के कारण कोई दु:खी नहीं हो तथा गरीबी, भूखमारी, बेरोजगारी एक भी व्यक्ति में हताशा पैदा न करे इसका समाधान अभाव व प्रभाव से मुक्त समाज व अर्थव्यवस्था ही है।
- सत्ता व शक्ति से हिंसा कदाचित् ही होती है, सदा नहीं। हिंसा के अधिक कारण हैं- अज्ञान, स्वार्थ, लोभ, आवेश आदि। इनका उपचार होने पर सत्ता व शक्ति से होने वाली हिंसा को रोका जा सकता है।
- भौतिक दृष्टि एवं भौतिक आकर्षण से क्रूरता बढ़ती है। यद्यपि पदार्थ भोग के प्रति आकर्षण सहज है, इसके बचने का उपाय है- अहिंसा का प्रशिक्षण। 'मत मारो' यह अहिंसा का एक पक्ष है, इसका मूल अर्थ है- संयम। संयम का प्रशिक्षण अहिंसा का प्रशिक्षण है, भौतिक आकर्षण से मुक्ति का प्रशिक्षण है।
- कानून और व्यवस्था का नियंत्रण सरकार के पास है। अहिंसा प्रशिक्षण का कार्य है- उत्तेजना देने वाली स्थिति में अहिंसा की जागृति लाना। हिंसा और अहिंसा के परिणामों की जानकारी देना जिससे एक व्यक्ति में परिणाम-बोध की चेतना जगाई जा सके।

उपर्युक्त बिन्दुओं के संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ करते हैं— ''प्रकृति की दृष्टि से विचार करने पर इस सच्चाई को विनम्रता पूर्वक स्वीकार करना चाहिए- हिंसा प्राणी की जीवन शैली के साथ जुड़ी हुई है। हिंसा के दो रूप हैं—

- अनिवार्य हिंसा और
- वार्य हिंसा

जीवन-यापन के लिए होने वाली हिंसा अनिवार्य कोटि की है। प्रमादजनित हिंसा, कलह, संघर्ष, युद्ध और शस्त्र आदि के लिए होने वाली हिंसा वार्य हिंसा है। शांति स्थापना के लिए जरूरी है हिंसा को रोकने के उपायों की खोज, उन पर विचार तथा उनकी क्रियान्विति। वार्य हिंसा के मूल कारण हैं- पदार्थ के प्रति आसक्ति और आकर्षण, प्रभुसत्ता स्थापित करने की मनोवृत्ति, महत्त्वाकांक्षा, सुविधावादी और अमीरी का दृष्टिकोण, क्रोध एवं अहंकार के आवेश। इन कारणों के परिष्कार के बिना शांति की संस्कृति स्वप्न ही रहेगा।

हिंसा के कारणों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

- उपादान कारण और
- निमित्त कारण।

उपादान अर्थात् मूल कारण है- व्यक्ति के अन्त:करण में पनपने वाली आवेशात्मक वृत्ति और निमित्त अर्थात् सहयोगी कारण हैं— परिस्थिति, वातावरण, गरीबी, शोषण आदि। आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं— ''वर्तमान में शांति स्थापना हेतु निमित्त कारणों को बदलने के लिए तो प्रयत्न हो रहे हैं किन्तु उपादान कारणों को नकारा जा रहा है। सच्चाई यह है कि उपादान का परिवर्तन हुए बिना निमित्तों का परिवर्तन स्थायी नहीं होता। अहिंसा प्रशिक्षण द्विआयामी प्रयत्न है- एक ओर यह अंत:करण में विद्यमान हिंसा और अशांति के मूल कारणों के परिष्कार का प्रयत्न करता है, दूसरी ओर परिस्थिति को बदलने का प्रयत्न भी करता है।

जिनका आकर्षण पदार्थ के प्रति है, वे शोषण मुक्त कैसे हो सकते हैं। कानूनी नियंत्रण शोषण को रोकने में कितना कारगर हुआ है, सुगमता से जाना जा सकता है। कानूनी नियंत्रण को सर्वथा मूल्यहीन नहीं माना जा सकता किन्तु उसे समस्या सुलझाने का एकमात्र साधन भी नहीं माना जा सकता। कानूनी नियंत्रण की विफलता हमारा ध्यान हृदय परिवर्तन अथवा चेतना के रूपान्तरण की ओर आकृष्ट करती है।''

आचार्य महाप्रज्ञ पुन: कहते हैं– ''वर्तमान में हिंसा की समस्या और अधिक जटिल हो रही है। इसका एक प्रमुख कारण है- अहिंसा के व्यवहारिक प्रयोगों के प्रशिक्षण का अभाव। हिंसक कार्यवाहियों के लिए प्रशिक्षण की जितनी व्यवस्था है उसके अल्पांश में भी अहिंसा की व्यवस्था नहीं है। प्रशिक्षण की व्यवस्था के अभाव में अहिंसा को प्रभावी नहीं बनाया जा सकता। हिंसक अस्त्र शस्त्रों की संहारक शक्ति बढ़ाने मात्र से हिंसा सफल नहीं होती। उसकी सफलता उनके प्रयोगकर्ता के मन में क्रूरता पैदा करने पर निर्भर है। युद्ध, संघर्ष, आतंकवाद और उग्रवाद को क्रूरता से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

अहिंसा की सफलता के लिए अहिंसक के मन में मैत्री, करुणा, प्राणीजगत् की एकता की अनुभूति उत्पन्न करना जरूरी है। यह कार्य प्रशिक्षण और प्रयोग के द्वारा ही संभव है इस दिशा में उल्लेखनीय प्रयत्न नहीं हो रहे हैं। हिंसा के निमित्तों से बचने के लिए हो रहे प्रयोगों की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता किन्तु निमित्त को बदलने के साथ-साथ उपादान को भी बदलने के प्रयत्न की अपेक्षा है।

हिंसा का मूल कारण मनुष्य की वृत्तियां हैं, उसके भाव हैं। उनका परिष्कार किए बिना अहिंसा को जीवंत नहीं बनाया जा सकता। संघर्ष के इतिहास को देखने से इसकी पुष्टि सहज ही हो जाती है। संघर्ष की परिस्थितियां बदलीं, उसके कारण बदलते रहे, उनका मूल कारण नहीं बदला। परिस्थिति की एक चिंगारी वृत्ति को उत्तेजित कर देती है और उत्तेजित वृत्ति परिस्थिति को और अधिक जटिल बना देती है। गांधीवादी आंदोलन, पर्यावरणीय आंदोलन, मानवाधिकार आयोग एवं शांति कार्यकर्ताओं के प्रयत्न एक अहिंसक शक्ति के रूप में विश्व मानस को आंदोलित नहीं कर रहे हैं। हमारा अभिमत है कि अहिंसा प्रशिक्षण को जोड़े बिना अहिंसा को विश्वस्तर पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता।''

आचार्य महाप्रज्ञ के ये विचार अहिंसा प्रशिक्षण की आवश्यकता को पूर्णत: स्पष्ट कर देते हैं।

2.2 अहिंसा प्रशिक्षण के उद्देश्य

उपर्युक्त बिन्दुओं के अतिरिक्त भी तकनीकी रूप से कुछ उद्देश्य अहिंसा प्रशिक्षण के निर्धारित किये जा सकते हैं। वे निम्नांकित हैं–

- प्रशिक्षणार्थियों में वर्तमान मुद्दों के प्रति समझ को गहरा करने के लिए
- कड़े प्रयासों के लिए संभागियों को मनोवैज्ञानिक रूप से तैयार करना जैसे भय के नियंत्रण के लिए, अहिंसक कार्यवाही के लिए
- स्वानुशासन और समूह के अनुशासन तथा अहिंसा के प्रति आस्था को विकसित करने तथा उसे और अधिक प्रभावी बनाने के लिए
- अहिंसक प्रतिकार की व्यूह रचना एवं प्रतिकार-नीति को विकसित करने के लिए
- अहिंसक प्रतिकार के संचालन की समझ विकसित करने के लिए
- अहिंसक कार्यों के कौशल को विकसित करने के लिए
- संघर्ष को रोककर समझौता एवं संधि स्थापना की तकनीक विकसित करने के लिए।

3. अहिंसा के विविध पक्ष (Facets of Non-violence)

3.1 अहिंसा की शक्ति

शांतिवादियों का यह विश्वास है कि हिंसा से निपटने का सबसे प्रभावी, सुविधाजनक और मित्तव्ययी तरीका अहिंसा का प्रयोग करना है। उनका यह विश्वास वैयक्तिक अनुभवों और अतीत एवं समकालीन अध्ययन पर आधारित है।

युद्ध के विकल्प के रूप में विलियम जेज़्स के "Moral Equivalent to War" से लेकर 'विश्व कानून' तक कई प्रस्ताव आते रहे हैं। इनमें से सबसे अधिक दूरगामी स्थानापन्न विकल्प परज़्परागत सैनिक सुरक्षा के स्थान पर अहिंसक नागरिक प्रतिकार रहा है। गांधी एवं आचार्य महाप्रज्ञ के समान ही कमांडर स्टीफन किंग हाल का मानना है- परमाणु युग में सैनिक आतंक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विकल्प अहिंसा ही है।

अहिंसा की सर्वाधिक आलोचना यह होती है कि अहिंसा को शायद ही कोई सफलता मिलती हो, इसीलिए यह कहा जाता है कि यह अप्रभावकारी और आदर्शवादी संकल्पना है। सामान्य रूप से यह कहा जाता रहा है कि गांधी और कुछ सीमा तक मार्टिन लूथर किंग अपने अहिंसक आंदोलनों में इसलिए सफल रहे क्योंकि वे सज़्य दमनकारियों के साथ लड़ रहे थे। मार्टिन लूथर किंग के मामले में किंग को कानून और सामाजिक स्वीकृति प्राप्त थी। अहिंसा के आलोचक यह भी कहते हैं कि अहिंसक रणनीति प्राय: जनमत पर प्रभाव डालने पर निर्भर रहती है।

इन आलोचनाओं का विश्लेषण करने पर यह कहना कठिन नहीं होगा कि ब्रिटिश इतिहास, विशेषकर 19वीं शताब्दी में, उतना ही खूनी, बर्बर और भेदभावपूर्ण था जितना कि हिटलर के जर्मनी और स्टालिन के रूस का। मोसलम क्रान्ति (Moslem Revolt) को दबाने के लिए ब्रिटिश सैनिकों ने 1896 में ओमडुरमान में दस हजार डरविश का कत्लेआम किया था। ब्रिटिश सैनिकों ने भी भारत में उग्र प्रदर्शनकारियों के दमन के लिए भारी संज़्या में उनको मौत के घाट उतारा था। जलियांवाला बाग हत्याकांड इसका साक्षात् उदाहरण है। अत: यह कहना- ब्रिटिश सज़्य थे, तथ्यों से मेल नहीं खाता।

किंग के अभियान में भी प्रदर्शनकारियों को गोलियां मार दी गई, उन्हें पीटा गया, जेलों में धकेल दिया गया और बहुत से अहिंसक प्रतिरोधी मार दिये गये। किंग के अभियान को सामाजिक स्वीकृति भी प्राप्त नहीं थी। किंग का आन्दोलन अहिंसा की शक्ति और प्रतिकार की तीव्रता से ही सफल हुआ था न कि कोई सामाजिक सहयोग के फलस्वरूप।

जनमत को परिवर्तित करने की आलोचना महत्त्वहीन है। यह सही है कि गांधी ने ब्रिटिश जनमत को प्रभावित करने का प्रयत्न किया तथा किंग ने अमेरिका के जनमत को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया था। सैनिक ताकतें जब इस तरह की रणनीति का प्रयोग करती हैं तो इसे 'मनोवैज्ञानिक युद्ध' की संज्ञा दी जाती है और वही रणनीति जब अहिंसक आन्दोलन में प्रयुक्त की जाती है तब इसे उचित नहीं माना जाता। अहिंसक आन्दोलनकारियों द्वारा लोगों के हृदय को जीतना और मन को बदलने की योग्यता उनकी एक ताकत है। सैनिक ताकतें प्राय: शत्रुओं के जनमत को बदलने में सफल नहीं होती जबकि उनकी तुलना में अहिंसक आन्दोलनकारी कई गुना अधिक सफल होते हैं। ब्रिटिश लोगों के दिल और दिमाग को बदलकर गांधी ने स्वतन्त्रता प्राप्त की और किंग ने समान नागरिक अधिकार। ये परिणाम शायद ही अहिंसा की असफलता को दर्शाते हैं, बल्कि ये तो अहिंसक कार्यवाही की ताकत को दर्शाते हैं।

3.2 अहिंसा और शांति

शांति शोधकर्ता इस निष्कर्ष और सहमति पर पहुंच चुके हैं कि युद्ध का अभाव शांति नहीं है अपितु हिंसा का अभाव शांति है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अहिंसा किसी-न-किसी रूप में शांति के समरूप है। अहिंसा का केन्द्र बिन्दु प्राणीमात्र का सज़्मान है। कांट के शब्दों में- ''मनुष्य को कभी भी साधन के रूप में प्रयुक्त नहीं करना चाहिये, वह अपने आप में साध्य है।'' अन्तर्राष्ट्रीय कानून, औपचारिक और अनौपचारिक कूटनीति अन्तर्राजीय एकता और संयुक्त राष्ट्र आदि सभी किसी-न-किसी रूप में अहिंसा के सिद्धान्तों पर आधारित हैं, जिसे जीन शार्प ने 'वैकल्पिक सुरक्षा' कहा है। जीवन और सज़्पत्ति को बचाने के अतिरिक्त सैनिक प्रतिकार के स्थान पर 'वैकल्पिक सुरक्षा' के दो महत्त्वपूर्ण लाभ हैं—

- यह संभावित अपराध के रूप में व्याज़्यायित नहीं की जा सकती क्योंकि यह सुरक्षा को इसके शुद्ध स्वरूप में प्रदान करती है जो Escalation को नहीं उकसाती।
- ऐसी सुरक्षा प्रजातांत्रिक संस्थाओं के साथ बिना समझौता किये की जा सकती है।

युद्ध अन्तर्सामाजिक, अन्तर्वैयक्तिक, व्यक्तिगत स्तर पर अथवा इनके संयोगों से पैदा होते हैं और अहिंसा इन सभी स्तरों पर संघर्षों का समाधान करती है। इसलिए अहिंसा कम से कम संसाधनों में भी प्रयुक्त होने वाली तथा सुरक्षा एवं शांति के लिए एक कार्यकारी महत्त्वपूर्ण शक्ति है।

युद्ध और शांति को केवल राजनैतिक नजरिये से न देखकर इसके कारणों पर भी यदि हम दृष्टिपात करें तो शांति की दृष्टि से अहिंसा की उपयोगिता निर्विवाद सिद्ध हो जाती है क्योंकि इन कारणों का समाधान केवल अहिंसा के पास ही है, इन्हें दूर करने का साधन शक्ति कज़ी नहीं हो सकती। पदार्थ लिप्सा, अनियंत्रित इच्छाएं, लोभ, महत्त्वाकांक्षा, आवेश, निषेधात्मक भाव आदि। इन कारणों से मुक्ति पाने के लिए आवश्यक है— संवेग नियंत्रण, संयम प्रधान जीवन शैली, प्राणी समानता आदि का प्रशिक्षण। इस दृष्टि से अहिंसा ही महत्त्वपूर्ण शक्ति सिद्ध होती है, युद्ध नहीं।

3.3 अहिंसा और आहार

आहार का हमारे शरीर और भावनाओं पर गहरा संबंध है। अध्यात्म के आचार्यों और मनीषियों ने हजारों वर्ष पूर्व जीवन के साथ भोजन के संबंध पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार विद्या, बुद्धि, मेधा, धृति, इन्द्रिय-निग्रह— इन सबके साथ भोजन का संबंध है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार— शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और भावनात्मक विकास के साथ भोजन का संबंध है। इसलिए वे आहार का विवेचन मात्र स्वास्थ्य की दृष्टि से ही न कर संयम की दृष्टि से भी उस पर विचार की बात करते हैं।

आहार का अर्थ है— बाहर से लेना। जो बाहर से लिया जाता है, उसकी शरीर या मन पर क्या प्रतिक्रिया होगी, इसका विवेक आवश्यक है। भोजन के द्वारा शरीर में कई प्रकार के एसिड का निर्माण होता है। भोजन एवं व्यक्ति की प्रवृत्ति द्वारा शरीर में कई विषैले तत्व ज़ी बनते हैं। अत: अहिंसा की दृष्टि से यह जानना आवश्यक है कि किस प्रकार के भोजन से कैसे तत्वों का निर्माण होता है। जिस भोजन से विषैले तत्व अधिक बनते हैं, वैसे भोजन से मानसिक समस्याएं पैदा होती हैं, भावात्मक उलझने बढ़ती है और फलस्वरूप हिंसा की वृत्ति बढ़ती है।

प्राचीन साहित्य में भोजन के इस पक्ष पर विचार किया जाता रहा है कि क्या खाने से क्या होता है किन्तु वर्तमान में वैज्ञानिकों ने भोजन के इस पक्ष पर भी ध्यान दिया है कि किस प्रकार के भोजन की पूर्ति न होने से क्या होता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने कुछ वैज्ञानिक शोधों के संदर्भ में भोजन के दूसरे पक्ष को स्पष्ट करते हुए लिखा है— रक्त में शर्करा की कमी से शरीर के साथ भावात्मक असर ज़ी होता है। व्यक्ति का स्वभाव बिगड़ जाता है यहां तक कि वह आदमी हत्यारा बन जाता है। वे कहते हैं कि शरीर में चीनी का, नाइटिन की या विटामिन की कमी होने पर आदमी चिड़चिड़ा एवं हत्यारा बन जाता है। निराशाग्रस्त होने की वजह भी शरीर में रसायन की कमी है। उनके अनुसार व्यक्ति के मूढ़ बिगड़ने का मूल कारण ट्रिप्टोफेन (Tryptophane) या सेरोटोनिन (Seratonin) की कमी है। यदि ये रसायन शरीर में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं तो न मूढ़ बिगड़ता है और न भय लगता है, अपितु पीड़ा सहन करने की क्षमता भी बढ़ती है।

अहिंसा की दृष्टि से मांसाहार कभी भी स्वीकार्य नहीं हो सकता। मांसाहार के पक्ष में प्राय: यह तर्क दिया जाता है कि मांस और अंडे में प्रोटीन प्रचुर मात्रा में होता है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार— प्रोटीन की अधिक मात्रा ने मनुष्य को बीमार बनाया है, उसके मानसिक संतुलन को बिगड़ा है तथा उसे मानसिक रोगों से आक्रांत किया है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार— मांसाहार और मादक पदार्थ शारीरिक बीमारियों को ही नहीं मनुष्य की वृत्तियों को भी बिगाड़ते हैं। इसलिए शाकाहार का संबंध सहज ही अहिंसा से जुड़ जाता है। अहिंसा की दृष्टि से आहार की पांच निष्पत्तियों को केन्द्र में रखना आवश्यक है। ये निष्पत्तियां हैं —

शक्तेर्वृद्धि: क्षते पूर्ति:, विजातीयस्य निर्गम:।

लाघवश्च प्रसादश्च, भोजने परिवीक्ष्यताम्॥

अर्थात्—

- शक्ति की वृद्धि

- क्षति की पूर्ति
- विजातीय का निर्गम
- लघुता की उपलब्धि और
- प्रसन्नता की प्राप्ति।

आहार शक्ति-वर्द्धक हो, क्रियाकलापों से हुई शक्ति की क्षति की पूर्ति के लिए हो, विजातीय अर्थात् मलों का निर्गम सहज हो, भोजनोपरांत शरीर में हलकापन आये; आलस्य नहीं और अन्ततः प्रसन्नता आये, जिससे चेतना में निर्मलता जागती है और भावों की शुद्धि होती है। अर्थात् शक्ति की वृद्धि, क्षति की पूर्ति, विजातीय का निर्गम, लघुता और प्रसन्नता— इनकी उपलब्धि जिस आहार से होती हैं, वह परिमित आहार है, हितकर आहार है और अहिंसा की दृष्टि से उचित आहार है।

अहिंसा की दृष्टि से आहार का एक और पहलू अनाहार है। अनाहार का अर्थ है- भूख से कम खाना, कम द्रव्य खाना अथवा बिल्कुल न खाना। जैनदर्शन में भूख से कम खाने को ऊनोदरी कहा गया है। यह वस्तुतः भोजन का संयम है। भोजन के संयम का अर्थ है— इच्छाओं का संयम, विषय-वासना का संयम और अपनी वृत्तियों पर संयम। इसका संबंध निश्चित ही अहिंसा से है। गांधी अहिंसा की शक्ति पैदा करने के लिए आहार संयम— उपवास पर काफी बल देते थे। वे इसे आत्मशुद्धि का साधन भी मानते थे।

आचार्य महाप्रज्ञ महावीर को उद्धृत करते हुए लिखते हैं— **रसापगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं। दितं च कामा सममिद्दवंति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी**। अर्थात् रस-दूध, दही मक्खन आदि का अधिक सेवन नहीं करना चाहिए। ये रस विकार पैदा करते हैं तथा आदमी को विकृत बनाते हैं। जहां विकृति होती है वहां काम-वासनाएं व्यक्ति को पीड़ित करती हैं। यहां रसत्याग के साथ मांसाहार वर्जन की बात स्वयं आ जाती है। भोजन को केवल शारीरिक स्वास्थ्य के साथ ही जोड़कर नहीं देखना चाहिए उसका विमर्श मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य के संदर्भ में भी किया जाना चाहिए। वर्तमान में शरीर पर सबसे अधिक ध्यान दिया जाता है, मन पर उससे कुछ कम और भावों पर तो बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया जाता।

अहिंसा की दृष्टि से भावनात्मक स्वास्थ्य के साथ आहार को जोड़ना आवश्यक है। भावनाओं की विकृति से ही मानसिक और शारीरिक विकृतियां तखा हिंसा आदि अधिक पनपती हैं। आहार में उचित परितर्वन के द्वारा व्यक्ति का भावनात्मक परिवर्तन संभव है। भावनात्मक स्वास्थ्य अच्छा है तो हिंसा की वृत्तियां स्वतः क्षीण होगीं व अहिंसा का विकास होगा।

3.4 अहिंसा और ध्यान

हिंसा का एक बड़ा कारण तनाव है। तनाव के दो प्रकार हैं— आवेशजन्य तनाव और अवसादजन्य तनाव। क्रोध, लोभ आदि कषायों का तनाव आवेशजन्य है और निराशा, निष्क्रियता, निठल्लापन आदि के तनाव अवसादजन्य हैं। तनाव के ये दोनों ही प्रकार एक व्यक्ति को हिंसा की ओर ले जाते हैं। इस स्तर पर पहुंच कर अहिंसा और ध्यान पर विचार उपयुक्त होगा।

आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं— तनाव चाहे अवसाद का हो चाहे मांसपेशियों का, चाहे मानसिक हो या भावनात्मक- इनको मिटाने का ध्यान के अलावा कोई बड़ा विकल्प नहीं है। ध्यान तनावमुक्ति का साधन है, इस रूप में उसे हिंसा के मूल पर प्रहार करने का साधन भी कहा जा सकता है।

रसायनिक असंतुलन भी हिंसा का एक प्रमुख कारण है। शरीर स्थित रासायनिक प्रक्रियाओं के गड़बड़ाने से मानव मस्तिष्क विक्षिप्त सा हो जाता है और उसमें हिंसा की वृत्तियां जाग जाती हैं। ध्यान के द्वारा इस रासायनिक असंतुलन को ठीक किया जा सकता है, विविध अध्ययनों से यह सिद्ध हो चुका है।

इसी तरह से नाड़ीतंत्रीय असंतुलन, घृणा आदि निषेधात्मक भाव अतिसक्रियता आदि भी हिंसा के निमित्त बनते हैं। ध्यान के एक प्रयोग— समवृत्ति श्वासप्रेक्षा के द्वारा अनुकंपी और परानुकंपी नाड़ीतंत्र में संतुलन स्थापित हो सकता है। वस्तुतः ध्यान

रासायनिक एवं नाड़ीतंत्रीय संतुलन के साथ विधायक दृष्टि के विकास का एक सशक्त साधन है। आत्मदर्शन, आत्मनिरीक्षण, अनुप्रेक्षा- ध्यान के ये प्रयोग निषेधात्मक भावों को समाप्त करते हैं। दूसरे शब्दों में ये प्रयोग हिंसा के सहायक तत्त्वों पर कड़ा प्रहार करते हैं।

कायिक अनुशासन, वाचिक अनुशासन और मानसिक अनुशासन— ये तीनों ध्यान के प्रयोग हैं। इन्हें क्रमशः कायिक ध्यान, वाचिक ध्यान और मानसिक ध्यान कहते हैं। कायिक ध्यान शारीरिक चंचलता की प्रवृत्ति पर नियंत्रण करता है और शरीर को शिथिलता की अवस्था में ले जाते हैं। यह अवस्था मस्तिष्क को अल्फा की अवस्था में ले जाती है। इसी तरह वाचिक अनुशासन अधिक वाचालता पर नियंत्रण करता है और मानसिक अनुशासन मस्तिष्क को अचिंतन की स्थिति में ले जाता है। परिणामस्वरूप शारीरिक वाचिक और मानसिक चंचलता का संयम हो जाने पर हिंसा की प्रवृत्ति का संयम भी हो जाता है।

3.5 अहिंसा और अभय

मनोविज्ञान के अनुसार मृत्यु का भय मौलिक भय है। आचार्य महाप्रज्ञ पदार्थ-मूर्च्छा अथवा पदार्थ-आशंसा को मौलिक भय मानते हैं। वे कहते हैं— पदार्थ के छूट जाने का, परिवार के दूर जाने का भय मौलिक भय है। यह भय ही मृत्यु के भय को जन्म देता है। मरने का अर्थ है- सब कुछ छूट जाना। वे मौत के भय को आरोपित भय मानते हैं। वे कहते हैं— यह भय इसलिए होता है क्योंकि व्यक्ति जानता है, मरने के बाद सब कुछ छूट जाएगा। विनोबा के अनुसार जीवित प्राणी के लिए जीजीविषा एक शक्ति है। लेकिन आसक्ति के कारण वहीं अशक्ति बन जाती है। जीवनासक्ति के कारण मृत्यु से अकारण ही व्यक्ति भयभीत होता है।

भय का निमित्त है- परिस्थिति और इसका उपादान है— व्यक्ति का चित्त। भय का प्रश्न परिस्थिति से नहीं हमारे मन, संस्कार और चेतना से जुड़ा हुआ है। हमारी चेतना यदि भय मुक्त है तो परिस्थिति भयाकुल होते हुए भी हम भयभीत नहीं होंगे और यदि मानसिकता भयाक्रांत है तो भय की स्थिति न होते हुए भी मन में हजारों भय पैदा होंगे और हमारी मूर्च्छा अनेक शंकाएं पैदा करती रहेंगी।

हिंसा भय का परिणाम है और भय मूर्च्छा के कारण है। अहिंसा त्याग की साधना है। अभय वही हो सकता है जिसने त्याग का अज़्यास किया है अथवा जिसने मूर्च्छा को छोड़ा है। इसलिए यह कहा जाता है, अभय से- अमूर्च्छा से- अहिंसा आ जाती है। विनोबा लिखते हैं- ''अभय के बिना सत्य-दर्शन और अहिंसा का पालन अकल्पनीय है।'' गीता में दैवी-सज़्पत्ति के छब्बीस गुणों में अभय को पहला गुण माना गया है। विनोबा के अभंगव्रत की विवेचना में बालकोबा भावे लिखते हैं- अभय आत्मा का गुण है। इसलिए देहासक्ति जितनी अधिक होगी, डर उतना ही अधिक होगा। वे देहासक्ति में कुटुज़्ब की आसक्ति को भी समाविष्ट कर लेते हैं। भावे काम, क्रोधादि विकारों से मुक्ति को निर्भयता मानते हैं और निर्भयता की कसौटी विकारों पर विजय पाने में। उनके अनुसार- कायिक, वाचिक और मानसिक- तीनों प्रकार की आसक्ति निर्मूल हो जाये तभी निर्भयता की प्राप्ति समझनी चाहिये।

निर्भयता के बिना चित्त की शुद्धि अर्थात् सात्विक गुणों का उत्कर्ष संभव नहीं है। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, लोकसेवा, स्वार्थ-त्याग आदि कोई भी पुरुषार्थ निर्भयता के बिना संभव नहीं है— विनोबा कहते हैं— अहिंसा का अर्थ किसी को न मारना या किसी को कटु वचन न कहना ही नहीं है। सब के प्रति प्रेम अहिंसा का मुज़्य लक्षण है। हमसे प्रेम करने वाले के साथ हम प्रेमपूर्ण व्यवहार करें, इसमें कोई विशेषता नहीं है। इसमें अभय की भी आवश्यकता नहीं है। लेकिन हमसे द्वेष और घृणा करने पर, हमारा अपमान करने वाले पर, हमारे प्रतिकूल व्यवहार करने वाले पर प्रेम करना बहादुरी का कार्य है, इसके लिये अभय की आवश्यकता है। अहिंसा का मार्ग शूरों के लिये है। इस पर वे ही चल सकते हैं जिनमें निर्भयता है।

शस्त्रधारी को शूर कहना विनोबा गलत मानते हैं। वे कहते हैं- ''शस्त्र भीरुता का चिह्न है... केवल शस्त्र से बल नहीं आता, दूसरे के आक्रमण के भय से अपना बचाव करने के लिये शस्त्र धारण किया जाता है अर्थात् शस्त्र का उपयोग अपनी ज़ीरुता को छिपाने के लिये किया जाता है। इसलिये शस्त्र भय का द्योतक है, निर्भयता का नहीं।'' उनके अनुसार— ''बलवान से डरना और दुर्बल को डराना- दोनों भय के ही लक्षण हैं। निर्भयता तो उसमें है जो स्वयं किसी से न डरें और न किसी को डराये। डरना और डराना तो पशु तुल्य है।''

व्यक्ति अकेला है। वह भयभीत होता है इसलिये साथी की चाह होती है। वे दो हो जाते हैं तो भी डरते हैं क्योंकि वहाँ द्वैत खड़ा हो जाता है। अकेले और दो हो जाने को छोड़कर समत्व स्थापित करना उसके कौशल को साध लेना निर्भयता को जन्म देता है। समत्व की साधना ही कर्म की कुशलता है। अकेले या साथी को गौण करके सहज कर्म में चित्त लगाना एवं चित्तवृत्तियों को देह से हटाकर आत्मा की ओर प्रवृत्त करना अभय वृत्ति का कौशल है।

आत्मश्रद्धा, आत्म-साक्षात्कार एवं अखण्ड-जागृति से अभय की सिद्धि होती है। अज्ञानावस्था में देहासक्ति के साथ काम, क्रोध, भय आदि विकार पैदा होते हैं। ज्ञानावस्था में आत्म-साक्षात्कार के कारण ये विकार नष्ट हो जाते हैं। अखण्ड-जागृति सतत् अप्रमत्तता की स्थिति है, जिसे विनोबा सतत् आत्मानुभव की स्थिति भी कहते हैं। सतत् आत्मानुभव ही अभय को सिद्ध करता है और इसी से अहिंसा की भी सिद्धि होती है। इसलिए अहिंसा के लिए अभय और अभय एवं अहिंसा की सिद्धि के लिए आत्म-साक्षात्कार– अहिंसा एवं अभय के संबंध को स्पष्ट दर्शाते हैं।

3.6 अहिंसा और दया

अहिंसा और दया– दोनों एक तत्त्व हैं। दया में हिंसा या हिंसा में दया कभी संभव नहीं हो सकती। आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं – ''यदि हम इन्हें पृथक् करना चाहें तो निवृत्यात्मक अहिंसा को अहिंसा एवं सत्प्रवृत्यात्मक अहिंसा को दया कह सकते हैं।''

प्रश्नव्याकरण सूत्र में अहिंसा की व्यापकता को प्रदर्शित करने वाले अहिंसा के 60 नाम उल्लिखित हैं, जिनमें एक दया है। आचार्य मलयगिरि ने दया का अर्थ- देहधारी जीवों की रक्षा करना किया है। आचार्य महाप्रज्ञ इसका सज़्यक् अर्थ करते हैं- ''असत् प्रवृत्ति से प्राणी मात्र को कष्ट न देना, उन्हें न मारना।'' अहिंसा या दया की पूर्णता अपनी असत् प्रवृत्ति का संयम करने से ही होती है। जो व्यक्ति अपनी बुरी प्रवृत्तियों का संयम करता है, प्राणीमात्र को अभय-दान देता है, वही जीवरक्षक है, वही दयालु है।

आचार्य महाप्रज्ञ के आदि गुरु आचार्य भिक्षु ने दया के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है–

''जीव जीवे ते दया नहीं, मरे ते हिंसा मत जाण।

मारण वाला ने हिंसा कही, नहीं मारे तो दया गुण खान॥''

हिंसा न करना– अहिंसा है और रक्षा करना– दया है। हिंसा नहीं होगी, वहां जीव रक्षा (दया) अपने आप हो जाएगी और जीव रक्षा में हिंसा वर्जनी ही होगी। महात्मा गांधी ने अहिंसा और दया का संबंध बताते हुए कहा- 'जहां दया नहीं, वहां अहिंसा नहीं।' अर्थात् जिसमें जितनी दया है, उतनी ही अहिंसा है।

आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं– ''सामाजिक क्षेत्र में दया के लिए हिंसा, असत्य, परिग्रह आदि भी प्रयुज्य माने जाते हैं। जहाँ दया के लिए हिंसा का आचरण निर्दोष माना जाए, वहां ये (अहिंसा एवं दया) हो ही जाती हैं। मोक्ष साधना का सर्वोपरि धर्म अहिंसा है। इसलिए यहां जो अहिंसा है, वही दया है। हिंसा किसी भी स्थिति में दया नहीं हो सकती। इसलिए अहिंसा को **'सर्वभूतक्षेमंकरी'** कहा गया है।

कभी-कभी एक जीवित प्राणी के दु:खों को कम नहीं किये जा सकने की स्थिति में उसे दयापूर्वक मारकर उसके जीवन का अंत कर देना कहीं अधिक नीतिपूर्ण लग सकता है। जिस पालतू पशु को हम खिला नहीं सकते, उसका उपचार नहीं कर सकते- उसे भूख व बीमारी के कष्टदायक मरण की अपेक्षा कष्ट-रहित शीघ्र अंत अधिक तार्किक एवं करुणापूर्ण लगता है।.... किंतु भारतीय विचारधारा–हिंसा न करना और किसी को क्षति न पहुंचाना– ऐसा ही कहती रही है। तभी वह शताब्यिां गुजर जाने पर भी उच्च नैतिक विचार की अच्छी तरह रक्षा कर सकी, जो इसके साथ सज़्मिलित है। गांधी ने भी कहा– 'हिंसा तीनों काल में हिंसा ही गिनी जाएगी' वह अहिंसा नहीं हो सकती। वे पुन: कहते हैं- किसान जो अनिवार्य नाश करता है, उसे मैंने कभी अहिंसा में नहीं गिनाया है। यह वध अनिवार्य होकर क्षज़्य भले ही गिना जाए किन्तु अहिंसा तो निश्चय ही नहीं।'' अत: 'धर्म का मूल दया है, दया का मूल अहिंसा है और अहिंसक का मूल जीवन-समता है।'

3.7 अहिंसा और करुणा

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार– ''अहिंसा का विचार करूणा की भावना से उत्पन्न न होकर संसार में पवित्र रहने की भावना पर आधारित है। यह मूलत: कार्य के आचरण से नहीं, अधिकत्तर पूर्ण बनने के आचरण से संबंधित है।... यह सच है कि अहिंसा के उपदेश में सभी जीवों के समान भाव को मान लिया गया है। परन्तु इसका आविर्भाव करूणा से नहीं हुआ है। भारतीय सन्यास में अकर्म का साधारण सिद्धान्त ही इसका कारण है।''

अहिंसा के वास्तविकता के क्षेत्र में उसके व्यवहारिक स्वरूप में विवेचन के लिए अहिंसा करूणा की अनुयायी होती दिखती है। अल्बर्ट स्वेट्जर ने अहिंसा को संयम मूलक बता कर उसे करूणा से अलग किया है। यद्यपि जीवन में करूणा का महत्त्वपूर्ण स्थान है किन्तु भूमिका बदलने पर उसका स्वरूप भी बदल जाता है। उदाहरणत: निष्पाप- निरवद्य रूचि वाले होकर भी ऋषभ ने सपाप-सावद्य वृत्तियों को पैदा करने वाली कला आदि का उपदेश करूणा प्रधान वृत्ति के कारण दिया किन्तु राज्य छोड़कर मुनि बनने के पश्चात महाव्रत धर्म का निरूपण किया। यहां भी करुणा तो है किंतु वह सुख सुविधा परक न होकर व्रतपरक हो जाती है।

इसी तरह महावीर दु:ख के आत्यंतिक विच्छेद की साधना में संलग्न थे और बुद्ध करूणा प्रधान थे। दोनों की साधना और दृष्टि में भेद करते हुए मुनि कल्याण विजय ने लिखा है– ''महावीर का खास लक्ष्य स्वयं अहिंसक बन कर दूसरों को अहिंसक बनाने का था, बुद्ध की विचार सरणि दुखितों के दुखोद्धार की तरफ झुकी हुई थी। ऊपर-ऊपर से दोनों का लक्ष्य एक सा प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में गहरा अंतर था। महावीर दृश्यादृश्य दुख की जड़ को उखाड़ डालना मुख्य कर्त्तव्य समझते थे और बुद्ध दृश्य दुखों को दूर करना। पहले रोग से सदा के छुट्टी पाने का मार्ग बताने वाले वैद्य थे, दूसरे उदीर्ण रोग को शांत करने वाले डॉक्टर।''

आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं– करूणा और करूणापूर्ण कार्य समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक होते हैं इसमें कोई दो मत नहीं। मतभेद वहां होता है, जहां उनकी अहिंसात्मकता सिद्ध की जाती है। असाध्य रोग से विलखते अथवा भूख से तड़प-तड़पकर अत्यंत कष्टपूर्ण मरण को प्राप्त करते हुए किसी पशु का दवा आदि के द्वारा उसका कष्टरहित शीघ्र अंत कर देना कभी-कभी करूणापूर्ण तो हो सकता है, पर अहिंसापूर्ण नहीं। हिंसा हर स्थिति में हिंसा ही है। बड़े जीव को बचाने के लिए छोटे जीव का वध, बहुत जीवों की रक्षा के लिए कुछेक जीवों को मारना, दुख मिटा सकने की असमर्थता की स्थिति में दुखी को मार डालना आदि कार्यों में अहिंसा का स्वीकार मानसिक भ्रम है। ये कार्य करूणापूर्ण भले ही हों, अहिंसात्मक नहीं हो सकते।

3.8 अहिंसा और संयम

हिंसा की विरति और आत्मरूप में परिणति संयम है। हिंसा की विरति और आत्मरूप में परिणति की दृष्टि से जो संयम है, वही अहिंसा भी है। संयम का विकास जीवन सापेक्ष है किन्तु उस संयम की सुरक्षा में जीवन चला जाए तो ज़ी वह अहिंसा है। वही जीवन सार्थक है जो संयम का साधक बना रहे। व्यक्ति में जीने की इच्छा की अपेक्षा संयम के साधन को बनाये रखने की भावना अहिंसा की मर्यादा के अनुकूल है।

किसी को न मारना और कष्ट न देना संयम है। किसी का सुख न लूटना और दुख न देना भी संयम है। संयम या अहिंसा का मूल आत्मशुद्धि है। जीवन संयममय तभी हो सकता है, जब एक व्यक्ति को यह ज्ञान हो कि दूसरे जीवों की घात करने से अपनी आत्मा की घात होती है। जो व्यक्ति प्राणीमात्र को अभयदान देता है, बुरी प्रवृत्तियों का संयम करता है; वही जीव रक्षक है, वही संयमी है और वही अहिंसक है।

संयम का अर्थ है- ''सुख का वियोग और दुख का संयोग न करना– **सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ- दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवइ।**'' सर्व जीवों के प्रति जो संयम है, वही अहिंसा है। अहिंसा का आधार संयम है, करुणा नहीं। जर्मन दार्शनिक अल्बर्ट स्वेट्जर ने अहिंसा के आधार की मीमांसा करते हुए लिखा है- यदि अहिंसा के उपदेश का आधार सचमुख ही करुणा होती तो यह समझना कठिन हो जाता है कि उसमें न मारने, कष्ट न देने की ही सीमाएं कैसे बंध सकीं और दूसरों को सहायता प्रदान करने की प्रेरणा से वह कैसे विलग रह सकी है।

बड़े जीव को बचाने के लिए छोटे जीवों का वध, देवता अथवा अतिथि के लिए हिंसा, अनिवार्य हिंसा, बहुत जीवों की रक्षा के लिए छोटे जीवों को मार डालना, पाप से बचाने के लिए पापी को मार डालना, धर्म की रक्षा के लिए हिंसा तथा सबल के

आक्रमण से निर्बल को बचाने के लिए बल प्रयोग- ये सभी हिंसा से विरति नहीं है इसलिए यहां संयम भी नहीं है और अहिंसा भी नहीं।

4. अहिंसा प्रशिक्षण की पृष्ठभूमि

सभी प्रकार के जीवों के प्रति संयमपूर्वक जीवन-व्यवहार ही अहिंसा है। मन, वचन और काय-इनमें से किसी एक के द्वारा किसी प्रकार के जीवों की हिंसा न हो, ऐसा व्यवहार ही संयमी जीवन है। ऐसे जीवन का निरन्तर धारण ही अहिंसा है। कुछ दार्शनिक संयमपूर्वक जीवन-व्यवहार से तात्पर्य सभी प्रकार के जीवों के प्रति करुणाभाव से लेते हो। गांधीजी ने भी अहिंसा का यही अर्थ लिया है। इनके अनुसार सर्व-जीवों के प्रति सद्भावना ही अहिंसा है या समस्त जीवों के प्रति दुर्भावना का पूर्ण तिरोभाव ही अहिंसा है।

अहिंसा के पारिभाषिक अर्थ निषेधात्मक एवं विधेयात्मक दोनों हैं। राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति न करना, प्राण-वध न करना या प्रवृत्ति मात्र का निषेध करना निषेधात्मक अहिंसा है। जबकि सत्-प्रवृत्ति और विधेयात्मक अहिंसा से हिंसा का निषेध भी होता है। हिंसा न करने वाला यदि आन्तरिक प्रवृत्तियों को शुद्ध न करे तो वह अहिंसा नहीं होगी। इसलिए निषेधात्मक अहिंसा में सत्यप्रवृत्ति की अपेक्षा रहती है और विधेयात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध भी रहता है। व्यवहार में निषेधात्मक अहिंसा को निष्क्रिय अहिंसा और विधेयात्मक अहिंसा को सक्रिय अहिंसा कहा जाता है।

4.1 अहिंसा प्रशिक्षण के दो पक्ष

अहिंसा प्रशिक्षण के दो पहलू हैं—

- अहिंसा प्रशिक्षण का सैद्धान्तिक पक्ष और
- अहिंसा प्रशिक्षण का प्रायोगिक पक्ष।

4.1.1 अहिंसा प्रशिक्षण का सैद्धान्तिक स्वरूप

अहिंसा प्रशिक्षण के सैद्धान्तिक स्वरुप में दार्शनिक सत्यों का अवबोध कराया जाता है। अहिंसा के दार्शनिक पहलू अनेक हैं। आचार्य महाप्रज्ञ कुछ ऐसे दार्शनिक बिन्दुओं का उल्लेख किया जा रहा है, जिनको समझे बिना अहिंसा के प्रशिक्षण का कोई आधार नहीं बनता। दार्शनिक पृष्ठभूमि पर अहिंसा की मूल्यवत्ता प्रमाणित करने वाले पांच बिन्दु हैं—

1. आत्मा का अस्तित्व
2. आत्मा की स्वतंत्रता
3. आत्मा की समानता
4. जीवन की सापेक्षता और
5. सह-अस्तित्व।

1. आत्मा का अस्तित्व— आत्मा के अस्तित्व को स्वीकृत किये बिना अहिंसा का कोई आधार नहीं बनता। इसलिए ''आत्मा है'' इसकी स्वीकृति आवश्यक है। भौतिक अस्तित्व की प्रतिक्रिया ने मनुष्य को आत्मिक अस्तित्व की ओर गतिमान किया। उसे इस सत्य की प्राप्ति हुई कि चेतन का अस्तित्व अचेतन से स्वतंत्र है। इस विचार ने सामाजिक विकास के सामने आत्मिक विकास और राजतंत्र के सामने आत्म-तंत्र का प्रथम सूत्रपात किया। इस सूत्रपात ने अहिंसा का मूल्य परिवर्तन कर डाला। सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा का अर्थ था— मनुष्यों तथा मनुष्योपयोगी पशु-पक्षियों को न मारना अर्थात् आंशिक अहिंसा थी। और न मारने का लक्ष्य था— सामाजिक सुव्यवस्था का निर्माण तथा स्थायित्व। जबकि आत्मिक क्षेत्र में अहिंसा का अर्थ हुआ— हिंसा का पूर्ण निषेध अर्थात् किसी प्राणी को न मारना, न मरवाना और मारने वाले का अनुमोदन भी नहीं करना। अर्थात् जैसे-जैसे आत्मा, आत्मोदय और मुक्ति का दर्शन विकसित हुआ वैसे-वैसे अहिंसा व्यापक होती चली गई।

2. आत्मा की स्वतंत्रता— प्रत्येक आत्मा का सुख-दु:ख अपना-अपना है। इस दृष्टि से आत्मा स्वतंत्र है। सभी आत्माएं स्वतंत्र हैं, इसलिए किसी भी प्राणी के हनन का अधिकार किसी को भी नहीं है। सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता। इसलिए किसी भी प्राणी को कष्ट देने का अधिकार हमें नहीं है। जिस तरह से हमारा अस्तित्व स्वतंत्र है, उसी तरह से क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी का अस्तित्व भी स्वतंत्र है। अस्तित्व की दृष्टि से सभी स्वतंत्र हैं। इसलिए किसी की भी स्वतंत्रता का हनन करना हिंसा है। आत्मा की स्वतंत्रता को स्वीकार कर लेने से अहिंसा को व्यापकता मिलती है।

3. आत्मा की समानता— यद्यपि आत्मा अनन्त हैं, उनकी कर्मकृत अवस्थाएं भिन्न-भिन्न हैं किंतु स्वरूप की अपेक्षा से सब आत्माएं समान हैं। समानता का यह सिद्धान्त मनुष्य तक ही सीमित नहीं है। संसार में जितने प्राणी हैं, उन सबकी आत्मा समान है। सुख-दु:ख, प्रिय-अप्रिय की वृत्ति प्राणी मात्र में समान होती है। अहिंसा की भावना को समझने और बलवान बनाने के लिए आत्मा की समानता का सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। भगवान् महावीर ने कहा— प्राणी मात्र को आत्म तुल्य समझो। ''हे पुरुष! जिसे तू मारने की इच्छा करता है, जिस पर शासन करने की इच्छा करता है, जिसे अपने वश में करने का विचार करता है-वह तेरे जैसा ही प्राणी है।'' आचारांग सूत्र में कहा गया है— ''जैसे मुझे कोई बेंत, हड्डी, कंकर आदि से मारे, पीटे, ताड़ित करे, दु:ख दे, व्याकुल और भयभीत करे, प्राणहरण करे तो मुझे दु:ख होता है, ठीक उसी तरह सभी प्राणियों को भी होता है— यह सोचकर किसी भी प्राणी को नहीं मारना चाहिए, उन पर हुकूमत नहीं करनी चाहिए।'' गांधी जी के अनुसार- जैसी अपेक्षा दूसरों से अपने लिए करते हो, वैसा की बर्ताव उनके प्रति तुम करो। आत्मौपज़्य की यही सार्थकता है।

अस्तित्व, ज्ञान और वीर्य के सामर्थ्य की दृष्टि से सभी आत्माएं समान हैं। यदि इस समानता के सिद्धान्त को समझ लें तो—

- छोटे जीवों की बलि के द्वारा बड़े जीवों को बचाने की बात अहिंसा को मान्य नहीं हो सकती।
- मनुष्य को बचाने हेतु दूसरे जीवों की हिंसा अहिंसा को मान्य नहीं हो सकती।
- रंग, लिंग, जाति आदि के आधार पर अत्याचार अहिंसा के दृष्टि से मान्य नहीं हो सकते।

4. जीवन की सापेक्षता— कोई भी व्यक्ति या प्राणी निरपेक्ष रहकर अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता। इसी कारण जीवन को सापेक्ष माना गया है। सापेक्षता का यह सिद्धान्त प्रकृति के कण-कण में लागू होता है। कोई भी प्राणी तथा वस्तु एवं वस्तु व्यवस्था सापेक्षता की मर्यादा से बाहर नहीं है। शांति के पांच रूप— विश्वशांति, व्यक्ति की शांति, समाज की शांति, प्रकृति की शांति और संस्कृति की शांति— ये सभी परस्पर सापेक्ष हैं। एक की अशांति दूसरे की अशांति का कारण बन जाती है। इसलिए अहिंसा की अवधारणा को व्यापकता प्रदान करने की दृष्टि से जीवन की सापेक्षता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। निरपेक्ष को स्वीकार करने का अर्थ है— क्रूरता को, हिंसा को स्वीकार करना, इसलिए सभी प्राणियों की अपेक्षा करो। सापेक्षता से स्नेह बढ़ता है, निरपेक्षता खिंचाव लाती है। सापेक्षता है तो शोषण नहीं होगा, अपराध नहीं होगा, युद्ध और हिंसा नहीं होगी।

वर्तमान में जब हिंसा समग्र होती जा रही है, तब जीवन की सापेक्षता का मूल्य भी समझ में आ रहा है। प्रत्येक राष्ट्र को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए दूसरे राष्ट्रों के अस्तित्व की भी अपेक्षा है। यही कारण है कि आज विकसित व समृद्ध राष्ट्र अविकसित व जरूरतमंद राष्ट्रों को सहयोग करने के लिए तत्पर हो रहे हैं। जीवन की सापेक्षता को स्वीकार कर लिया जाए तो बहुसंज़्यकों के लिए अल्पसंज़्यकों तथा बड़ों के लिए छोटों का बलिदान उचित नहीं ठहराया जा सकता।

5. सह-अस्तित्व— 'मैं रहूंगा या वह रहेगा', अहिंसा की परिधि में इस चिंतन को स्थान नहीं मिल सकता। 'मैं भी रहूंगा, वह भी रहेगा'— इस प्रकार सह-अस्तित्व की भाषा में सोचना अहिंसा का दर्शन है। ''सब जीव समान हैं और मनुष्य जाति एक है''— सह-अस्तित्व को व्यापक रूप देने के लिए इस धारणा की व्यापक प्रतिष्ठा आवश्यक है।

आचार्य उमास्वामी का एक प्रसिद्ध सूक्त है— **''परस्परोपग्रहो जीवानाम्।''** परस्परता की अनुभूति सह-अस्तित्व के संबंध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्र है। प्रत्येक प्राणी में कुछ साज़्य है और कुछ वैषज़्य भी। केवल वैषज़्य को प्रधान मान लेने से दूसरे को मिटाने की बात आएगी और केवल साज़्य को प्रधान मान लेने से एकांतिक आग्रह जन्म लेगा। दोनों का परिणाम होगा— कलह।

महावीर ने कहा— नित्य-अनित्य, सामान्य-असामान्य, वाच्य-अवाच्य, सत्-असत् जैसे विरोधी युगल का सह-अस्तित्व संभव है। यदि सह-अस्तित्व का विचार पुष्ट होता है तो दूसरे के स्वत्व का अपहरण मान्य नहीं हो सकता, वर्ग-विग्रह एवं अन्तर्राष्ट्रीय विग्रह को मान्यता नहीं मिल सकती।

अहिंसा के उपर्युक्त सैद्धान्तिक पक्ष को समझ लिया जाए तो अहिंसा को व्यापकता मिल सकती है और सैद्धान्तिक पक्ष को समझकर ही प्रायोगिक पृष्ठभूमि मजबूत की जा सकती है।

4.1.2 अहिंसा प्रशिक्षण का प्रायोगिक पक्ष

प्रयोग के अभाव में केवल सिद्धान्त कोरा ज्ञान बनकर रह जाता है, आचरण पक्ष अछूता रह जाता है। वर्तमान शिक्षा पद्धति के इसी दोष के कारण विद्यार्थी का समेकित विकास संभव नहीं हो पा रहा। अहिंसा प्रशिक्षण की विकास यात्रा में हम देखेंगे कि किस प्रकार प्रयोगों के अभाव में अहिंसा का प्रशिक्षण दीर्घकालिक सफल नहीं हो सका। प्रशिक्षण की भूमिका इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि जिन मूल्यों अथवा भावनाओं का हम एक व्यक्ति में प्रवेश चाहते हैं उन भावनाओं एवं मूल्यों के प्रवेश के लिए ध्यान, अनुप्रेक्षाएं, शिथिलीकरण आदि प्रयोगों का सहारा लेना ही होता है। इनके अभाव में भावनाएं गहरे तक (अवचेतन तक) अपनी जड़े नहीं जमा सकती।

प्रशिक्षण विधि

अहिंसा प्रशिक्षण की दो विधियां है—

- संज्ञानात्मक (Cognitive) और
- प्रयोगात्मक (Experimental)

संज्ञानात्मक पक्ष संप्रत्ययों एवं सिद्धान्तों पर केन्द्रित होता है। अहिंसा प्रशिक्षण के इस पक्ष में हम हिंसा-अहिंसा की समझ, कारणों, अहिंसा प्रशिक्षण के सैद्धान्तिक आधार एवं इसके विविध आयामों को रख सकते हैं। प्रयोगात्मक पक्ष प्रशिक्षणार्थी को समग्र- शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक- रूप से सीखने की प्रक्रिया से जोड़ता है, जिसमें एक प्रशिक्षणार्थी व्यावहारिक रूप से स्वयं के जीवन में अन्य सामाजिक व्यवहारों एवं अंतर्क्रियाओं में अहिंसा का अज़्यास करता है।

अहिंसा प्रशिक्षण की पद्धति एक समेकित पद्धति है जो संज्ञानात्मक और प्रयोगात्मक- दोनों ही पक्षों को समाविष्ट करती है।

5. अहिंसा-प्रशिक्षण के आयाम

जहां कुछ विद्वान् मानस-परिवर्तन, संरचनात्मक परिवर्तन, व्यक्तिवादी प्रशिक्षण एवं सामूहिक प्रशिक्षण को एकल रूप में रेखांकित करते हैं, वहीं आचार्य महाप्रज्ञ की अहिंसा प्रशिक्षण की अवधारणा एक समेकित प्रारूप के प्रस्तुतीकरण पर बल देती है। उनके द्वारा विकसित अहिंसा प्रशिक्षण की चतुरायामी अवधारणा मात्र व्यक्ति या मात्र समाज तक नहीं पहुंचती है पर दोनों को एक साथ समाहित करती है। समग्रता के इस चार आयामों में हृदय परिवर्तन, दृष्टिकोण परिवर्तन, जीवनशैली परिवर्तन एवं तद्नुरूप संरचनात्मक परिवर्तन (व्यवस्था परिवर्तन) सज़्मिलित हैं।

6. अहिंसा-प्रशिक्षण की विकास यात्रा

6.1 प्राचीन व मध्यकालीन परिप्रेक्ष्य

अहिंसा मानव समाज के प्रारंभ से रही है। इसके बिना सृष्टिक्रम, प्राणियों का पालन-पोषण एवं उनका रक्षण संभव ही नहीं हो पाता। जैन-धर्म में कृषि का प्रारंभ आदि पुरुष भगवान ऋषभ-देव से माना जाता है। विनोबा-भावे ने लिखा है— ''ऋग्वेद के कुछ मंत्रों से मैंने यह निष्कर्ष निकाला है कि कृषि की खोज सर्वप्रथम ज़ारत में हुई जिसके फलस्वरूप मांसाहार से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ'' विनोबा पुनः लिखते हैं— ''हमारे पूर्वज ऋषि नाचने लगे और कहने लगे— धन्य है यह भूमि जिसने हमें हिंसा की आवश्यकता से छुटकारा दिलाया।''

विनोबा गीता-प्रवचन में लिखते हैं— प्रारंभ में अहिंसक मानव स्वयं और समाज की रक्षा के लिए क्षत्रिय-वर्ग का निर्माण करता है और कालान्तर में यही क्षत्रीय वर्ग स्वयं भक्षक बन गया। तब परशुराम जैसे अहिंसक बाह्मण क्षत्रियों से हिंसा छुड़ाने के लिए स्वयं हिंसक बन गए। साधन की अशुद्धि ने परशुराम को क्षत्रिय बना दिया। वे यह नहीं जान पाए कि हिंसामय होकर हिंसा को दूर करना संभव नहीं है। यद्यपि परशुराम को विनोबा उस काल का महान अहिंसावादी मानते हैं क्योंकि परशुराम ने हिंसा के उद्देश्य से हिंसा नहीं की थी; अहिंसा की स्थापना के लिए उन्होंने हिंसा का सहारा लिया था।

परशुराम के इस प्रयोग की असफलता के बाद अहिंसक ब्राह्मणों ने यह निश्चय किया कि वे स्वयं हिंसा नहीं करेंगे किन्तु अपनी रक्षार्थ क्षत्रियों का सहयोग लेंगे। उदाहरणत: विश्वामित्र, वशिष्ठ जैसे ऋषियों ने राम, लक्ष्मण जैसे क्षत्रियों का सहयोग अपनी और अपने आश्रम की रक्षार्थ लिया। यद्यपि ब्राह्मण ऋषि अपनी रक्षा के लिए क्षत्रियों द्वारा की जाने वाली हिंसा में कोई दोष या त्रुटि नहीं मानते किन्तु ऐसी अहिंसा जो स्वयं संरक्षित नहीं है बहुत कारगर नहीं हो सकती। पर इस प्रयोग में विश्वामित्र का प्रण होता है- मैं भले ही मर जाऊं, पर हिंसा नहीं करूंगा। चूंकि हिंसा के द्वारा हिंसा को दूर करने का प्रयोग असफल हो चुका था इसलिए अब विश्वामित्र ने स्वयं अहिंसा नहीं छोड़ने का प्रण लिया। कोई क्षत्रिय न मिले तो वे हिंसा के स्थान पर मर जाना पसंद करते। हिंसा के इस प्रयोग में ब्राह्मणों द्वारा हिंसा-वर्जन तो थी किन्तु दूसरों से वे अपने संरक्षण की अपेक्षा भी रखते थे। ऐसी विवशता से अहिंसा पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकी।

अहिंसा-प्रशिक्षण की विकास-यात्रा में संत-महर्षियों द्वारा एक तीसरा प्रयोग किया गया। इस प्रयोग में सब प्रकार की हिंसा के निषेध का संकल्प था। संत-महर्षियों ने यह निश्चय किया कि न वे स्वयं हिंसा करेंगे और न अपने बचाव के लिए दूसरों की सहायता लेंगे। उन का संकल्प और विश्वास था कि अहिंसा ही उनका बचाव करेगी। इस प्रयोग की उत्कर्षता जैन-श्रमणों में देखने को मिलती है जहां वे कृत, कारित एवं अनुमोदित हिंसा का मन, वचन और कर्म से सर्वथा त्याग करते हैं। अहिंसा का ऐसा कठोर प्रशिक्षण और उस का प्रयोग केवल व्यक्ति-निष्ठ था। अहिंसा के व्यक्तिगत प्रयोग को उन्होंने पूर्णता दी किन्तु रहा वह व्यक्तिगत स्तर पर ही। अहिंसक साधनों द्वारा सामूहिक प्रयोग की प्रेरणा उस काल के संत-मनीषियों ने नहीं दी हो ऐसा नहीं लगता। किन्तु उस समय की परिस्थितियां अहिंसा के सामाजिक प्रयोग के लिये शायद अनुकूल न रही हों अथवा उस समय ऐसी आवश्यकता ही प्रतीत न हुई हो। इन व्यक्तिगत प्रयागों ने भी अहिंसा प्रशिक्षण के विकास के द्वार खोले। व्यक्तिगत स्तर पर संत-मनीषियों द्वारा अहिंसा के प्रयोग ने ही अहिंसात्मक साधनों द्वारा हिंसा के सामूहिक प्रतिकार का मार्ग प्रशस्त किया।

6.2 महात्मा-गांधी के प्रयत्न

आधुनिक युग में गांधी एक ऐसे प्रमुख व्यक्ति हैं जिन्होंने सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर अहिंसा के प्रयोग को विकसित कर राष्ट्रीय आंदोलनों में उसका उपयोग किया। गांधी ने अहिंसा के व्यक्तिगत प्रयोग से ऊपर उठकर अहिंसा को सामाजिक रूप प्रदान किया तथा अहिंसात्मक साधनों द्वारा हिंसा के सामूहिक प्रतिकार का न केवल प्रशिक्षण दिया अपितु उसका सफल प्रयोग भी कर दिखाया। इसलिए अहिंसा-प्रशिक्षण के विकास में गांधी का महत्वपूर्ण योगदान है। भगवान महावीर और भगवान बुद्ध अहिंसा के महान चिंतक और व्यवहार-कर्ता होने के बावजूद अहिंसा के आचरण को व्यक्तिगत क्षेत्र में तथा अहिंसा के प्रयोगों के लिए समर्पित श्रमण-वर्ग में सामूहिक रूप में लागू कर सके। जन सामान्य राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा के प्रयोग का उपयोग कर सकते, ऐसा सीमित रूप से ही संभव हो पाया। बीसवीं शताब्दी में अहिंसा के विचार, विवेचन और अनुभव को बल और दिशा मिली। पश्चिम के वैज्ञानिक आविष्कार और औद्योगिक क्रांति, वैश्विक उपनिवेशवाद विशेषकर भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना से उत्पन्न राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा दो विश्व-युद्धों ने मिल कर गांधी के नेतृत्व में अहिंसा के नये चिंतन, प्रशिक्षण और प्रयोग को जन्म दिया। जिसके परिणाम-स्वरूप अहिंसा का चिंतन और आचरण आधुनिक विश्व की विचार-धारा में आशापूर्ण तेजस्विता और मौलिकता प्राप्त करता हुआ लगता है।

गांधी ने यह दृष्टि दी कि अहिंसा वैयक्तिक या निजी जीव का गुण ही नहीं वरन् ऐसा गुण है जिसका सामूहिक और सामाजिक उपयोग होना चाहिए। उन्होंने कहा-''मैंने यह विशेष दावा किया है कि अहिंसा सामाजिक चीज है, केवल व्यक्तिगत चीज

नहीं है। मनुष्य केवल व्यक्ति नहीं है, वह पिंड भी है और ब्राह्मंड भी है। जो धर्म व्यक्ति के साथ खत्म हो जाता है, वह मेरे काम का नहीं है। मेरा यह दावा है कि सारा समाज अहिंसा का आचरण कर सकता है और कर भी रहा है।''

''जिस अहिंसा की हद एक व्यक्ति तक है, वह समाज के काम की नहीं। मनुष्य सामाजिक जीव है इसलिए उसकी शक्तियां ऐसी होनी चाहिए कि समाज के सब लोग कोशिश से उसे अपने में बढ़ा सकें।''

''मेरी अहिंसा की कल्पना व्यापक है ... जो चीज करोड़ों की नहीं हो सकती वह मेरे लिए त्याज्य है ... अहिंसा केवल व्यक्तिगत आचार का नियम नहीं है यह समुदाय, जाति और राष्ट्र की नीति भी हो सकती है ... यह आत्मा का गुण है इसलिए व्यापक है। यह सबके लिए है, सब जगहों के लिए है और सब समयों के लिए है ... अहिंसा कोई आकाशकुसुम नहीं है यह हमारे प्रत्येक शब्द, व्यापार और कार्य में प्रकट होनी चाहिए।''

गांधी ने कहा–सामाजिक बुराई का प्रतिकार अहिसांत्मक रूप से करने का यह अर्थ नहीं है कि हम उसे देखकर निष्क्रिय बैठे रहें और स्वत: ही आवश्यक सुधार हो जाने की प्रतीक्षा करते रहें। अहिंसा का प्रशिक्षण प्रदान करते हुए उन्होंने कहा– अहिंसक प्रतिकार के लिए हमें अपने स्वार्थ, भय आदि का परित्याग कर, दुर्जनों के प्रति दुर्भाव न रख कर उन्हें किसी तरह का कष्ट न पहुंचाते हुए प्रेम–पूर्वक उनसे असहयोग करना चाहिए। गांधी ने कुछ बातों का दृढ़ता से पालन करने का निर्देश दिया। जैसे–

- हमला करने वाले के आगे घुटने नहीं टेकना और उसके आदेश को न मानना।
- उससे किसी रियायत या ईनाम की उज़्मीद न करना तथा उसके लिए अपने मन में दुर्भाव नहीं लाना और उसकी बुराई नहीं चाहना।
- यदि वह हमारी चीजों पर कब्जा करना चाहता है तो उन्हें छोड़ने से इंकार करना भले ही हमें अपनी जान गंवानी क्यों न पड़े। हमलावर बीमारी अथवा अन्य किसी परेशानी के समय हमारी मदद चाहता है तो उससे इंकार नहीं करना।

गांधी के अनुसार हमारे ऐसे व्यवहार से आततायी को कोई लाभ उठाने का मौका नहीं मिलेगा और उसके मन पर हमारे सद्भाव का प्रभाव पड़ेगा जिससे वह अपने आत्म–निरीक्षण की ओर प्रेरित हो सकता है और अपने आत्म सुधार की बात सोच सकता है।

अहिंसा–प्रशिक्षण के लिए गांधी व्यक्ति परिवर्तन के साथ समाज परिवर्तन को भी आवश्यक मानते हैं। वे व्यक्ति और समाज परिवर्तन के लक्ष्य की पवित्रता के साथ–साथ साधन की पवित्रता को भी अनिवार्य मानते हैं।

व्यक्ति और समाज में परिवर्तन के लिए वे दो धारणाओं को आधार बनाते हैं–

1. हृदय परिवर्तन और 2. विचार परिवर्तन

6.2.1 हृदय परिवर्तन

सामान्यतया हृदय परिवर्तन का संबंध उन सांवेगिक घटनाओं से है जो व्यक्ति के जीवन–दर्शन में एकाएक पूर्ण और सर्वांगीण परिवर्तन ला देती है। उदाहरणतया चंडा शोक का प्रियदर्शी अशोक में, डाकू अंगुलिमाल का बौद्ध–भिक्षु में, डाकू बाल्मीकि का राम–भक्त साहित्यकार में बदल जाना। चज़्बल के डाकुओं का विनोबा और जयप्रकाश नारायण के समक्ष आत्मसमर्पण भी हृदय परिवर्तन का ही उदाहरण है। गांधी का हृदय परिवर्तन केवल मस्तिष्क शोधन नहीं है। गांधी के अनुसार जब तक व्यक्ति का सज़्पूर्ण मूल्य–बोध, दर्शन, आस्था और आचरण नहीं बदलता तब तक स्थायी रूप से हृदय–परिवर्तन नहीं होता।

गांधी हृदय–परिवर्तन की द्वितीय प्रणाली (Diadic Method) में विश्वास करते हैं। इस प्रणाली में परिवर्तक और परिवर्तित– दोनों का हृदय–परिवर्तन होता है। यह प्रणाली केवल वैयक्तिक जीवन की ही प्रणाली नहीं है, समूह का भी परिवर्तन भी इस प्रक्रिया के द्वारा होता है। यह आमूल–चूल परिवर्तन अहिंसा, शांति, प्रेम एवं आत्म–पीड़न के द्वारा लाया जाता है। गांधी इसे

सत्याग्रह की प्रणाली भी कहते हैं। गांधी ने लिखा है–''सत्याग्रह एक हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया है। मैं इस बात के लिए पूर्ण आश्वस्त हूं कि सुधारक अपने विचारों को समूह पर लादने की कोशिश नहीं करते, वे हृदय को छूने की कोशिश करते हैं।'' अत: गांधी के हृदय परिवर्तन की प्रणाली दूसरे के हृदय को संस्पर्श कर बदलने की प्रणाली है।

हृदय को संस्पर्श करने की दो पद्धतियां हो सकती हैं –

- बौद्धिक चिंतन–मनन और आचरण की अनवरत प्रक्रिया के द्वारा विचार को भावना का रूप देना, और
- आत्म–पीड़न के द्वारा प्रतिपक्षी पर प्रेम का अद्‌ज़ुात चमत्कार प्रकट करना अर्थात् आत्म–पीड़न से दूसरे के हृदय को संस्पर्श करना।

पहली पद्धति का संबंध वैयक्तिक जीवन में हृदय–परिवर्तन से है, सामाजिक जीवन में परितर्वन का माध्यम विचार का प्रसार है। गांधी का झुकाव हृदय–परिवर्तन की दूसरी विधि की ओर अधिक है, ऐसा उनके इस कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है– ''मैं इस मौलिक निष्कर्ष पर आया हूं कि यदि आप कुछ महत्वपूर्ण काम करना चाहते हैं तो केवल बुद्धि को ही संतुष्ट नहीं करें, हृदय को भी द्रवित करें। बुद्धि की पहुंच विशेष रूप से मस्तिष्क तक रहती है परन्तु आत्म–पीड़न के द्वारा हृदय में प्रवेश किया जाता है ... अहिंसा अपनी गतिशील अवस्था में चेतन दु:ख–भोग है। यह अन्यायी की इच्छा के विरुद्ध छेदन करने की क्रिया है।''

डॉ. विश्वबंधु चटर्जी ने गांधी के हृदय–परिवर्तन के सिद्धांत की तीन विशेषताओं को बताया है–

- परिवर्तित होने के लिए व्यक्ति के विवेक को ही प्रेरित किया जाता है। परिवर्तन का आधार निरपेक्ष नैतिकता होती है, कोई काम चलाऊ समझौता या व्यवस्था नहीं।
- किसी भी पीड़ा, कष्ट, निग्रह या वेदना को सत्याग्रही स्वयं सहन करता है जिसके लिए यह प्रेम का निपीड़न है।
- परिवर्तन एक प्रकार की द्वैध–प्रक्रिया है। प्रथम स्तर में अपने ऊपर जो निग्रह और निपीड़न लिए जाते हैं उनका प्रभाव अवलोकनकारी के हृदय के अंदर प्रवेश करता है। तत्पश्चात् उसके मूल्य–बोध में परिवर्तन आ जाता है और इसके परिणामस्वरूप अंतर्बाह्य व्यापारों को नवीन दिशा मिलती है।

गांधी के हृदय–परिवर्तन में आत्म–शुद्धि का विचार तो है किन्तु उसमें कुछ दबाव चाहे वह नैतिक दबाव ही क्यों न हो विद्यमान है। गांधी की आत्म–पीड़न की पद्धति आदर्शात्मक होने के साथ–साथ व्यवहारिक भी है।

6.2.2 विचार–परिवर्तन

हृदय–परिवर्तन की एक आवश्यक भूमिका विचार परिवर्तन भी है। गांधी के अनुसार असहयोग से शोषण का अंत हो सकता है। किन्तु यह कार्य हृदय–परिवर्तन की प्रक्रिया से नहीं विचार परिवर्तन की प्रक्रिया से होगा। गांधी ने कहा– ''जब तक किसी को उनकी बात मस्तिष्क और हृदय को तुष्ट नहीं करे तब तक उनके विचार को नहीं माने।'' विचार–परिवर्तन मूल रूप से विनोबा का विचार है। विनोबा से ही इसको विस्तार मिला।

6.2.3 स्थिति–परिवर्तन

हृदय–परिवर्तन और विचार–परिवर्तन के द्वारा व्यक्ति के सज़्पूर्ण जीवन में परिवर्तन संभव हो जाता है किन्तु इससे परिस्थिति परिवर्तन अथवा समाज रचना में परिवर्तन स्वत: नहीं हो जाता। परिस्थिति परिवर्तन की प्रक्रिया कुछ कठिन होने के साथ–साथ दीर्घकालिक भी है। ब्रिटेन की उपनिवेशवादी नीति का अंत, छुआछूत का अंत, पर्दाप्रथा का अंत– ये सभी स्थिति परिवर्तन के उदाहरण हैं। वर्तमान में पर्यावरण के प्रति सजगता, निशस्त्रीकरण एवं शांति की नीतियों की ओर झुकाव भी स्थिति परिवर्तन के ही उदाहरण हैं। गांधी अहिंसा एवं करुणा पर आधारित व्यवस्था परिवर्तन प्रक्रिया को कोई स्पष्ट रूप–रेखा नहीं दे सके, यद्यपि अहिंसक समाज व राज्य की परिकल्पना उन्होंने प्रस्तुत की।

गांधी विचार में ये तीनों घटक एक तरह से सामाजिक क्रांति के घटक तत्त्व थे। सामाजिक परिवर्तन के लिए गांधी के शांति-सेना के विचार को भी अहिंसा प्रशिक्षण के विकास की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण कदम माना जा सकता है।

6.2.4 शांति-सेना

'शांति-सेना' शब्द गांधी की मौलिक देन है। गांधी का उद्देश्य था— मानव समाज से हिंसा को न्यून कर अहिंसक समाज की रचना करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही गांधी ने १९२२ में शांति-सेना का विचार रखा। गांधी ने कहा था— यद्यपि पूर्ण अहिंसा को संगठित शक्ति की आवश्यकता नहीं है। अहिंसामय हो जाने वाले पुरुष जिस बात की इच्छा करेंगे वह होकर रहेगी। पर गांधी ने आत्म-शक्ति के अलावा जन-शक्ति की उपेक्षा नहीं की। असाधारण व्यक्ति जनता की सामूहिक शक्ति द्वारा ही समर्थित होता है, इसलिए जन-शक्ति में उसका विश्वास होना ही चाहिए। जनशक्ति को संगठित करने और उसका अहिंसात्मक उपयोग करने की दृष्टि से शांति-सेना के विचार को विकसित किया गया। गांधी ने कहा था— शांति-सेना के पास प्रेम और अहिंसा के शस्त्र होंगे। अहिंसा उसकी असली कसौटी होगी। यदि यह इस कसौटी पर खरी उतरी तो इस शक्ति से संगठित हिंसा का मुकाबला हो सकेगा। शंति-सेना के संदर्भ में गांधी के विचार बहुत स्पष्ट थे। उन्होंने कहा— अहिंसक सेना सशस्त्र फौज की तरह सिर्फ अशांत दिनों में ही नहीं बल्कि शांति के दिनों में ज़ी काम करेगी। इसके सिपाही सदा ऐसे रचनात्मक प्रवृत्ति में लगे रहेंगे जिससे दंगे होना ही असंभव हो जाए। झगड़े वाली कौमों को मिलाने के मौके ढूंढना, शांति का प्रचार करना, ऐसा प्रचार करना जिससे उनका संपर्क उस क्षेत्र के स्त्री-पुरुष, आबाल-वृद्ध हर किसी से हो सके। यह उन शांति-सैनिकों का कर्तव्य होगा। ऐसी सेना किसी भी संकटकालीन परिस्थिति का मुकाबला करने और उसके लिए जितने लोगों की जरूरत हो उतने लोगों की जान की जोखिम उठाने के लिए तैयार रहेगी। कुछ सौ या कुछ हजार लोगों का ऐसा निष्कलंक बलिदान दंगों को हमेशा के लिए खत्म कर देगा।

शांति-सैनिकों की जो अर्हताएं निर्धारित की गई, उन अर्हताओं के प्रशिक्षण को हम अहिंसा का प्रशिक्षण कह सकते हैं। गांधी ने शांति-सैनिकों में निज़ांकित योग्यताओं को आवश्यक माना—

- उनका अहिंसा में जीवित विश्वास हो।
- ये शांति-दूत पृथ्वी के सभी धर्मों के सिद्धांतों को समान रूप से देखेंगे।
- उनका जीवन विशुद्ध होगा तथा वे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपना जीवन और सब कुछ उत्सर्ग करने के लिए तत्पर रहेंगे।
- वे शराब व नशेबाजी से दूर रहेंगे।
- उन्हें खादी पहनना व चरखा चलाना होगा। अर्थात् उनका जीवन सरल, सादगीपूर्ण व स्वावलज़्बी होगा।
- वे समय-समय पर अनुशासन के जो नियम हों, उन का हृदय से पालन करेंगे।
- सदि उनके आत्म-सज़्मान को चोट पहुंचाने के लिए कोई नियम विशेष रूप से न बनाएं हों तो उन्हें कारागार के नियमों का भी पालन करना होगा।

इस प्रकार गांधी ने अहिंसा-प्रशिक्षण की कोई व्यवहारिक रूपरेखा तो प्रस्तुत नहीं की किन्तु अहिंसा के विविध सामूहिक प्रयोगों में जन-शक्ति को जिस प्रकार से प्रशिक्षित किया गया उसे अहिंसा-प्रशिक्षण के रूप में देखा जा सकता है। गांधी के विचारों को विनोबा ने विस्तार देने की कोशिश की।

6.3 विनोबा के प्रयत्न

विनोबा का एकमात्र लक्ष्य अहिंसा का प्रयोग था। उन्होंने लिखा है— मैं एक ही मार्ग का प्रयोगी हूं। अहिंसा की ज़ोज करना मेरा बहुत वर्षों से जीवन-कार्य रहा है और मेरी शुरू की हुई प्रत्येक कृति और हाथ में लिया और छोड़ा हुआ प्रत्येक काम उसी एक प्रयोग के लिए हुए और हो रहे हैं.....

विनोबा भगवान महावीर के **'आत्मवत् सर्वभुतेषु'** सिद्धांत की अक्षरश: स्वीकृति देते हुए लिखते हैं-अहिंसा का मतलब है जितना प्रेम हम खुद पर करते हैं उतना ही प्रेम भगवान की सारी सृष्टि पर करें। माताएं अपने बच्चों को प्यार करती हैं, अपने घर के सदस्यों से हम प्यार करते हैं वैसे ही हम पड़ौसी, ग्राम और पृथ्वी के सब प्राणियों को समझें। जहां हम केवल अपने ही बच्चे से प्यार करते हैं वह तो अनुरोधी प्रेम होता है। ताकत वहां पैदा होती है जहां प्रतिरोधी प्रेम प्रकट हो। कोई हमसे द्वेष करे तो भी हम उसे प्रेम करते हैं, तब ताकत प्रकट होगी।

विनोबा पुन: लिखते हैं- अपने जाति वालों के प्रति तो सहज ही प्रेम होता है, इसलिए यह जरूरी है कि हमसे अलग मानने वाले के लिए विशेष प्रेम हो। वे संत तुकाराम केा उद्धृत करते हुए लिखते हैं— **'देह आणि देहसंबंधे निंदावीं दतरें निंदावीं श्वान सूकरे'** अर्थात् अपने देह और अपने देश से संबद्ध व्यक्तियों की निंदा करनी चाहिए, दूसरों की वंदना करनी चाहिए। जहां ज्यादा आसक्ति होती है उसे संतुलित करने के लिए ऐसाा करना ही पड़ता है। अगर समत्व लाना है तो अपने पक्ष से भिन्न पक्ष की तरफ पक्षपात करना होगा। यह अहिंसा का रहस्यदर्शन है।

विनोबा आत्मा की व्यापकता को अहिंसा का आधार बनाते हुए लिखते हैं— जो आत्मा मुझ में है, वही आप में है। इस तरह आत्मा की व्यापकता का जहां दर्शन होता है, वहीं अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है। गीता को उद्धृत करते हुए विनोबा कहते हैं— आत्मा को सब भूतों में समान रूप से देखने पर परमेश्वर की व्यापक सत्ता का भान होता है। फिर आत्मा, आत्मा की हिंसा कर ही नहीं सकता। हम अपनी हिंसा नहीं कर सकते, तब अहिंसा की प्रतिष्ठा होगी।

समं पश्यन हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।

न हिनस्ति आत्मना आत्मानं ततो याति परां गतिम्।

गीता में कहा है— **न हन्ति न हन्यते।** आत्मा न मारता है न मरता है। न घातयति- न मरवाता है। ऐसा आत्मा है और यही अहिंसा है।

विनोबा विज्ञान की प्रगति को सामूहिक अहिंसा के विकास का एक बहुत बड़ा कारण मानते हैं। वे कहते हैं— पहले अहिंसा सामूहिक नहीं हो पाती थी चूंकि विज्ञान के कारण आज समाज एक दूसरे से जितना संबद्ध हो गया है उतना उस जमाने में नहीं हुआ। इसलिए अहिंसा के जो भी प्रयोग होते, व्यक्ति-व्यक्ति के पीछे ही होते हैं परन्तु आज जो सज़पर्क होते हैं वे केवल व्यक्तियों के बीच के नहीं रहते बल्कि सामाजिक हो जाते हैं। एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के साथ तथा एक समाज का दूसरे समाज के साथ सज़पर्क और संघर्ष हुआ करता है। इसलिए सामूहिक अहिंसा का आर्विभाव हुआ। वे अहिंसा के विकास के लिए निर्भयता, प्रेम एवं सहयोग तथा रचनात्मक कार्य में सुधार आवश्यक मानते हैं। किसी से भयभीत न होना तथा किसी को भयभीत न करना— यही निर्भयता है और यही अहिंसा है। हम स्वयं को पूर्ण मानें, अखण्ड मानें; टुकड़ा नहीं। ऐसा मानने से प्रेम और सहयोग बढ़ेगा किन्तु जब हम स्वयं को विभिन्न भेदों में बांट लेते हैं तब हम टुकड़ा बन जाते हैं और सहयेाग और प्रेम विकसित नहीं होता। जितने भी हथियार हैं, वे सभी विनाशक हैं। अहिंसा की शक्ति तभी विकसित हो सकती है जब हम रचनात्मक कार्य पर श्रद्धा करें। कोई हमारे समक्ष तलवार लेकर आए तो हम उन के समक्ष वीणा लेकर जाएं।

अहिंसा के विकास के लिए विनोबा चित्त-शुद्धि को आवश्यक मानते हैं। विनोबा कहते हैं— दुनिया के सारे मसले मानो चित्त ने पैदा किए हैं। मनुष्य एक दूसरे से डरता है यानि अपने-आप से डरता है, अपने चित्त से डरता है। यदि एक भी व्यक्ति परिशुद्ध,परिपूर्ण, शुद्धचित्त बन जाए तो उस चित्त का स्पर्श सब को होगा। जैसे शस्त्र-दौड़ की हवा फैलती है वैसे ही शुद्ध चित्त की हवा फैल सकती है। अगर वह शुद्ध चित्त विश्वाभिमुख है और अत्यन्त निर्मल है। बच्चे को निर्मल चित्त का कहा जाता है। वह अहिंसक चित्त है किन्तु बच्चे के चित्त की यह शुद्धि ज्ञानपूर्वक की हुई नहीं है, वह अज्ञानमूलक है। मनुष्य में वही निर्मल चित्त अगर ज्ञानमूलक हो जाए तो उस का बड़ा भारी असर होगा। वेदान्त में कहा गया है — **तस्माद् ब्राह्मण: पाण्डित्यं निर्विद्य बाज्येन तिष्ठासेत्** अर्थात् ज्ञानी बाल भाव से रहे। विनोबा कहते हैं— शुद्ध चित्त संचारी होता है। उसका स्पर्श चारों ओर फैलता है। ऐसे शुद्ध

चित्त के पास वैर-भाव नहीं रहता। विनोबा चित्त को शांत और प्रसन्न रखने वाले तथा बाहर से अहिंसक साधनों का आश्रय लेने वाले व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ मानते हैं। उनकी दृष्टि में प्रज्ञा की स्थिरता ही अहिंसा का सार है।

विनोबा ने अहिंसा के लिए हृदय-परिवर्तन, विचार परिवर्तन और स्थिति परिवर्तन को आवश्यक माना।

6.3.1 हृदय-परिवर्तन

विनोबा बौद्धिक चिंतन, मनन और आचरण की अनवरत प्रक्रियाओं के द्वारा विचार को ज़ावनाओं का रूप देना चाहते हैं। वे आत्म-पीड़न को उतना महत्त्व नहीं देते जितना गांधी ने दिया। उन्होंने अपने सत्याग्रह के सिद्धांत में 'प्रतिकार' के स्थान पर 'सहकार' की बात की है। अतएव विनोबा का हृदय-परिवर्तन भावात्मक प्रेम और सहयोग पर आधारित है। वे हृदय-परिवर्तन की इस सौज़्य और सूक्ष्म पद्धति में विश्वास करते हैं। विनोबा की हृदय-परिवर्तन पद्धति में हृदय-परिवर्तन के लिए प्रतिपक्षी के समक्ष विचार रखे जाते हैं, साथ ही उसके कार्यों में सहयोग दिया जाता है। धीरे-धीरे जब वह विचार बुद्धि के धरातल से आगे जाकर हृदय के धरातल पर पहुंचता है तो विचार तो बदलते ही हैं, आस्थाएं भी बदल जातीं हैं। यही हृदय-परिवर्तन है।

हृदय-परिवर्तन के संदर्भ में साज़्यवादियों की शंका का निराकरण करते हुए विनोबा कहते हैं- जो यह मानते हैं कि हृदय-परिवर्तन नहीं होता वे मानव स्वभाव की जड़ता को स्वीकार कर लेते हैं, जबकि मानव स्वभाव तो परितर्वनशील और विकासशील है।

विनोबा हृदय-परिवर्तन के लिए आत्मशुद्धि के विचार को भी आवश्यक मानते हैं। उनकी यह धारणा कि हृदय-परिवर्तन मोहग्रस्तों का होता है और यह कार्य सन्त ही कर सकते हैं— भी इस बात पुष्टि करता है कि विनोबा आत्मा की शुद्धि की पराकाष्ठा पर बल देते थे क्योंकि संत आत्म-शुद्धि की पराकाष्ठा पर होते हैं। हृदय-परिवर्तन के लिए उन्हें कुछ कहने की आवश्यकता नहीं होती उनकी उपस्थिति ही इसके लिए पर्याप्त होती है अर्थात् उनकी आत्म-शुद्धि ही दूसरे को शुद्धि के लिए प्रेरित करती है और वह अपने आचरण में शुद्धि लाने का प्रयत्न करता है। अत: विनोबा की दृष्टि में हृदय-परिवर्तन के लिए जितनी आवश्यकता पीड़ा सहने की नहीं है उतनी आवश्यकता हृदय-शुद्धि की है। विनोबा की यह पद्धति गांधी की आत्म-पीड़ा पद्धति से कम व्यवहारिक प्रतीत होती है।

6.3.2 विचार परिवर्तन

विनोबा ने अपने आंदोलन में विचार-परिवर्तन की प्रक्रिया को प्राथमिकता दी। विनोबा गांधी के विचार-परिवर्तन के सिद्धांत को दार्शनिक आधार देते हुए कहते हैं— ''विचार मानव जीवन की बुनियाद है। विचारों की प्रेरणा मानव-जीवन उत्स्फूर्त करती है। मनुष्य का शारीरिक-जीवन तो चलता ही है किन्तु उसका जो उत्थान होता है, उसके पीछे भी विचार रहता है। विचार के कारण ही आंदोलन होते हैं, जोश-निर्माण होता है और नया जीवन बनता है। तब समाज रचना बदलती है, जीवन का ढांचा बदलता है... मनुष्य को विचार ही ताकत देता है... बुनियाद विचार की ही होती है, उसी पर जीवन की इमारत खड़ी होती है।'' विनोबा ये मानते हैं— विचार-परिवर्तन के द्वारा ही मानव के नैतिक मूल्यों में परिवर्तन लाया जा सकता है जिसके बिना क्रान्ति संभव नहीं है।

6.3.3 स्थिति-परिवर्तन

विनोबा हृदय-परिवर्तन के लिए समाज और परिस्थिति में परिवर्तन को भी जरूरी मानते हैं किन्तु उसे हृदय-परिवर्तन का ही एक अंग मानते हैं। हृदय-परिवर्तन के स्थायित्व के लिए स्थिति-परिवर्तन आवश्यक सा हो जाता है। विनोबा के अनुसार हृदय और विचार-परिवर्तन के फलस्वरुप ही परिस्थिति का परिवर्तन होता है। परिस्थिति परिवर्तन कानून से नहीं विचारों से होता है। विनोबा परिस्थिति परिवर्तन के लिए गांधी के स्वराज्य और पंचायती राज्य के स्वरूप को स्वीकार करते हैं तथा ग्राम-स्वराज्य की स्थापना के लिए भावात्मक रूप से ग्रामदान-आंदोलन के द्वारा परिस्थिति का परिवर्तन करते हैं। विनोबा के अनुसार करुणा और प्रेम पर आधारित स्थिति परिवर्तन का निज़ांकित स्वरूप है-

- सत्ता का विकेन्द्रीकरण— निज़्न स्तर पर अधिक से अधिक सत्ता, ऊपरी स्तर पर कम से कम सत्ता और सर्वोच्च स्तर पर नैतिक सत्ता
- सहकारिता

- व्यक्तियों के विकास के लिए पूरा मौका
- समाज के लिए समर्पण बुद्धि
- शिक्षा में ज्ञान व कर्म का संयोग।

प्रेम और करुणा की शुक्ति के आधार पर इस परिवर्तन को लोक-शक्ति अर्थात् जन शक्ति पर आधारित परिवर्तन कहा गया है। विनोबा ने लोक शक्ति के विचार का प्रयोग चार ज़िन्न अर्थों में किया है। पहला अर्थ नागरिक शक्ति या नागरिकों की अहिंसक स्वावलज़्बी शक्ति का सूचक है। दूसरा अर्थ राज्य द्वारा नागरिकों पर हो रहे अत्याचारों के अहिंसक विरोध का सूचक है। तीसरा अर्थ परिस्थिति और संगठनों में परिवर्तन लाने हेतु अहिंसात्मक कार्यवाही का सूचक है। चौथे अर्थ में यह स्वावलज़्बन, प्रतिरोधन और समाज परिवर्तन की समन्वयात्मक शक्ति का सूचक है।

विनोबा अहिंसात्मक परिवर्तन के लिए एक त्रिकोण की कल्पना करते हैं, जिसकी एक ज़ुजा हृदय-परिवर्तन है, दूसरी भुजा विचार-परिवर्तन है और तीसरी ज़ुजा स्थिति-परिवर्तन की है। तीनों का समन्वित रूप अहिंसात्मक पूर्ण परिवर्तन का द्योतक है।

6.4 मार्टिन लूथर किंग के प्रयास

डॉ. मार्टिन लूथर किंग ने अमेरिका में व्याप्त रंग-भेद नीतियों का अहिंसात्मक प्रतिकार कर अहिंसा को प्रतिष्ठा दी। यद्यपि डॉ. किंग ने अहिंसा-प्रशिक्षण की कोई व्यवस्थित रूप-रेखा तो नहीं दी किन्तु उन्होंने अहिंसात्मक प्रतिकार के लिए जिस तरह से नागरिकों को तैयार किया वह भी अहिंसा प्रशिक्षण का ही एक रूप है।

1960 के दशक में अमरीकी समाज का परिदृश्य शोषण एवं रंगभेद पर आधारित था। मौंट गोमरी नगर के नीग्रो लोगों के साथ रंग के आधार पर शिक्षण संस्थानों, यातयात के साधनों, दूकानों एवं सरकारी एवं गैर-सरकारी प्रतिष्ठानों में भेद-भाव व्याप्त था। डॉ. किंग का कार्य इसी रंगभेद पर आधारित भेदभाव के विरुद्ध अहिंसक प्रतिकार से शुरू होता है। किंग स्थायी और विधायक शांति पर बल देते थे। उन्होंने कहा– ''मैं पुराने ढंग से ऐसी नकारात्मक शांति लेकर नहीं आया जिस में निष्प्राणता एवं शिथिलता व्याप्त हो। मैं तो निर्जीव शांति के विरुद्ध लोगों को गतिशील करने के लिए आया हूं।'' किंग का विश्वास था कि समाज की बुराईयों को देखकर उदासीन रहना तो अनुचित है ही, साथ ही उन बुराईयों के उन्मूलन हेतु हिंसा का सहारा लेना भी अनुचित है। इसलिए एक ओर उन्होंने अन्याय और शोषण के विरुद्ध संघर्ष की प्रेरणा दी, वहीं दूसरी ओर अहिंसक पद्धति से संघर्षों के निराकरण का मार्ग प्रतिष्ठित किया।

डॉ. किंग अहिंसा-प्रशिक्षण के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं– सत्य परस्पर विरोधी तत्वों का समन्वय है इसलिए एकान्तिक सिद्धांतों का निरसन किया जाना चाहिए। मनुष्य के लिए कठोर हृदय और दुर्बल बुद्धि के होने के स्थान पर प्रज़ार बुद्धि और कोमल हृदय का होना चाहिए। अर्थात् बौद्धिक प्रखरता और आध्यात्मिक कोमलता उनके अहिंसा सिद्धांत के आधारभूत तत्व हैं। किंग के अनुसार विश्व का सत्य एक अंतरसंबंध संरचना है। हर मनुष्य परस्परता के आधार पर अनिवार्य रूप से एक-दूसरे से संबंधित है। इसलिए एक घटना जो किसी को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है, वही घटना दूसरों को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। इसी परस्परता के आधार पर हमें एक दूसरे से प्रेम करना चाहिए तथा उसमें कोई भेद-भाव नहीं होना चाहिए। डॉ. किंग शक्ति और प्रेम के आपसी समन्वय में विश्वास करने पर बल देते हैं। यदि कोई सत्ताधारी सभी के लिए न्यायपूर्ण कार्य करता है तो वह शक्तिशाली होने के साथ प्रेम की शक्ति से सज़्पन्न भी है। दूसरी तरफ कोई सभी प्राणियों से प्रेम करता है किन्तु उसमें उन्हें न्याय दिलाने की शक्ति नहीं है। वह वास्तविक प्रेम नहीं; उनका यह वक्तव्य राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर की यह एक काव्य-पंक्ति की स्मृति दिलाता है– **''क्षमा शोभती उस भुजंग को जिस के दंत गरल है''।**

इस प्रकार डॉ. किंग अहिंसा के लिए प्रेम को एक ऐसा सर्वोच्च तत्व मानते हैं जो अहिंसा का लक्ष्य भी है और अहिंसा की शक्ति भी। डॉ. किंग अहिंसात्मक प्रतिकार में विरोधियों का सज़्मान करने तथा उनके प्रति गरिमापूर्ण व्यवहार करने के लिए प्रेरित करते हैं ताकि विरोधी में भी वांछनीय परितर्वन हो सके तथा उसका व्यवहार मानवीय बन सके। डॉ. किंग परिस्थिति परिवर्तन के लिए

कानून के सथान पर आंतरिक भावनाओं के परिवर्तन को आवश्यक मानते हैं तथा इसके लिए आध्यात्मिक शिक्षा पर बल देते हैं। वे मानव निर्माण हेतु प्रेम, धर्म और शिक्षा की अनिवार्यता मानते हैं। साथ ही शांति और व्यवस्था के लिए कानून द्वारा बाह्य परिस्थितियों में भी परिवर्तन को स्वीकार करते हैं।

अहिंसक स्थितियों में परिर्वतन के लिए उनका विश्वास हृदय-परिवर्तन में है। हृदय-परिवर्तन के लिए वे हर प्रकार के कष्ट सहने तथा आत्म-पीड़ा की क्षमता के विकास पर बल देते हैं। स्थिति परिवर्तन के संबंध में संयम और विनम्रता की नीति पर टिप्पणी करते हुए डॉ. किंग कहते हैं- यदि संयम और विनम्रता का अर्थ संयम, शांति और विवेक से है तो ऐसी स्थिति में विनम्रता की नीति को अपनाना सद्‌गुण कहा जाएगा तथा इस नीति को किसी भी संक्रमण काल में सभी लोगों के द्वारा अपनाया जा सकता है। दूसरी ओर इस नीति का अभिप्राय यथास्थिति को बनाए रखना और निरकुंश शासकों की इच्छानुसार चलना है तो यह दुखान्तकारी नीति है। जिसकी भर्त्सना समस्त अहिंसावादियों द्वारा की जानी चाहिए। इस प्रकार किंग प्रेम और शक्ति, आध्यात्मिक शिक्षाऔर विधाओं के बीच समन्वय का प्रशिक्षण देते हैं तथा कष्ट सहने और आत्मपीड़न को अहिंसा के प्रशिक्षणार्थियों के लिए आवश्यक मानते हैं।

6.5 वार रेसिसटर्स इंटरनेशनल (WRI) के प्रयास

शांति के लिए किए जाने वाले सक्षम प्रयासों के लिए कुछ प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। प्रशिक्षण की गंज़ीरता-परिस्थितियां और योजनाबद्ध प्रयासों के चरित्र पर निर्भर करती है। भारत में अहिंसक प्रयासों ने अपनी परज़परा और कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण की विधियां अपने ढंग से विकसित की हैं। जिनका सफल रूप हम भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम और भूदान-आंदोलन में देख सकते हैं। इसी तरह से विश्व के कुछ समूह जिन्होंने अहिंसक संघर्ष का मार्ग अपनाया और प्रशिक्षण की एक विकसित परज़परा विकसित करने का प्रयास किया। इसी शृंखला की एक कड़ी WRI है। १९२१ में युद्ध विरोधी समूहों ने PACO संगठन की स्थापना की। जिसे १९२३ में WRI का नाम दे दिया गया। १९२५ में लंदन के पास आयोजित HODDESDON में अंतराष्ट्रीय सज़्मेलन में यह घोषणा की गई-

''युद्ध मानवता के विरुद्ध एक अपराध है। इसलिए हम युद्ध में किसी भी तरह के सहयोग न करने का निश्चय करते हैं तथा युद्ध के सभी कारणों को दूर करने का प्रयास करेंगे।'' (War is a crime against humanity. We, therefore, are determined not to support any kind of war and to strive for the removal of all causes of war.)

उपर्युक्त घोषणा के अनुरूप WRI का यह मानना था कि हिंसा के द्वारा व्यवस्था, सुरक्षा तथा सामाजिक न्याय सुरक्षित नहीं रखी जा सकती और न ही वह हमारे घरों और राष्ट्रों की सुरक्षा कर सकती है। अनुभव यह दर्शाते हैं कि युद्ध से व्यवस्था, न्याय और स्वतंत्रता बाधित होती है। इसलिए WRI का विश्वास शांति के लिए प्रभावी अहिंसक साधन खोजना था।

यूनेस्को की प्रस्तावना के समान ही WRI भी यह मानता था कि युद्ध का प्रारंभ व्यक्ति के दिल और दिमाग में होता है। लेकिन बहुत से ऐसे अभिकरण हैं जो इस विचार को कई गुणा बढ़ा देते हैं तथा मानव समूहों में भय, घृणा और शत्रुता बढ़ा देते हैं। WRI हिंसा के लिए उपनिवेशवाद और आर्थिक साम्राज्यवाद,असहिष्णुता, आर्थिक अन्याय, सैनिक तैयारी, राष्ट्रवाद को कारण मानते हैं। हिंसा को समाप्त करने के लिए WRI पूर्वाग्रहों के स्थान पर समझ, घृणा के स्थान पर सहिष्णुता, द्वेष के स्थान पर आशा और मैत्री को स्थानापन्न करने का उद्देश्य रखते हैं। जिससे वर्तमान समाज रूपांतरित होकर विश्व भाईचारे के रूप में एक जीवन्त वास्तविकता बन जाए। इस उद्देश्य की संपूर्ति के लिए WRI ने अहिंसा प्रशिक्षण पर 1965 में एक अंतराष्ट्रीय सज़्मेलन आयोजित किया तथा उसने अहिंसा प्रशिक्षण नामक एक त्रैमासिक बुलेटिन का प्रकाशन का भी शुभारंभ किया। संभवत: पाश्चात्य जगत में अहिंसक उपक्रम के लिए प्रशिक्षण की यह एक शुरूआत थी। जिसने युद्ध और हिंसा के विरुद्ध अहिंसात्मक आंदोलन की महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। यह आंदोलन कई अहिंसक समूहों के बीच सज़्पर्क और परस्पर सहयोग का एक केन्द्र बना। जून-जुलाई, 1970 में WRI ने विभिन्न प्रशिक्षण कार्यक्रमों के मूल्यांकन के लिए पुन: एक अंतराष्ट्रीय सज़्मेलन की आयोजना की। सज़्मेलन में एक स्मरण-पत्र तैयार किया गया जिसमें शांति आंदोलनों को अहिंसा प्रशिक्षण पर लिखित सामग्री संग्रहित करने को कहा

गया तथा उन्हें प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। साथ ही प्रशिक्षकों को प्रारंभिक जानकारी, प्रशिक्षण कार्यक्रमों का मूल्यांकन, प्रशिक्षण के लिए यात्राओं का प्रबंधन, प्रशिक्षकों का आदान-प्रदान, अंतराष्ट्रीय प्रशिक्षण कार्यक्रमों का विकास तथा अंतराष्ट्रीय सज़्मेलनों का आयोजन आदि कार्य हाथ में लिए गए। इस दृष्टि से WRI ने अहिंसा प्रशिक्षण कार्यक्रमों की लिखित सामग्री तैयार करना तथा प्रशिक्षण कार्यक्रमों के आयोजन जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य किए।

6.6 आचार्य तुलसी के प्रयास

अनगिनत व्यक्तियों और संस्थाओं ने विश्व के विभिन्न अंचलों में अहिंसा समाज के निर्माण के लिए बहुत सारे प्रयत्न किए हैं। ऐसे प्रयत्नों के बावजूद इच्छित परिणामों की प्राप्ति संभव नहीं हो सकी। आचार्य तुलसी इसके पीछे जो कारण देखते हैं वह है- ऐसे प्रयत्नों का संगठित रूप से न होना। प्रत्येक संगठन अपने-अपने दृष्टिकोण से कार्य करते हैं। इसलिए उनके बीच में एक व्यापक दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि का अभाव रहता है। आचार्य तुलसी ने कहा कि संयुक्त राष्ट्र जो अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को मजबूत करने, वैचारिक आदान-प्रदान और वैश्विक समस्याओं के समाधान की खोज के लिए एक शक्तिशाली संगठन है। किन्तु आश्चर्य है कि अहिंसा के क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। इसलिए आचार्य तुलसी एक ऐसे मंच के पक्षधर थे जो अहिंसा के लिए विश्वव्यापी प्रयत्नों के बीच समन्वय कर सके तथा एक समान धरातल का निर्माण उन लोगों या संस्थाओं के लिए कर सके जो अहिंसा के क्षेत्र में प्रयोग कर रहे हैं। आचार्य तुलसी ने अहिंसा के विकास में एक दूसरी महत्वपूर्ण कमी का उल्लेख करते हुए कहा था-अहिंसा के प्रशिक्षण के लिए एक व्यापक प्रशिक्षण पद्धति का सर्वथा अभाव है। आचार्य तुलसी ने केवल हृदय परिवर्तन अथवा केवल व्यवस्था परिवर्तन और केवल व्यक्ति के प्रशिक्षण अथवा केवल समूह या समाज के प्रशिक्षण को एकांगी मानते हुए इन सबके समेकित प्रशिक्षण पर बल दिया। उन्होंने अहिंसा प्रशिक्षण के लिए व्यवस्थित प्रशिक्षण पद्धति का जो प्रारूप रखा, वह इस प्रकार है—

- हृदय परिवर्तन
- दृष्टिकोण परिवर्तन
- जीवनशैली परिवर्तन
- संरचनात्मक परिवर्तन

अहिंसा प्रशिक्षण की आचार्य तुलसी की इस बहुआयामी धारणा में व्यक्ति और समाज दोनों के समेकित प्रशिक्षण को शामिल किया गया। उन्होंने कहा— अहिंसा प्रशिक्षण कोई सरल कार्य नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक भावात्मक जीवन होता है और वे भावनाएं व्यक्ति के हृदयरूपी समुद्र में समाई रहती हैं। उन्होंने यह शंका प्रकट की— भावनात्मक परिवर्तन के बिना क्या अहिंसा प्रशिक्षण का कोई अर्थ हो सकता है ? अर्थात् वैयक्तिक स्तर पर संवेग परिवर्तन अथवा हृदय परिवर्तन अपेक्षित है। दूसरी ओर गरीबी, भूखमरी, पृथक्करण, महत्वाकांक्षा आदि भी हिंसा के स्फुलिंग के रूप में कार्य करते हैं। इनकी रोकथाम के लिए सामाजिक स्तर पर प्रयत्नों की जरूरत है। इसलिए व्यक्ति के साथ संरचनात्मक परिवर्तन भी आवश्यक है।

आचार्य तुलसी ने अहिंसा-प्रशिक्षण के दो रूपों की चर्चा की—

- सैद्धांतिक प्रशिक्षण और
- प्रयोगगिक परिवर्तन।

6.6.1 सैद्धांतिक प्रशिक्षण

सैद्धांतिक प्रशिक्षण में अहिंसा के उन दार्शनिक सत्यों का अवबोध दिया जाता है जिनके अभाव में अहिंसा का प्रशिक्षण संभव नहीं हो पाता। दार्शनिक पृष्ठभूमि पर अहिंसा की मूल्यवत्ता प्रमाणित करने वाले बिन्दु निज़्नांकित हैं-

- आत्मा का अस्तित्व
- आत्मा की स्वतंत्रता

- आत्मा की समानता
- जीवन की सापेक्षता और
- सह अस्तित्व

आचार्य तुलसी के अनुसार आत्मा के अस्तित्व की स्वीकृति के बिना अहिंसा का कोई आधार नहीं बनता, इसलिए 'आत्मा है' इसकी स्वीकृति आवश्यक है। प्रत्येक आत्मा का सुख-दु:ख अपना-अपना है, इस दृष्टि से प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है। किसी भी प्राणी के प्राण हनन करने का अधिकार किसी को भी नहीं है। जिस तरह से हमारा अस्तित्व स्वंतत्र है उसी तरह से सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणी का अस्तितव भी स्वंतत्र है। अतएव किसी भी प्राणी का स्वंतत्रता का हनन करना हिंसा है। प्रत्येक आत्मा की कर्मकृत अवस्थाएं भिन्न-भिन्न हैं किन्तु सामर्थ्य की दृष्टि से सभी आत्माएं एक समान हैं। संसार में जितने भी प्राणी हैं सामर्थ्य की दृष्टि से उन सभी प्राणियों की आत्मा समान है। समानता के इस सिद्धांत को समझ लेने पर

- छोटे जीवों की बलि के द्वारा बड़े जीवों को बचाने का विचार मान्य नहीं हो सकता।
- मनुष्य को बचाने हेतु मनुष्येत्तर प्राणियों की हिंसा मान्य नहीं हो सकती।
- रंग, लिंग, जाति, व्यवसाय आदि के आधार पर भेदभाव पूर्ण व्यवहार अथवा अत्याचार मान्य नहीं किया जा सकता।

कोई भी व्यक्ति या प्राणी परस्पर विरोधी रह कर अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकते। क्योंकि जीवन सापेक्ष है। कोई ज़ी प्राणी, वस्तु अथवा व्यवस्था सापेक्षता की मर्यादा से बाहर नहीं। परमाणु शस्त्रों के इस युग में जीवन की सोपक्षता ही हमारे अस्तित्व की गारंटी है। ''मैं रहूंगा या वह रहेगा'' अहिंसा की परिधि में ऐसे चिंतन को महत्व नहीं दिया जा सकता, ''मैं ज़ी रहूंगा और वह भी रहेगा''— इस प्रकार की सोच सह-अस्तित्व को पुष्ट करती है। आचार्य तुलसी, भगवान महावीर के वचनों को उद्धृत करते हुए कहते हैं— नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, वाच्य-अवाच्य, सत-असत् जैसे विरोधी युगलों का सह अस्तित्व संभव है।

अहिंसा की इस सैद्धांतिक पृष्ठभूमि के अतिरिक्त अहिंसा के प्रायोगिक प्रशिक्षण के दो बिन्दु भी आचार्य तुलसी ने बताए हैं— 1. अंतर्जगत और 2. बाह्य जगत।

अंतर्जगत में संवेग-संतुलन को आचार्य तुलसी प्रशिक्षण का महत्वपूर्ण घटक मानते हैं। क्रोध, भय, लोभ, घृणा, आक्रामकता, मद, इत्यादि संवेग विभिन्न प्रतिक्रिात्मक भावों के माध्यम से हिंसा व अशांति के रूप में अपना प्रभाव दिखाते रहते हैं। सामान्यत: संवेगों के प्रभाव से मुक्त होना एक दुष्कर कार्य है। किन्तु आचार्य तुलसी ने संवेग संतुलन की दृष्टि से ध्यान, कायोत्सर्ग, शिथिलीकरण, आसन-प्राणायाम एवं अनुप्रेक्षाओं के अज़्यास का प्रावधान किया है। प्राप्त तथ्यों के अनुसार इन विधियों का संवेग-संतुलन की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है। अहिंसा प्रशिक्षण के विकास क्रम में आचार्य तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञ का यह महत्वपूर्ण अवदान है। इससे पूर्व अहिंसा के प्रशिक्षण के लिए इन विधियों का प्रयोग नहीं हुआ है। गांधी ने कायिक श्रम एवं टहलना आवश्यक नित्यक्रम बताया था किन्तु ध्यान योग जैसी महत्वपूर्ण भारतीय प्राचीन विधाओं का प्रयोग अहिंसा की दृष्टि से आचार्य तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञ से पूर्व होने के उल्लेख नहीं मिलते।

6.6.2 प्रायोगिक प्रशिक्षण

आचार्य तुलसी ने बाह्य जगत में अहिंसा के **प्रायोगिक प्रशिक्षण** की तीन भूमिकाओं का निर्देश किया है—

- मानवीय संबंधों का परिष्कार एवं उनका विकास
- प्राणी जगत के साथ संबंधों का विस्तार और
- पदार्थ जगत के साथ संबंधों की सीमा।

आचार्य तुलसी ने कहा है— सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य परिवार एवं समूह में रहता है, जहां अनेक प्रकार के संबंध स्थापित हो जाते हैं। संबंध जोड़ने से भी अधिक महत्वपूर्ण है— संबंधों का निर्वाह। संबंधों के निर्वहन में स्वार्थवृति आड़े आती है। अहिंसा परमार्थ का दर्शन है। अहिंसा की नीति के आधार पर व्यवहार करने वाले व्यक्ति का दृष्टिकोण मानवीय हो जाता है जिससे वह दूसरे के हितों को नहीं कुचलता तथा मारने-पीटने, सताने या प्रताड़ित करने का प्रसंग भी उपस्थित नहीं होता। मानवीय संबंधों में परिष्कार ही और मानवीय संबंधों का विकास है।

'मनुष्य इस विश्व का सर्वोत्तम प्राणी है'— इस विचार ने अन्य प्राणियों को मनुष्य के लिए भोग्य बना दिया। वह स्वयं के जीवन के लिए दूसरे प्राणियों की हिंसा करता है। आचार्य तुलसी का मानना है- मनुष्य प्रत्येक प्राणियों के स्वंतत्र अस्तित्व को स्वीकार करता है, उनके प्रति उदारता एवं समानता का भाव रखता है तो प्राणीजगत के साथ अपने संबंधों का विस्तार कर सकता है। यह अहिंसा का महत्चपूर्ण प्रयोग होगा।

मनुष्य में अधिकार की भावना सामान्यतया प्रत्यक्ष देखी जाती है। इसी भावना से प्रेरित होकर वह परिग्रह करता है। हिंसा की समस्या के निदान के लिए इस अधिकार भावना का त्याग अपेक्षित है। आचार्य तुलसी ने इसके लिए पदार्थ के प्रति मूच्र्छा का त्याग अथवा अनासक्ति के विकास के प्रयोगों का समावेश अहिंसा प्रशिक्षण में किया। पदार्थ के प्रति दृष्टिकोण में बदलाव आते ही उसके संग्रह और उपयोग की सीमा स्वत: तय हो जाती है। पदार्थ जगत के साथ संबंधों का सीमाकरण अहिंसा का ही एक प्रयोग है और इस रूप में अहिंसा सब प्राणियों के लिए खेमंकरी-कल्याणकारी हो जाती है।

6.7 विभिन्न संस्कृतियों में अहिंसा प्रशिक्षण का विकास

भारतीय संस्कृति में अहिंसा का प्रशिक्षण जीवन-शैली से जुड़ा रहा है। पाश्चात्य संस्कृति में अहिंसा को एक तकनीक के रूप में देखा जाता है और इसीलिए पाश्चात्य लोग अहिंसा के प्रशिक्षण के लिए कुछ ज़ोल एवं अज़्यास (Exercises) का सहारा लेते हैं जबकि भारतीय संस्कृति में अहिंसा जीवन-शैली का अंग होने के कारण उसके प्रशिक्षण के लिए अभिवृत्ति को बदलने पर बल दिया जाता है। वर्तमान के अनुभवों से यह कहा जा सकता है कि कोई एक दृष्टिकोण पर्याप्त नहीं है। दोनों दृष्टिकोण एक-दूसरे के पूरक हैं। जीवन पद्धति या दर्शन के बिना केवल एक तकनीक के रूप में अहिंसा का प्रयोग गलत दिशा में ले जा सकता है तथा तकनीक के बिना जीवन-शैली और दर्शन के रूप में अहिंसा का प्रयोग अपर्याप्त और कम प्रभावकारी हो सकता है। इसलिए शोद्यार्थी का मन्तव्य है कि अहिंसा प्रशिक्षण की जीवतंता के लिए इन दोनों तत्वों पर बल दिया जाना चाहिए।

जीवन-शैली को सीखने के लिए एक व्यक्ति को कुछ निश्चित अभिवृत्तियों का विकास करना चाहिए तथा कुछ निश्चित आदतों का निर्माण करना चाहिए। इसी तरह कुछ निश्चित तकनीकों को सीखने के लिए एक व्यक्ति को प्रवीणता प्राप्त करनी चाहिए तथा पूर्ण कौशल के लिए उसका अज़्यास और दीर्घ अध्यवसाय करना चाहिए।

भारतीय दर्शन में सर्व प्राणियों को आत्मवत् मानने का निर्देश एवं प्रशिक्षण दिया जाता रहा है। जैन दर्शन तो सर्वप्राणी समानता एवं सर्व प्राणी स्वतन्त्रता के साथ सर्व प्राणी सापेक्षता का उद्घोष करता रहा है। बौद्ध दर्शन का भी ये मानना है— एक अकेला मनुष्य कोई अलग ऐसी सत्ता नहीं है जो सभी प्राणियों से निरपेक्ष अकेले रह सके। अस्तितववान होने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को एक-दूसरे से संबंधित और एक-दूसरे पर निर्ज़र होना होगा। यहां अहिंसा सामाजिक संबंधों के लिए मुज़्य सिद्धांत का काम करती है। भारतीय संस्कृति विशेषकर श्रमण संस्कृति की ये मान्यता रही है—

हिंसा केवल दूसरे लोगों को ही नुकसान नहीं पहुंचाती और केवल समुदाय की ही शांति भंग नहीं करती अपितु यह कर्ता पर भी दबाव डालती है। यह उसके दिमाग में अशांति पैदा करती है तथा जीवन के पवित्र मार्ग से दूर ले जाती है। इसलिए अहिंसक व्यवहार को जीवन-शैली का अंग बनाना अहिंसा-प्रशिक्षण का प्रथम कदम है। इस स्तर पर एक व्यक्ति शारीरिक और वाचिक व्यवहार पर नियंत्रण सीखता है। किसी भी कर्म की अभिव्यक्ति के पीछे मानसिक तत्व अवश्य होता है। इसलिए केवल व्यवहार को केन्द्र में रख कर दिया जाने वाला प्रशिक्षण पर्याप्त नहीं होता। अहिंसक होने के लिए एक व्यक्ति को भावनात्मक और आध्यात्मिक प्रशिक्षण से गुजरना होता है। जिससे उसके शारीरिक और वाचिक व्यवहार को एक ठोस धरातल मिल सके।

भारतीय दर्शन में दया, प्रेम, करुणा, सहिष्णुता, सामंजस्य, शांति आदि सद्‌गुणों के विकास के लिए ध्यान आदि साधनों का मार्ग निर्दिष्ट किया गया है। ध्यान आदि के मार्ग को मन और भावों को प्रशिक्षित करने के लिए एक आध्यात्मिक तकनीक के रूप में देखा गया है। उपनिषद् आदि में प्रज्ञा जागरण, जैन दर्शन में सज़्यक् ज्ञान एवं दर्शन तथा बौद्ध दर्शन में बौद्धिक विकास को भी अहिंसा प्रशिक्षण का एक सोपान माना गया है। इस सोपान का उद्देश्य एक व्यक्ति में ऐसी बुद्धिमता (Wisdom) का विकास करना है जो चीजों को उसी रूप में प्रत्यक्ष कर सके, जैसी वे हैं। इससे एक व्यक्ति भ्रम का तथा स्वहित का शिकार नहीं होगा बल्कि वह वस्तु-स्वरूप को समझ कर उस से अपनी भिन्नता की अनुभूति करेगा और लोभ आदि कषायों से बच सकेगा। इस प्रकार प्रशिक्षण का यह रूप केवल वैयक्तिक अज़्यास पर ही बल न देकर उसके चारों ओर विद्यमान, प्राकृतिक एवं सामाजिक घटकों के प्रबंधन तथा संबंधों के प्रारूपों पर भी बल देगा। यह व्यक्ति और समाज के लिए कुछ आचार-संहिताओं का निर्माण तो करता ही है बल्कि ऐसे ज़ौतिक और सामाजिक पर्यावरण का ज़ी निर्माण करता है जो एक व्यक्ति को सही आचरण करने, परस्पर विश्वास एवं सहयोग करने पर भी बल देता है।

भारतीय संस्कृति अहिंसा को केवल निषेध के अर्थ में नहीं लेती और न ही अन्याय सहने के लिए प्रेरित करती है। यद्यपि ऋषि और श्रमण सहिष्णुता के चरम विकास एवं कर्म-निर्जरा के लिए ऐसा करते रहे हैं किन्तु सामाजिक स्थितियों में इसे व्यवहारिक नहीं मानते हैं। अन्याय के अहिंसात्मक प्रतिकार पर बल दिया गया है। हिंसा से स्वयं को अलग रखने के साथ ही अहिंसात्मक कार्यों तथा प्रेम, करुणा, सहयोग एवं सहअस्तित्व जैसे शाश्वत मूल्यों के विकास एवं सेवा के लिए स्वस्थ रचनात्मक कार्यक्रमों पर भी बल दिया गया है।

पाश्चात्य विचारक डॉ. जोन्स का मानना है— अहिंसा प्रशिक्षण का हमारा आधुनिक विचार या तो अमेरिका के Civil Rights Slruggles से आया है या फिर भारत में सर्वोदय (गांधीवादी) आंदोलन से आया है। यद्यपि हम अहिंसा प्रशिक्षण को आज मध्यम वर्गीय मुद्दों में जोड़ते हैं जब कि यह देखना रुचिकर होगा कि इस का उद्‌गम इस स्तर से कहीं बहुत दूर है। अमेरिका से यूरोप अहिंसा प्रशिक्षण का विचार Quaker Action Group के माध्यम से 1969 के बाद आया और बाद में यह विश्व के अन्य भागों में फैला। यह सिद्ध करना बहुत ही गलत होगा कि प्रशिक्षण का अमेरिकन मॉडल किन्हीं विशेष संस्कृतियों और ऐतिहासिक अनुज़्वों में गहरी जड़े जमाए हुए है। बहुत से यूरोपियन कार्यकर्ताओं ने भारी भरकम अमेरिकन मॉडल को अस्वीकार कर अपने मॉडल और अपनी संदर्शिकाएं विकसित कीं। नागरिक अवज्ञा की परज़्परा यूरोप में बहुत गहरी नहीं है जैसे कि अमेरिका में है। यूरोप में इसकी प्रासंगिकता का विकास परमाणु शस्त्र विरोधी आंदोलन के साथ हुआ तो पश्चिम जर्मनी में 1974 के बाद विकसित हुआ और बाद में अन्य देशों में फैला।

बहुत सी तकनीकें जो अमेरिका में विकसित हुईं— जैसे-सर्वानुमति से निर्णय प्रक्रिया, समूह प्रक्रिया आदि उन आंदोलनों में अपने आधर प्राप्त कर चुकीं हैं जिन का विकास प्रत्यक्ष कार्यवाही में नहीं है। अहिंसा के प्रति प्रतिबद्धता चाहे वो तकनीक के रूप में हो या जीवन-शैली के रूप में, अहिंसा के अर्थ को लेकर अमेरिका जैसे देशों में प्रश्नचिन्ह लग रहे हैं। साथ ही वहां कुछ और आश्चर्य भी पैदा हो रहे हैं जैसे प्रत्यक्ष कार्यवाही और राजनैतिक सहभागिता से प्रशिक्षण को अलग करने का खतरा।

अमेरिका की तरह का ही एक प्रारूप आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में दृष्टिगोचर हुआ। एक नए समाज के लिए फिलाडेलफिया लाईफ सेंटर के जार्ज लेके (Gearge Lakey) ने दक्षिणी अफ्रीका के Rougby Tou का विरोध करने के लिए न्यूजीलैंड में अहिंसा प्रशिक्षण का सूत्रपात किया। १९७० के दशक में बहुत से न्यूजीलैंड वासी जो अमेरिका गए थे उन्होंने वहां के बहुत से विचारों को पकड़ा तथा वापिस लौटकर उनका प्रयोग पर्यावरणीय प्रयासों, जातीय भेद-भाव के विरुद्ध प्रतिरोधों तथा शांति आंदोलनों में किया।

आस्ट्रेलिया में 1976 के बाद यूरेनियम खनन के विरुद्ध प्रयासों, आस-पड़ौस के जंगलों को काटने के विरुद्ध और शांति आंदोलनों में वैसा ही घटित हुआ जैसा कि न्यूजीलैंड में। 1982-83 में एक बहुत बड़ा प्रयास आस्ट्रेलिया की Wild River के किनारे दक्षिण-पश्चिम तस्मीना क्षेत्र में फैंकलिन बांध निर्माण को राकेने के लिए नागरिक अवज्ञा के लिए एक हजार से भी अधिक कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित किया गया।

आस्ट्रेलिया में जो लोग अहिंसा प्रशिक्षण में रुचि रखते थे उन्होंने Groundswell नामक एक नेटवर्क तैयार किया किन्तु उस समूह के सदस्य राजनैतिक मतभेदों, अहिंसक तकनीकों आदि को लेकर अपने आपको अकेला महसूस करते थे। फलस्वरूप उन्होंने छोटे समूह का प्रयोग करना प्रारंभ किया, सर्वानुमति से निर्णय लेना प्रारंभ किया एवं विचारों के लिए Brain Storming आदि का प्रयोग करना आरंभ कर दिया।

तीसरी दुनिया में अहिंसा प्रशिक्षण निश्चित रूप से पाश्चात्य प्रयत्नों से बहुत अधिक भिन्न था। इस का कारण राजनैतिक और सांस्कृतिक है। एशिया के विभिन्न समूह लिंगवाद पर कम ध्यान देते हैं जबकि स्तरीकरण एवं औपचारिक संरचनाओं पर अधिक ध्यान देते हैं। ऐसे देश जिनमें सैनिक शासन है अथवा एक दलीय शासन वाले हैं उनमें अनौपचारिक तरीकों तथा बातचीत पर अधिक बल दिया जाता है। पूर्व और पश्चिम के इस ज़ेद को 1977 में मेक्सिको में आयोजित ISTNA में देखने को मिला जहां अमेरिकन, यूरोपियन प्रतिभागियों के ऐशियन और लेटिन अमेरिकन समूह से अहिंसा प्रशिक्षण पर कभी न ज़ात्म होने वाले विचार-विमर्श चले। तीसरी दुनिया के देशों में हिंसा और अहिंसा पर चर्चा की बजाय वे संघर्ष के प्रति अधिक प्रतिबद्धता दर्शाते हैं। वहां प्रशिक्षण पर अधिक सचेतन बातचीत होती है तथा तकनीक पर लज़्बा विचार-विमर्श होता है।

इसी तरह निर्णय प्रक्रिया भी स्थानीय संस्कृति तथा उसमें भाग लेने वाले लोगों के लिंग और आयु के अनुसार ज़िन्न-भिन्न रूप धारण करती है। सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि इन मुद्दों के प्रति जागरूकता पैदा की जाए तथा अहिंसा प्रशिक्षण को और अधिक सक्रिय तथा व्यापक बनाया जाए। इस के लिए कोई एक संदर्शिका के स्थान पर वाचिक परज़्पराओं के विकास पर अधिक बल दिया जाना चाहिए।

6.8 बौद्ध दर्शन में अहिंसा प्रशिक्षण

बौद्ध भिक्षु विजालो ने बौद्ध दर्शन में अहिंसा प्रशिक्षण की रूप रेखा प्रस्तुत करते हए कहा है— अहिंसा प्रशिक्षण में अहिंसा के भावात्मक पक्ष को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। कलह-शमन, अहिंसात्मक कार्यवाही और रचनात्मक कार्यक्रम अहिंसा प्रशिक्षण के अभिन्न अंग होने चाहिए। बशर्ते वे आधुनिक विश्व के लिए प्रासंगिक हों। उन्होंने अहिंसा प्रशिक्षण को अंतरसंबंधित तीन पहलुओं में विभाजित किया है—

1. शारीरिक प्रशिक्षण 2. मानसिक प्रशिक्षण और 3. बौद्धिक प्रशिक्षण।

शारीरिक प्रशिक्षण के अंतर्गत उन्होंने स्वस्थ शरीर के लिए शारीरिक व्यायाम के साथ शरीर रक्षा कौशल के विकास पर भी बल दिया है। उनके अनुसार हिंसक हमले के समय घायल होने से बचने के लिए यह आवश्यक है। शारीरिक विकास के दूसरे स्तर पर बड़े पैमाने पर कार्यवाही जैसे संराधन, प्रदर्शन, सार्वजनिक भाषण, उपद्रव नियंत्रण और कार्यवाही के लिए तैयारी जैसे मूलभूत कौशल का विकास भी आवश्यक माना गया है। शारीरिक विकास के तीसरे स्तर पर व्यवहार नियंत्रण एवं शांतिपूर्ण तरीके से अभिव्यक्ति एवं कार्यवाही के लिए तैयार होने के लिए कड़े अनुशासन के विकास को आवश्यक माना गया है।

प्रेम, करुणा, प्रामाणिकता, साहस, एकाग्रता, सहनशीलता, विवेक, मानसिक बल वृद्धि, सतत जागरूकता, दृढ़ता आदि सद्गुणों के विकास के लिए मानसिक प्रशिक्षण का प्रावधान किया गया है।

बौद्धिक प्रशिक्षण के अंतर्गत संघर्ष के कारणों की पहचान के लिए समस्या का विश्लेषण, अहिंसा की सामान्य समझ और इसकी गत्यात्मकता, साध्य-साधन, सभी जीवों के प्रति करुणाभाव जैसे विचारों के विकास के लिए अहिंसा के मूलभूत दर्शन से परिचय के लिए बौद्धिक प्रशिक्षण का प्रावधान किया गया है।

उपर्युक्त प्रशिक्षण की रूपरेखा व्यापक रूप से प्रस्तुत की गई है। रचनात्मक कार्यक्रम के लिए बौद्ध दर्शन में सेवा के निज़्नांकित सिद्धांत प्रस्तुत किए गए हैं— 1. उदारता 2. प्रिय वचन 3. उपयोगी आचार और 4. सभी के लिए समान व्यवहार— ये सिद्धांत वाचिक और शारीरिक आचरण के लिए मार्गदर्शक है।

उदात्त मानसिक स्तर के लिए करुणा, दयालुता, सहानुभूति पूर्ण आनन्द जैसे गुणों का विकास आवश्यक है।

श्रीलंका में सर्वोदय आंदोलन के 20-25 वर्षों में सैकड़ों गांवों में सामुदायिक पुर्ननिर्माण के लिए उपर्युक्त गुणों के दोनों समूह आवश्यक अंग रहे हैं।

भिक्षु विजालो के अनुसार प्रशिक्षण आयोजना के लिए बहुत से तरीके हो सकते हैं। जिनमें से निज़ांकित कुछेक तरीके इस प्रकार हैं—

- ध्यानाज़्यास, आत्मानुशासन, स्वयं सीखना और गली या कार्यालय की घटनाओं से अहिंसात्मक कौशल विकसित कर स्वयं को प्रशिक्षित किया जा सकता है।
- एक दिन से लेकर तीन महीने की अवधि के औपचारिक प्रशिक्षण आयोजित करना— ऐसे कार्यक्रम में किसी अहिंसात्मक कार्यवाही के लिए तैयारी उपर्युक्त तीन चरणों के प्रशिक्षण के आधार पर भौतिक और सामाजिक पर्यावरण के प्रति प्रशिक्षकों के विचार आदि सज़्मिलित किये जा सकते हैं।
- वास्तविक स्थिति अथवा घटना में प्रशिक्षणार्थी को प्रशिक्षित करना— ऐसे प्रशिक्षण में कार्य के द्वारा प्रशिक्षण की प्रक्रिया सन्निहित रहती है। भले ही यह कलह-शमन के लिए हो, अहिंसात्मक कार्यवाही के लिए हो या फिर रचनात्मक कार्यक्रम के लिए। एक व्यक्ति या समूह की प्रतिक्रियाएं और उनके द्वारा मूल्यांकन ऐसे अनौपचारिक प्रशिक्षण के महत्वपूर्ण उपकरण हैं।

अहिंसा की एक लज़्बी परज़्परा के बावजूद समाज परिवर्तन के लिए अहिंसात्मक संघर्ष और सक्रिय अहिंसा प्रशिक्षण बौद्ध दर्शन के लिए नए तत्व हैं। ऐसे प्रशिक्षण का बहुत अधिक विकास बौद्ध दर्शन में नहीं हुआ है। वहां अभी भी आधुनिक विश्व की प्रासंगिकता के लिए ऐसे प्रश्ज्ञिक्षण के विकास की व्यापक संभावनाएं हैं।

7. साधन की पवित्रता के सिद्धान्त का विकास

साध्य के दो पक्ष हैं — जीवन साध्य है या जीवन मुक्ति। अध्यात्म की भाषा में जीवन साध्य नहीं है। साध्य है— जीवन-मुक्ति। जीवन मुक्ति का साधन संयम है। इसलिए संयम ही काज़्य है। असंयम जीवन-मुक्ति का साधन नहीं है, इसलिए वह अकाज़्य है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि असंयमित जीवन भी अकाज़्य है व उसे चलाने के साधन भी अकाज़्य हैं। जबकि संयमित जीवन काज़्य है और उसे चालने के साधन भी काज़्य हैं। साधन वही होता है जो साध्य के सर्वथा अनुकूल हो, ''साध्य साधन को न्यायोचित ठहराता है''— यह सिद्धांत गलत है। साध्य और साधन की विसंगति नहीं चलती क्योंकि साधन ही साध्य में बदल कर कृत-कृत्य हो जाता है।

विलियम जेज़्स ने लिखा है— ''हमारी अच्छी आदतें हमारे जीवन की सबसे बड़ी पूंजी हैं। अशुद्ध साधन से कभी हमें शानदार सफलता मिल जाती है किन्तु वह वास्तव में सच्ची सफलता नहीं है। यदि मनुष्य की आत्मा ही मर गई तो उसकी समस्त सफलताएं बेकार हैं।''

गांधी कहते थे— ''साधन ही सब कुछ है। साधन और साध्य के बीच कोई अंतर नहीं है।'' तेरापंथ के आद्यप्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने कहा था— ''मनुष्य का साध्य है आत्मा की पवित्रता और यही उस साध्य प्राप्ति का साधन भी है। आत्मा की अपवित्रता कभी भी आत्मिक पवित्रता का साधन नहीं बन सकती।'' साध्य-साधन के सिद्धांत पर विचार करते हुए एज़्मा गोल्डमेन ने एक भाषण में कहा था— ''सबसे हानिकारक विचार यह है कि यदि साध्य ठीक है तो उसके लिए हर प्रकार के साधन अपनाये जा सकते हैं। अंत में साधन ही साध्य बन जाते हैं और असली साध्य पर दृष्टि ही नहीं जाती।''

ट्राटक्सी ने लिखा है—

''जिसका लक्ष्य साध्य पर रहता है, वह साधनों की उपेक्षा नहीं कर सकता।'' आचार्य महाप्रज्ञ ने ट्राटक्सी के इस विचार की आलोचना करते हुए कहा— ''साधन का कितना बड़ा प्रभाव साध्य पर पड़ता है, ट्राटक्सी ने यह कभी नहीं समझा। बुरे साधनों से तो बुरा साध्य ही प्राप्त होगा। इसलिए चाहे जैसे साधन प्रयुक्त करने का सिद्धांत कभी उचित नहीं हो सकता।'' ''गांधी ने सबसे बड़ी

शिक्षा यह दी कि हमारे साधन पवित्र होने चाहिए। जैसे हमारे साधन होंगे वैसे ही हमारे साध्य और ध्येय होंगे। यदि योग्य साधन होंगे तभी हम योग्य साध्य तक पहुंच सकेंगे। जो साधन अच्छे नहीं होते वे अक्सर साध्य का ही अंतर कर देते हैं या फिर उनमें अनकों कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं।''

साधन और साध्य की दो भूमिकाएं हैं- सामान्य और नैतिक। नैतिक भूमिका में साध्य किसी क्रिया के प्रयोजन, लक्ष्य और परिणाम का सूचक है। साधन वह क्रिया है जिसके द्वारा इच्छित लक्ष्य व परिणाम को सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। नीतिशास्त्र में साध्य के स्वरूप पर मतैक्य नहीं है। ग्रीन, मैकन्जी, बटलर और कान्ट साध्य का अर्थ प्रेरणा या प्रेरक तत्व से लेते हैं। जबकि मिल, बैंथम और चार्वाक साध्य का अर्थ कार्यों के परिणाम को ही मानते हैं। आचार्य भिक्षु, गांधी और आचार्य महाप्रज्ञ के सिद्धान्त के अन्तर्गत लक्ष्य और परिणाम दोनों का समावेश है। साधन क्रियासूचक पद है जिससे साध्य को प्राप्त किया जाता है, किन्तु सभी क्रियाएं एक समान नहीं होती। कुछ क्रियाओं में शक्ति प्रयोग, शोषण, प्रतिशोध, परपीड़न, अप्रत्यक्ष हिंसा आदि का समावेश होता है तथा कुछ क्रियाएं प्रेम, करुणा और सहयोग की सूचक होती है। साधन के इन दोनों प्रकारों से कार्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। नीतिशास्त्र में कुछ विचारक जैसे मैक्यिावली, हिटलर, स्टालिन, लेनिन, माओ, कौटिल्य आदि साध्य पर ही विशेष बल देते हैं। इनके अनुसार मुज़्य बात कार्य निपुणता की है, साध्य की पवित्रता साधन को भी पवित्र बना देती है। जबकि गांधी एवं आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार साधन की पवित्रता ही साध्य को पवित्र बना सकती है। ''मानव जीवन पर साध्य का ही नहीं साधन का भी प्रभाव पड़ता है क्योंकि साधन और साध्य दोनों एक ही मानसिक परिस्थति के अविभाज्य अंग हैं। ''नैतिकता के निर्धारण में साधन का अपना स्वाभाविक मूल्य है। साधन का विचार साध्य के मूल्यांकन का भी आवश्यक अंग है। क्योंकि साधन द्वारा ही स्वयं मूल्यांकन को वास्तविकता प्राप्त होती है।'' साधन की पवित्रता का समर्थन करते हुए मनु ने कहा है— ''अधर्म से प्राप्त समृद्धि और सौरभ प्रकट रूप से जो भी हो अंत में उसका समूल विनाश निश्चित है।'' कार्लमार्क्स का भी कथन था—''वह साध्य जो अनिवार्य रूप से अपवित्र साधन की अपेक्षा रखता है, पवित्र साध्य नहीं कहला सकता।'' इसलिए कुछ आधुनिक मार्क्सवादी विचारक जैसे ए. शिशकिन आदि यह मानने लगे हैं कि मार्क्स भी साधन की पवित्रता में विश्वास करता था। अनैतिक साधनों के आधार पर साफल्य सच्चा नहीं। क्योंकि इसमें तो हम अनैतिकता की विजय और नैतिकता की पराजय स्वयं स्वीकार कर लेते हैं। गांधी कहते हैं-''सच्ची और सज़्पूर्ण साधना ही सज़्पूर्ण सफलता या आत्यंतिक विजय है।''

कभी-कभी गलत साधनों के द्वारा उत्तम साध्य-प्राप्ति के उदाहरण मिलते हैं, जैसे— माता-पिता अथवा शिक्षक द्वारा बच्चे को ताड़ना देना, गांधी द्वारा बीमार बछड़े को असाध्य वेदना से मुक्ति के लिए उसे मरवाना, नमक कानून तोड़ना। परन्तु आचार्य भिक्षु एवं आचार्य महाप्रज्ञ की योजना में किसी भी अपवाद का विधान नहीं है। गांधी ने भी बाद में अपनी भूल को स्वीकारा था। उन्होंने कहा भी है— ''मेरा विश्वास इस विवेकपूर्ण कथन में है— जो तलवार के बल पर प्राप्त किया जाता है वह तलवार के बल पर समाप्त भी होता है।'' अत: अपवित्र साधन का प्रयोग कभी भी वाछंनीय नहीं हो सकता। गांधी ने तो अशुद्ध साधन से प्राप्त होने वाले स्वराज्य को भी नकारते हुए कहा था— ''अहिंसात्मक साधनों के द्वारा १०० वर्ष बाद भी स्वराज्य की प्राप्ति होगी वह मुझे मान्य है किन्तु हिंसात्मक उपायों से आज ही प्राप्त होने वाला स्वराज्य मुझे स्वीकार नहीं है।''

इस प्रकार अहिंसा प्रशिक्षण की विकास यात्रा के साथ साधनशुद्धि के विचार का भी विकास हुआ, तभी अहिंसा पूर्णता पा सकी।

8. अहिंसा प्रशिक्षण (आचार्य महाप्रज्ञ प्रणीत) : विविध आयाम

आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा प्रणीत अहिंसा प्रशिक्षण के चार आयाम हैं—

- हृदय परिवर्तन
- दृष्टिकोण परिवर्तन
- जीवन शैली परिवर्तन और

- व्यवस्था परिवर्तन

इन चारों आयामों का विस्तार से विवेचन इस प्रकार है–

8.1 हृदय परिवर्तन

हृदय परिवर्तन रूपांतरण की मौलिक प्रक्रिया है। गांधी और आचार्य महाप्रज्ञ दोनों ही अहिंसक व्यक्तित्व निर्माण एवं समस्या-समाधान के लिए हृदय परिवर्तन की अहम् भूमिका को स्वीकार करते हैं। सामाजिक अव्यवस्थाओं के निराकरण में भी वे हृदय परिवर्तन की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। गांधी ने कहा– ''आज लोग जिस नई व्यवस्था की आशा लगाये हुए हैं, वह तो अहिंसा द्वारा ही उत्पन्न हो सकेगी। मेरी अपील और कार्य प्रणाली शुद्ध अहिंसा की है जो हृदय परिवर्तन से प्राप्य हो सकती हैं।'' आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार– ''अहिंसा का अर्थ ही है– हृदय परिवर्तन। वे व्यक्ति स्वातंत्र्य को भी हृदय परिवर्तन मानते हैं। उनके अनुसार हृदय परिवर्तन के बिना व्यक्ति स्वातंत्र्य को परिभाषित नहीं किया जा सकता और नहीं अहिंसा को समझा जा सकता है।''

आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं– ''समस्त प्राणियों में मर्यादा विहीनता अथवा अनैतिक कृत्यों के लिए दण्ड शक्ति एवं बल प्रयोग की व्यवस्थाएं हैं। पशु-पक्षियों यहां तक की पेड़-पौधों में भी इसके प्रयोग देखे जा सकते हैं। मनुष्य ने दण्ड शक्ति के स्थान पर आत्मानुशासन का विकास किया। मनुष्य की धारणा यह रही है कि बल प्रयोग कम हो, दण्ड शक्ति का प्रयोग कम हो; आत्मानुशासन जागे। आत्मानुशासन का विकास हृदय परिवर्तन का मूलमंत्र है।''

आचार्य महाप्रज्ञ भावात्मक परिवर्तन अथवा संवेगात्मक परिवर्तन को हृदय परिवर्तन का पर्यायवाची मानते हैं। उनके अनुसार– हृदय हमारे शरीर का वह क्षेत्र है जहां भाव जन्म लेते हैं और वे शरीर, वाणी और मन को प्रभावित करते हैं। भाव शुद्धि एवं संवेगात्मक परिवर्तन जिसे हम आन्तरिक शोधन भी कह सकते हैं; हृदय परिवर्तन की अनिवार्य शर्त है। इसलिए सर्वप्रथम संवेग पर दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा।

8.1.1 मानवीय संवेग और हिंसा

संवेग प्राणी की उत्तेजित अवस्था है। ऐसी उत्तेजनाएं प्राय: आकस्मिक और तीव्र होती हैं। संवेगात्मक उत्तेजना की तीव्रता इतनी अधिक होती है कि इस उत्तेजना के बने रहने तक प्राणी के अन्य सभी व्यवहार अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। संवेग की इसी विशेषता के कारण मनोवैज्ञानिकों ने इसे एक विध्वंसात्मक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। हर प्रेरणा के साथ किसी न किसी संवेग का संबंध जुड़ा रहता है, जैसे आक्रामकता एवं कलहप्रियता के साथ क्रोध का, पलायन के साथ भय का। संवेग में प्राणी के पास अतिरिक्त शक्ति होती है जिसे वह प्रेरणा की तृप्ति हेतु व्यय कर सकता है। संवेगात्मक स्थिति में व्यक्ति के अन्दर एक प्रकार की हलचल मच जाती है और उसकी शारीरिक क्रियाओं में भी परिवर्तन होता है। भय के समय व्यक्ति घबरा जाता है और उसकी मुखाकृति पीली हो जाती है, शरीर कांपने लगता है। इसी प्रकार क्रोध की स्थिति में उसकी मुखाकृति लाल हो जाती है तथा श्वास की गति तीव्र हो जाती है।

संवेग दो प्रकार के हैं– सुखद एवं दुखद। सुखद संवेदनों से सृजनात्मक प्रवृत्ति बढ़ती है जबकि दुखद संवेदनों से विध्वंसात्मक प्रवृत्ति। लोभ, भय, शत्रुता आदि दुखद संवेदन हैं, जो विध्वंसात्मक हैं तथा ये हिंसा एवं युद्ध के लिए भी जिम्मेदार हैं।

युद्ध एवं हिंसा सार्वभौमिक है, यह सदैव होती रही है। अनेक देशों के पुराण व इतिहास इसका प्रमाण है। युद्ध धर्म, प्रतिरोध, अस्तित्व, स्वतंत्रता, भोजन, भूमि, स्त्री, गौरव, लिप्सा आदि के लिए लड़े गए हैं। एलिक्स स्ट्रेची ने कहा है-''इन सबको देखते हुए व इस प्रकार से देखने पर लगता है– युद्ध करने की आवश्यकता मनुष्य के लिए कोई स्वदेशी वस्तु है। वह एक ऐसी चीज है जो अन-उन्मूलनीय है। मानव मस्तिष्क में इसकी जड़ें गहरी हैं, इसलिए युद्ध को समाप्त करने के प्रयास निरर्थक हैं।'' मूलत: यदि देखा जाए तो हिंसा या युद्ध का मुख्य कारण मानव स्वभाव की इच्छाएं और वासनाएं ही हैं। चूंकि मानवीय इच्छाओं और वासनाओं को नियंत्रित/संयमित किया जा सकता है, इसलिए निश्चित ही शांति के प्रयास सार्थक हैं।

युद्ध या हिंसा के तीन कारण हैं–

- प्राप्ति की इच्छा (Desire for gain)

- क्षति का भय (Fear of injury)
- बहादुरी से प्रेम (Love of glory)

ये तीनों कारण संवेगों पर आधारित हैं। कुछ प्राप्ति की इच्छा लोभ का संवेग है। क्षति या चोट की शंका भय का संवेग है। बहादुरी की प्रशंसा मिथ्याभिमान का संवेग है। ये तीनों ही हिंसा या युद्ध के समन्वित कारण हैं। हिंसा का पहला प्रयोग स्वयं को दूसरे व्यक्तियों या पशुओं आदि का स्वामी बनाने के लिए होता है। हिंसा का दूसरा प्रयोग स्वामित्व को सुरक्षित रखने के लिए होता है और हिंसा का तीसरा प्रयोग उन्हें यह अनुभव देने में होता है कि उन्हें कम आंका जा रहा है।

कुछ संवेगों को विस्तार से देखें–

8.1.1.1 लोभ (Greed)

सुकरात ने कहा था–''लोग सरल जीवन पद्धति में संतुष्ट नहीं होते। वे सोफा, मेज तथा अन्य उपस्कर (फर्नीचर) इकट्ठा करते रहेंगे। हमें आवास, वस्त्र तथा भोजन जैसी आवश्यकताओं से आगे बढ़ जाना चाहिए, उसके पश्चात् हमें अपनी सीमाओं को बढ़ाना चाहिए क्योंकि मूल स्थिति अधिक समय तक नहीं रहती... और जो प्रदेश अपने निवासियों का भरण-पोषण करने में काफी था, वह अब उसके लिए छोटा हो जाएगा, काफी नहीं रहेगा ... तब हम पड़ोसियों की जमीन का टुकड़ा हथियाना चाहेंगे। यदि हमारी तरह उनकी भी आवश्यकताएं सीमा को पार कर जायें और वे स्वयं धन के असीमित संचय के लिए लग जाएं तो परिणाम होगा– युद्ध।''

जब व्यक्ति अपनी अनिवार्यताओं/आवश्यकताओं से विलासिताओं की ओर बढ़ने लगता है तो परिणाम संघर्ष के अलावा और हो भी क्या सकता है। आवश्यकता ने हमें अस्त्र दिये, प्रतिस्पर्धा उनमें विविधता लाई तथा सर्वाधिक बलशाली बनने के विचार ने उनके धार को और ज्यादा नुकीला किया।

आर्य लोग लालचवश ही भारत आये। अंग्रेजी शासन को रोडेशिया एवं ट्रांसवल की स्वर्ण-खाने, भारत का जूट तथा बर्मा का रबड़ खींच लाया। लालच के वशीभूत होकर ही मानव ने अन्य सब प्राणियों को अपने लिए भोग्य बना लिया।

8.1.1.2 क्रूरता (Cruelty)

मेक्डूगल के अनुसार मूल प्रवृत्तियां मानवीय स्वभाव पर शासन करती हैं। यदि शक्तिशाली लोगों में लड़ने की प्रवृत्ति है तो शांति कभी भी सम्भव नहीं। विलियम जेम्स के अनुसार-युयुत्सा (युद्ध की इच्छा) व्यक्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त होती है। अस्तित्व के संघर्ष में केवल वही जातियां जीवित रहीं जो युद्धप्रिय थीं।

रोटी और रोजगार ने व्यक्ति को इतना क्रूर बना दिया कि वे किलिंग प्रोफेसन की ओर जाने को बाध्य हो गये। बर्नाडशा लिखते हैं– प्रारंभ में कोई भी इज्जतदार औरत ऐसे किसी व्यक्ति से शादी नहीं करती थी जो कुछ लोगों या पशुओं को मौत के घाट नहीं उतार देता था। वर्तमान में नागरिक स्वयं ही सेना गठन करते हैं, उनके लिए पैसा चुकाते हैं तथा उन सैनिकों की जानें उनके लिए बंधक होती हैं। वे यह नहीं सोचते कि वे भी उनके ही भाई हैं। उनकी प्रवृत्ति भी क्रूर नहीं थी, मारने की नहीं थी। पर धीरे-धीरे उन्होंने उन्हें प्रशिक्षण दिया और क्रूर बना दिया। आज के युद्ध साधनों ने उनकी चेतना को लुप्त कर दिया है। कुत्ते-बिल्ली से घबराने वाला व्यक्ति इतना क्रूर बन जाता है।

आज तो क्रूरता मनोरंजन बनती जा रही है। स्वयंसेवी नागरिक युद्ध को मनोरंजन हेतु देखना चाहते हैं ताकि उन्हें समाजसेवा का मौका मिले। प्राचीन समय में और आज भी अरब राष्ट्रों में पशुओं को आपस में लड़ाकर क्रूरतापूर्ण मनोरंजन किया जाता है। क्रूरता की हद तब हो जाती है जब अबोध शिशुओं को पशुओं की पीठ पर बांधकर पशुओं को उकसाने का कार्य उनसे लिया जाता है तथा स्वयं की विलासिताओं व प्रसाधनों के नाम पर अबोध व करुण पशुओं की जानें ले ली जाती हैं। आर्थिक जगत् में शोषण भी क्रूरता का उदाहरण है। बिना क्रूरता के शोषण संभव नहीं हो सकता, रिश्वत लेना संभव नहीं हो सकता। सामाजिक व्यवहारों में यह क्रूरता मालिक-नौकर के संबंधों के बीच, सास-बहू के रिश्ते के बीच देखी जा सकती है। दहेज के नाम पर बहुओं को जलाने की घटनाएं क्रूरता का उत्कर्ष है।

8.1.1.3 मिथ्याभिमान (Vanity)

जिन व्यक्तियों में यह सोचने की अतिरंजित प्रवृत्ति होती है कि उनका अपना समूह अथवा जाति अन्य समूहों या जातियों से अत्यन्त श्रेष्ठ है, उन लोगों का सामान्य दृष्टिकोण रूढ़िवादी होता है। वे शक्ति की प्रशंसा व पराजितों से घृणा करते हैं। अर्थात् जो व्यक्ति स्वयं को उच्च मानते हैं वे युद्ध प्रिय होते हैं तथा हिंसा में उनका विश्वास होता है। राजनीतिज्ञों का यह मानना है— चीन का भारत पर आक्रमण इसलिए नहीं हुआ था कि वे भूमि हड़पना चाहते थे, बल्कि चीन भारत को अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहता था।

इतिहासकार यहां तक कहते हैं— योद्धाओं और विजेताओं के गुणगान ने ही सशस्त्र व प्रशिक्षित अपराधियों को पैदा किया है। कार्लिल व नीत्शे के हीरो-वरशिप के विचार ने न जाने कितने मिथ्याभिमान को जन्म दिया है। हिटलर अपनी सर्वशक्तिमान सेना के बावजूद भी पौलेण्ड व बेल्जियम में हार गया लेकिन उसके मिथ्याभिमान ने न जाने कितनों का खून बहाया। कई व्यक्तियों व राष्ट्रों में वरिष्ठता की भावना भी होती है जिससे वे सोचते हैं— सज़्पूर्ण सृष्टि उनके भोग के लिए है। उनके इस वरिष्ठता के विचार ने विश्व में जातिभेद, रंगभेद, उच्च-निज़्न वर्ग आदि की दीवारें खड़ी की हैं। ब्रिटिश लोग यह कहा करते थे— हम एक महान् शक्ति रखते हैं, जहां सूर्य कभी अस्त नहीं होता, तब कमजोर राष्ट्र उनका आदर क्यों नहीं करे।

उन राष्ट्रों को तो हमारा शुक्रिया अदा करना चाहिए कि हम उन्हें अच्छी सरकार देते हैं।[10] नेपोलियन भी विश्व-व्यवस्था को अच्छा करने के मिथ्याभिमान के कारण ही विश्व पर चढ़ाई करता था। फिज़्ते लिखते हैं— जर्मन विशिष्ट हैं क्योंकि उन्हीं के पास शुद्ध भाषा है और भाषा चरित्र के तुल्य है। इसलिए ऐसे व्यक्तियों को दूसरों पर शासन करना ही चाहिए। स्पष्ट है— किस तरह यह महद्भाव ग्रंथि तथा मिथ्याभिमान का संवेग मनुष्य को हिंसा और युद्ध की ओर धकेलता है।

8.1.1.4 असहिष्णुता (Intolerance)

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को सहन नहीं करना चाहता। एक धर्म दूसरे धर्म को सहन करना नहीं चाहता। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को सहन नहीं करना चाहता। परिणाम होता है— संघर्ष, हिंसा एवं युद्ध। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच असहिष्णुता है जिससे पारिवारिक व सामाजिक कलह देखने को मिलती है। एक धर्म दूसरे धर्म के प्रति असहिष्णु है। परिणाम है साज़्प्रदायिक हिंसा। साज़्प्रदायिक कट्टरपन के कारण न जाने कितने युद्ध लड़े गये हैं, कितना खून बहा है। ईराक-ईरान का युद्ध धार्मिक असहिष्णुता का ही परिणाम था। भारत में वर्तमान साज़्प्रदायिक अभिनिवेश भी असहिष्णुता का ही परिणाम है।

राष्ट्रों की असहिष्णुता तो जगजाहिर है। पूंजीवादी राष्ट्र समाजवादी राष्ट्रों को नहीं चाहता। एकतंत्र शासन पद्धति के लोग लोकतंत्र को नहीं चाहते। राष्ट्रों की इस असहिष्णुता ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एक लज़्बे शीतयुद्ध को जन्म दिया था तथा इसी असहिष्णुता ने नाटो, सीटो व वार्सा जैसे सैनिक संगठनों को जन्म दिया था।

8.1.1.5 क्रोध (Anger)

व्यक्ति क्रोध के संवेग के कारण आक्रामक प्रवृत्ति को अपनाता है। क्रोध विवेकहीनता का कारण है। जिससे व्यक्ति हेय-उपादेय की दृष्टि को खो देता है तथा आक्रमण करना चाहता है। गीता में कहा गया है— क्रोध में व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। उसे उचित-अनुचित का ध्यान नहीं रहता है। वस्तुत: मनुष्य में उच्च गुण हैं किंतु क्रोध में व्यक्ति पाशविक वृत्ति को अपना लेता है। इस पाशविक वृत्ति के कारण व्यक्ति दूसरों को तो नुकसान पहुंचाता ही है, वह स्वयं को भी नुकसान पहुंचाता है। यह क्रोध का ही परिणाम है कि व्यक्ति आत्महत्या तक पहुंच जाता है।

इस प्रकार व्यक्ति के स्वयं के संवेग भय, लोभ, सत्ता व धन का मद आदि बातों पर युद्ध को पसन्द करने वाला स्वभाव निर्भर करता है। स्वार्थवृत्ति, आकांक्षाएं, घृणा, द्वेष आदि मानव स्वभाव में पशुता की जड़ें हैं। पर जीवन मात्र संघर्ष नहीं है, जीवन सहयोग है। 19वीं तथा 20वीं सदी अस्तित्व के लिए संघर्ष, प्रतिस्पर्धा, वर्ग-संघर्ष, विरोध आदि शब्दों में ही गुजर गई। इस सदी में

सैनिक दिमाग वाले व्यक्तियों का प्रभुत्व रहा, जिन्होंने घृणा का, क्रूरता का सिद्धान्त दिया। पर 21वीं सदी अस्तित्व के लिए संघर्ष पसन्द नहीं करेगी, उसका विश्वास मानवीय सहयोग में होगा, जो दु:खद संवेदनों पर नियंत्रण से ही संभव हो पायेगा।

8.1.2 हृदय परिवर्तन की आवश्यकता

आज विज्ञान और मनोविज्ञान द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि मानवीय संवेग हिंसा या युद्ध के लिए जिम्मेदार हैं। इन संवेगों के कारण प्राणी के अन्य सभी व्यवहार अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। संवेगों की इस विशेषता के कारण मनोवैज्ञानिक संवेगों को एक विध्वंसात्मक शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। व्यक्ति पदार्थ की आसक्ति के कारण अपनी आवश्यकताओं से विलासिताओं की ओर बढ़ने लगता है तो हिंसा अवश्यंभावी हो जाती है। भय का संवेग व्यक्ति में असुरक्षा की भावना पैदा करता है और इस असुरक्षा की भावना के कारण वह आक्रामक हो जाता है, अस्त्र-शस्त्र जुटाता है। क्रूरता का संवेग व्यक्ति को पेशेवर हत्यारे के रूप में बदल देता है। शत्रुता का भाव व्यक्ति में अविश्वास पैदा करता है, जिससे वह स्वयं को सदैव असुरक्षित पाता है। अत: स्पष्टत: मानव मस्तिष्क के ये संवेग हिंसा या युद्धों के जिम्मेदार हैं। जब तक मनुष्य के इन संवेगों को नियंत्रित नहीं किया जाता, इन निषेधात्मक भावों की जगह विधेयात्मक भावों को स्थापित नहीं किया जाता, तब तक अहिंसा या शांति की बात फलित नहीं हो सकती। इसलिए मानव मस्तिष्क के परिवर्तन की आवश्यकता है।

8.1.3 हृदय परिवर्तन का आधार

समस्त प्राणियों के स्वभाव के अध्ययन से हम सहज ही यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं— मानवीय स्वभाव विशिष्ट है। मानवीय स्वभाव का अध्ययन-''मनुष्य क्या करता है'' प्राय: इसी से किया जाता है पर यदि हम मानवीय स्वभाव का वास्तविक अंकन करना चाहते हैं तो हमें इस बात पर ध्यान देना होगा कि ''मनुष्य क्या कर सकता है''। ''मनुष्य क्या करता है'', इसका संबंध मानवीय व्यवहार से है न कि स्वभाव से। प्राय: ऐसा देखा जाता है— मनुष्य अपने स्वभाव के विपरीत व्यवहार करता है। इसलिए हमें इस ओर अपना ध्यान आकृष्ट करना होगा कि ''वह क्या कर सकता है'', इस प्रश्न का सीधा संबंध मनुष्य की योग्यता और शक्ति से है जो अन्तत: उसके स्वभाव से जुड़ता है।

सामान्यत: ऐसी धारणा है कि हम साधारणत: जो करते हैं वह हमारा स्वभाव है और जिसे हम स्वयं से अलग नहीं कर सकते। यदि हमारा यह व्यवहार बुरा और अपराधपूर्ण है तो हम क्रूर व हिंसक पशुओं के व्यवहार से कैसे स्वयं को अलग मान सकते हैं। सामान्यत: और सामान्य परिस्थितियों में कोई व्यक्ति क्रूरता, झगड़ा, हत्या आदि नहीं करता क्योंकि उसका स्वभाव ऐसा नहीं है। यदि मनुष्य को केवल बुरा मान लिया जाए तो शिक्षा और प्रशिक्षण, कॉलेज और विश्वविद्यालय सभी अर्थहीन हो जायेंगे। धर्म, नैतिकता, अध्यात्म आदि व्यर्थ हो जायेंगे जिनका चरम उत्कर्ष मनुष्यता के उस स्तर की प्राप्ति है जहां पहुंच कर कुछ भी प्राप्त करने को शेष नहीं रह जाता, सारी इच्छाएं और कामनाएं शांत हो जाती हैं। इसलिए किसी भी सामाजिक परिवर्तन के लिए मनुष्य में आस्था और उसकी पवित्रता में विश्वास अपेक्षित है। किसी भी विचार और नैतिक आन्दोलन को पुनरुज्जीवित करना है तो उसका आधार मानवीय नैतिकता में अविश्वास करके हम किसी भी नैतिक विचार क्रांति को सफल नहीं बना सकते। प्रो. ए. शिशकिन ने कहा है— ''मार्क्सवाद यद्यपि पूंजीपतियों, लालच, महत्त्वकांक्षा, क्रूरता व अन्य सामाजिक बुराइयों को दूर करना चाहता है लेकिन वह मानवीय पवित्रता में विश्वास करता है। भले ही उसका विश्वास ईश्वर में न हो''।

यद्यपि प्रारंभिक अस्त-व्यस्त मनोविज्ञान मनुष्य की लड़ाकू वृत्ति की ओर संकेत करता है पर इसका कोई वैज्ञानिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। डार्विन जिसे विकासवाद का जनक कहा जाता है, बड़ा आश्चर्य है कि वह भी शारीरिक शक्ति से नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति को बड़ा मानता है। ग्रेट आइसलैंड, जोर्डन, मोहनजोदड़ो, हड़प्पा आदि पूर्व सभ्यताओं की खोजों में किसी भी प्रकार के विध्वंसक अस्त्रों के प्रमाण न मिलना इस तथ्य की और अधिक पुष्टि करते हैं कि उस समय संहारक अस्त्र नहीं बने थे। यूनेस्को के प्रो. मांटेग्यू ने अपनी शोध के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है— मनुष्य जन्म से आक्रामक प्रवृत्ति का नहीं रहा है, यह उसकी उपार्जित आदतों का परिणाम है। सेवाइल घोषणा पत्र में विश्व भर के विभिन्न क्षेत्रों के 20 विद्वानों ने यह घोषणा की है— ''यह कहना वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्णत: गलत और भ्रामक है कि युद्ध करने की प्रवृत्ति हमें हमारे पशु-पूर्वजों से मिली है... कि युद्ध या अन्य

हिंसक व्यवहार मनुष्य की वंशानुगत प्रवृत्ति है... कि मानव विकास की प्रक्रिया में हिंसात्मक व्यवहार को अन्य प्रकार के व्यवहारों की तुलना में प्रधानता दी गई है... कि मानव मस्तिष्क हिंसक होता है... कि हिंसा का कारण हमारी उस ओर मूल प्रवृत्ति का होना है या कोई एकल अभिप्रेरणा है।''

अत: जब हमें मानवीय पवित्रता में विश्वास हो जाता है या जब हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि जो बुराइयां मनुष्य में हैं, वे सब आगन्तुक हैं, अर्जित हैं तब परिवर्तन का एक आधार तैयार हो जाता है। व्यक्ति के जो विभाव हैं, जिनकी आत्माएं रुग्ण हैं, जो आसक्ति के व्यामोह में फंसे हैं उन्हें परिवर्तन के प्रयासों से परिवर्तित किया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति मनुष्य के परिवर्तन और उसके स्वभाव की लोचशीलता में संदेह नहीं कर सकता।

परिवर्तन के कई पहलू हैं पर अहिंसात्मक प्रयोगों के अन्तर्गत ''हृदय परिवर्तन'' परिवर्तन का सशक्त माध्यम है। यह पद सामान्यत: व्यक्तित्व में सज़्पूर्ण, सज़्यक् और स्थाई परिवर्तन के लिए प्रयुक्त होता है। जैसे ही किसी व्यक्ति का वास्तविक हृदय परिवर्तन होता है प्राय: संपूर्ण व्यक्तित्व का पुनर्जन्म हो जाता है। यह एक अत्यन्त आकस्मिक, किन्तु गंभीर रुप से प्रभावशाली भावात्मक सांवेगिक घटना है, जिससे समग्र व्यक्तित्व में मूलभूत और व्यापक परिवर्तन होता है। यह प्रभावकारी सांवेगिक घटना कुछ ही क्षणों में सज़्पूर्ण व्यक्तित्व को गंभीर रुप से प्रभावित करने वाली सांवेगिक अभिघातज आघात के जैसी एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। एक व्यक्ति के व्यक्तित्व में यह परिवर्तन शारीरिक शक्ति या दबाव से नहीं लाया जा सकता है। विनोबा भावे ने एक पत्र में लिखा है— ''जो यह सोचते हैं कि मानवीय व्यवहार और मस्तिष्क में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता, वे मानवीय मनोविज्ञान से अनभिज्ञ हैं तथा मानवीय स्वभाव को जड़ समझते हैं।'' एक बार जब व्यक्ति की अनुभूतियां बदल जाती हैं तो वह इन परिवर्तित अनुभूतियों जैसा ही व्यवहार करने के लिए बाध्य हो जाता है। हृदय परिवर्तन के बारे में शंका पैदा होना अहिंसा की मूल शक्ति पर ही प्रहार है।

जी. डब्ल्यू. आलपोर्ट (G.W. Allport) ने अपनी पुस्तक "Personality" में एक ऐसे लड़के के बारे में लिखा है जिसके व्यवहार और अध्ययन की आदतों में अध्यापक द्वारा उसकी बुद्धि पर टिप्पणी किये जाने के बाद अचानक आशा के विपरीत परिवर्तन आया था। प्रो. बेगबी और प्रेट (Professor Bagbie and J.B. Pratt) ने ऐसे बहुत से पियक्कड़ों के उदाहरण दिये हैं जो वर्षों से पीते थे पर एक ही आघात ने उन्हें पीने की लत छुड़ा दी। इतिहास भी ऐसे हृदय परिवर्तन का साक्षी रहा है— जैसे सम्राट् अशोक, वाल्मीकि, अंगुलीमाल, चंबल के अपराधी आदि-आदि। यह बदलाव कोई जादू नहीं है पर प्रयोग पर आधारित प्रक्रिया है जो सुझाव, भाव, व्यवहार, अनुकरण आदि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है। कोई भी विचार सर्वप्रथम सामान्य तरीके से व्यक्ति में आते हैं फिर वे अवचेतन में उतर कर धीरे-धीरे व्यक्ति के भाव और कार्यों में उतर जाते हैं तथा अन्तत: व्यक्ति की रूचि बन जाते हैं। जिस व्यक्ति से वह घृणा करता था उससे प्यार करने लगता है तथा जिन बुराइयों को उसने अपना रखा था, उनसे उसे घृणा हो जाती है। यह आघात जहां एक ओर हृदय को स्पर्श करता है, वहीं दूसरी ओर मस्तिष्क को भी मनवाता है।

इस दृष्टि से हृदय परिवर्तन कोई दैविक रहस्य नहीं है, यह तो एक प्रायोगिक एवं अनुभूत घटना है। यह सत्य है कि इस शस्त्र का अधिक विकास नहीं हो पाया है, किन्तु यह मनोविज्ञान के कई तत्त्वों एवं नियमों— यथा मानसिक द्वन्द्व, संसूचन, अनुकरण, संवेग आदि पर निर्भर है। जेज़्स स्ट्राचन ने इसके वैज्ञानिक संदर्भ को समझाते हुए कहा है— इसे रहस्य या दैवी घटना के रुप में नहीं लेना चाहिए। इसे तो वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में समझने की जरूरत है।

यद्यपि यह सही है— मर्मस्पर्शी आघात मात्र से व्यक्ति का रूपान्तरण घटित हो जाता है, किंतु कुछ विद्वानों का यह भी मत है— इस प्रकार के रूपान्तरण को स्थायी बनाने के लिए व्यक्ति के परिवेश को भी बदलना आवश्यक है। परिस्थितियों को बदले बिना रूपान्तरण स्थायी नहीं बना रह सकता। जब विनोबा से पूछा गया— क्या आपके उपदेशों, आपकी प्रेरणाओं से सार्वभौमिक हृदय परिवर्तन आ जाएगा? विनोबा का उत्तर था— ''केवल मेरे शब्दों से नहीं बल्कि परिस्थितियों में परिवर्तन से हृदय परिवर्तन आएगा।'' हम समाज की पृष्ठभूमि को नकार नहीं सकते। समय के बहाव व इतिहास को नकार नहीं सकते। हम शून्य में नहीं सोच सकते। हमारी सोच में हमारा व्यवहार, हमारी मान्यताएं और सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश भी प्रभाव डालते हैं।

जैनदर्शन ने हृदय परिवर्तन की दृष्टि को एक नया आयाम दिया है। जैनदर्शन ने मानवीय पवित्रता में विश्वास के आधार को अपने अस्तित्ववादी चिंतन से और अधिक सूक्ष्मता प्रदान की है। जैनदर्शन का मानना है– हृदय परिवर्तन के लिए सर्वप्रथम हमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य को स्वीकार करना होगा। इससे भी आगे बढ़ते हुए जैनदर्शन कहता है– हम केवल व्यक्ति स्वातंत्र्य को ही महत्त्व न दें बल्कि हमें प्राणी स्वातंत्र्य की सोच तक आगे बढ़ना है। स्वतंत्रता को केवल मनुष्यों तक ही सीमित रखा गया तो आज विश्व में जो कुछ भी घटित हो रहा है वह होना ही है क्योंकि व्यक्ति स्वातंत्र्य ने इस सोच को विकसित किया है कि मनुष्य भोक्ता है और अन्य सभी उसके लिए भोग्य हैं।

हमें इस चिंतन को आगे बढ़ाना होगा कि अस्तित्व की दृष्टि से सभी प्राणी समान हैं तथा सभी का स्वतंत्र अस्तित्व है। इसलिए मनुष्य के लिए अन्य सभी प्राणी भोग्य नहीं हो सकते। जिस दिन यह चिंतन मनुष्य के स्वभाव में प्रवेश पा लेगा उसी दिन गरीबी, असंतुलित विकास, लिप्सा, पर्यावरण संकट आदि गंभीर समस्याओं से वह उबर जाएगा। यह चिंतन हृदय परिवर्तन का सशक्त आधार भी बन सकेगा। आवश्यकता है– सापेक्ष चिंतन और सापेक्ष व्यवहार की। अकेला मनुष्य अब और अधिक नहीं भाग सकेगा, परिस्थिति उसके कदमों में बेड़ियां डाल देंगी। समता पर आधारित व्यवस्था व परस्परता ही अब उसे गति प्रदान कर सकती है और यह तब ही संभव है जब हम अस्तित्ववादी चिंतन को आगे बढ़ायें और उसे स्वभावगत करें।

8.1.4 हृदय परिवर्तन के सूत्र

हृदय परिवर्तन का पहला सूत्र है– निषेधात्मक भावों के परिवर्तन का प्रशिक्षण। निषेधात्मक भावों का उद्दीपन हमारे शारीरिक अस्वास्थ्य के कारण भी होता है। अत: हृदय-परिवर्तन का दूसरा सूत्र है– शारीरिक स्वास्थ्य में मिताहार का प्रशिक्षण। निषेधात्मक भावों (संवेगों) के परिवर्तन के लिए निम्ननिर्दिष्ट सिद्धान्त-सूत्रों का प्रशिक्षण आवश्यक है–

	हिंसा के हेतु	**परिणाम**
1.	लोभ	अधिकार की मनोवृत्ति
2.	भय	शस्त्र निर्माण और शस्त्र प्रयोग
3.	वैर-विरोध	प्रतिरोध की मनोवृत्ति
4.	क्रोध	कलहपूर्ण सामुदायिक जीवन
5.	अहंकार	घृणा, जातिभेद के कारण छूआछूत
6.	क्रूरता	शोषण, हत्या
7.	असहिष्णुता	साम्प्रदायिक झगड़ा

ये संवेग (निषेधात्मक भाव) व्यक्ति को हिंसक बनाते हैं। हृदय-परिवर्तन का तात्पर्य है– संवेगों का परिष्कार करना, इनके स्थान पर नए संस्कार-बीजों का वपन करना।

8.1.4.1 सैद्धान्तिक प्रशिक्षण के सूत्र

1. लोभ का अनुदय– शरीर और पदार्थ के प्रति अमूर्च्छा भाव का प्रशिक्षण।
2. भय का अनुदय– अभय का प्रशिक्षण (आत्मौपम्य भाव का प्रशिक्षण)। शस्त्र निर्माण और शस्त्र व्यवसाय न करने की संकल्प-शक्ति का प्रशिक्षण।
3. वैर-विरोध का अनुदय– मैत्री का प्रशिक्षण। प्रतिशोधात्मक मनोवृत्ति से बचने का प्रशिक्षण।
4. क्रोध का अनुदय– क्षमा का प्रशिक्षण।

5. अहंकार का अनुदय— विनम्रता का प्रशिक्षण, अहिंसक प्रतिरोध का प्रशिक्षण, अन्याय के प्रति असहयोग का प्रशिक्षण।

6. क्रूरता का अनुदय— करुणा का प्रशिक्षण।

7. असहिष्णुता का अनुदय— साम्प्रदायिक सद्भाव का प्रशिक्षण, भिन्न-भिन्न विचारों को सहने का प्रशिक्षण।

आधुनिक मनोविज्ञान (शरीर क्रिया मनोविज्ञान) के अनुसार आचार और व्यवहार हमारे भावों (संवेगों) द्वारा नियमित होते हैं। हमारे भावों का नियमन रसायनों द्वारा होता है। ये रसायन अन्त:स्रावी ग्रंथि-तंत्र द्वारा स्रावित होते हैं। उनका संचालन लिम्बिक-संस्थान (भाव-संस्थान) द्वारा होता है। प्रेक्षाध्यान, अनुप्रेक्षा के प्रयोगों द्वारा इन रसायनों को प्रभावित कर संतुलित किया जा सकता है। इससे भावधारा, आचरण और व्यवहार में परिवर्तन घटित होता है।

अहिंसा के विकास के लिए निम्नांकित निर्दिष्ट अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास आवश्यक है—

8.1.4.2 प्रायोगिक प्रशिक्षण के अभ्यास सूत्र

1.	लोभ का अनुदय	अनासक्ति की अनुप्रेक्षा
2.	भय का अनुदय	अभय की अनुप्रेक्षा
3.	वैर-विरोध का अनुदय	मैत्री की अनुप्रेक्षा
4.	क्रोध का अनुदय	शांति की अनुप्रेक्षा
5.	अहंकार का अनुदय	मृदुता की अनुप्रेक्षा
6.	क्रूरता का अनुदय	करुणा की अनुप्रेक्षा
7.	असहिष्णुता का अनुदय	सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा

भावात्मक परिवर्तन के लिए अनुप्रेक्षा के प्रयोग बहुत सफल रहे हैं। इस प्रयोग में मस्तिष्क और पूरे शरीर को शिथिल कर सुझाव दिये जाते हैं, साथ-साथ रंगों का ध्यान भी किया जाता है। ध्वनि और रंग— ये दोनों अवचेतन मन को प्रभावित करते हैं। इनसे पुराने संस्कारों और अर्जित आदतों का क्षय हो जाता है। नए संस्कारों और नई आदतों के निर्माण की भूमि प्रशस्त हो जाती है। ये प्रयोग संकल्प-शक्ति, आत्म-विश्वास और आत्म-निरीक्षण की क्षमता को बढ़ाते हैं।

8.1.4.3 परिवर्तन का साधन अनुप्रेक्षा व भावनाएं

मन की मूर्च्छा तोड़ने वाले विषयों का अनुचिंतन करना अनुप्रेक्षा है। जिस विषय का अनुचिंतन बार-बार किया जाता है या जिस प्रवृत्ति का अभ्यास बार-बार किया जाता है उससे मन प्रभावित होता है, इसलिए उस अनुचिन्तन या अभ्यास को भावना कहते हैं। मनुष्य जिसके लिए भावना करता है, जिस अभ्यास को दोहराता है उसी रूप में उसका संस्कार निर्मित हो जाता है। प्राचीन आगमों में ''भावितात्मा'' शब्द का प्रयोग हुआ है। भावितात्मा होने के पश्चात् व्यक्ति जो होना चाहता है, वह होकर रहता है। यह सारा एकाग्रता का चमत्कार है। हम जो होना चाहते हैं, हो जाते हैं। अर्थात् जिस रूप में मन को बदलना चाहते हैं, बदल लेते हैं। स्वसम्मोहन का प्रयोग, ऑटोसजेशन का प्रयोग— ये सब भावना के द्वारा सम्मोहित होने के ही प्रयोग हैं। पहले शरीर को देखना फिर संकल्प और भावना के प्रयोग द्वारा बदलने की भावना को अवचेतन तक पहुंचा देना- यही है रूपान्तरण की प्रक्रिया, मस्तिष्क को बदलने की प्रक्रिया।

भावना का आज की भाषा में अर्थ है— ब्रेनवाशिंग अर्थात् पुराने विचारों की जगह नये विचारों को जन्म देना। ब्रेनवाशिंग हेतु स्वत:सूचन (Auto Suggestion) की पद्धति बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। सुझाव के द्वारा हमारी चेतना बदलना शुरू कर देती है तथा चेतना में परिवर्तन होने से आदतें बदली जा सकती हैं, संवेग बदले जा सकते हैं। एक ही बात को जब हम बार-बार दोहराते हैं, उस

भावना की बार–बार आवृत्तियां करने से तरंगें पैदा होती हैं, जो पुराने संस्कारों को उखाड़ देती है तथा नये संस्कारों का सृजन हो जाता है।

भावना का अर्थ मात्र सोचना नहीं है। इसका अर्थ है— हमारे ज्ञानतंतुओं को, हमारी कोशिकाओं को अपने वशवर्ती कर लेना, उन पर अपनी भावनाओं को अंकित कर देना। हमारे मस्तिष्क में खरबों न्युरॉन हैं। ये न्यूरॉन ही नियामक हैं। भावना के द्वारा जो संकल्प न्यूरॉन तक पहुंच जाता है वह संकल्प सफल हो जाता है। मन की शक्ति के जागरण में इन ज्ञानतंतुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।

8.1.4.4 मुज़्य भावनाएं या अनुप्रेक्षाएं

मस्तिष्क परिवर्तन के लिए अनासक्ति, अभय, मैत्री, क्षमा, मृदुता और करुणा की भावनाएं महत्त्वपूर्ण हैं। पदार्थों के प्रति आसक्ति व्यक्ति को लालची बनाती है तथा व्यक्ति के प्रति आसक्ति राग–द्वेष का कारण बनती है— ये दोनों ही हिंसा के कारण हैं, इसलिए अनासक्ति की भावना महत्त्वपूर्ण है। भय के संवेग को दूर करने के लिए अभय की भावना, आक्रामक व्यवहार को खत्म करने के लिए मृदुता की भावना एवं क्रूरता के संवेग को मिटाने के लिए करुणा की भावना महत्त्वपूर्ण है।

8.1.4.4.1 अनासक्ति

इन्द्रियों के विषय क्षणिक सुख देने वाले हैं, पर इनके भोग का परिणाम अन्ततः दुःखद होता है। व्यक्ति परिणाम को जानते हुए भी इन्द्रियों के विषयों के प्रति आसक्त रहता है। महाभारत में कहा गया है— व्यक्ति धर्म को जानते हैं, फिर भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करते, अधर्म को भी जानते हैं, लेकिन वह छोड़ा नहीं जाता। क्यों ? क्योंकि व्यक्ति मोहग्रस्त है, आसक्त है।

आवश्यकता पूर्ति हेतु पदार्थों के प्रति आकर्षण सहज है पर पदार्थों के प्रति आसक्ति असहज है। आसक्ति आवश्यकता नहीं है, व्यामोह है। शांति का अनुभव कर चुका व्यक्ति कभी भी आसक्त नहीं होगा। स्थूलिभद्र वेश्या के घर पर रहते हुए भी अनासक्त रहे, पथभ्रष्ट नहीं हुए जबकि विश्वामित्र, पाराशर आदि ऋषि पत्ते खाते हुए जंगल में रहे, लेकिन वे पथच्युत हो आसक्त हो गये।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में दुःख आता है, आपदाएं आती हैं, प्रकोप आते हैं, कोई उन्हें रोक नहीं पाता। लेकिन इनसे होने वाले दुःखद संवेदनों से स्वयं को बचाया जा सकता है। घटनाएं घटेंगी पर व्यक्ति इनके साथ नहीं जुड़ेगा। घटना का ज्ञान व्यक्ति को होगा वह अवचेतन तक नहीं पहुंचेगी। यदि व्यक्ति यह सोचता है— वह दुःख भोगने के लिए नहीं जन्मा हूं, इस चिंतन से उसके पदार्थों से होने वाले संवेदन स्वतः ही समाप्त हो जायेंगे। यही है— अनासक्त योग। अनासक्ति का अर्थ है—पदार्थ के साथ जुड़ी चेतना का छूट जाना।

सामान्यतः हर व्यक्ति प्रिय–अप्रिय संवेदनों में जीता है। जब तक प्रियता–अप्रियता, राग–द्वेष या आसक्ति का आवरण नहीं हटेगा, आत्म–दर्शन संभव नहीं होगा। इसलिए अनासक्ति भाव से देखें, तटस्थता से देखें। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है— मैं उदासीन की भांति आसीन हूं, कर्मों में अनासक्त हूं; इसलिए वे मुझे नहीं बांधते। अतः संवेदना व्यक्ति का मूल स्वभाव नहीं है, ज्ञाता–द्रष्टा भाव का विकास ही उसका लक्ष्य है।

8.1.4.4.2 अभय

भय की भावना को निरस्त करने के लिए अभय की भावना का विकास आवश्यक है। आज प्रायः हर व्यक्ति भयाक्रान्त है, क्योंकि सर्वत्र प्रमाद है, असत्य है, विस्मृतियां हैं। भगवान् महावीर ने कहा है— ''प्रमादी को सब तरफ से भय होता है, अप्रमादी भयमुक्त है।'' प्रमाद इसलिए है क्योंकि केवल बुद्धि का जागरण है, प्रज्ञा सोई हुई है। बुद्धि भय को मिटा नहीं सकती बल्कि भय को और अधिक सूक्ष्मता से पकड़ लेती है। इसलिए प्रज्ञाविहीन व्यक्ति में बुद्धि जितनी प्रखर होगी उतना ही अधिक भय होगा। उदाहरणतः सामान्य व्यक्ति कम भयभीत है पर एक पढ़े–लिखे व्यक्ति एवं वैज्ञानिकों आदि के सामने अनेकों संकट हैं। उनके सामने ऊर्जा का संकट है, आबादी का संकट है, पर्यावरण का संकट है, परमाणु अस्त्रों का संकट है, जबकि सामान्य व्यक्ति इन भयों से परे है। भयभीत व्यक्ति सुरक्षा की कोशिशें करता है। विकसित राष्ट्र भयभीत हैं कि एक दिन उनका विकास ही उन्हें न लील जाये। अविकसित राष्ट्र

इसलिए भयभीत हैं कि उनकी गरीबी उन्हें युद्धों की ओर धकेल रही है। समृद्ध को धनरक्षा का भय है, गरीब पेट की आग से भयभीत है।

भय के कारण अनुकज़्पी नाड़ी तंत्र प्रभावित होता है, जिसका परिणाम है उत्तेजना। जबकि अभय से परानुकज़्पी नाड़ी तंत्र सक्रिय होता है जिसका परिणाम है शांति, सुख का अनुभव। व्यक्ति के जैसे भाव होते हैं उसकी मुद्रा भी उसी तरह की हो जाती है। भय से व्यक्ति की एड्रिनल ग्रंथि सक्रिय होती है और उसके स्त्राव व्यक्ति को आक्रामक बना देते हैं।

अभय बनने के लिए अभय की भावधारा विकसित करनी आवश्यक है। उसका सशक्त साधन है— अभय की अनुप्रेक्षा। अभय की अनुप्रेक्षा द्वारा अभय की तरंगें उत्पन्न होती हैं जो भय की तरंगों को निरस्त करती है।

अभय के लिए सर्वप्रथम शरीर के भय से मुक्ति आवश्यक है। शरीर के प्रति ममत्व भय का प्रमुख कारण है। शरीर के प्रति ममत्व का विसर्जन अभय का द्वार है। जितनी सहिष्णुता सधती है, उतना ही अभय का विकास होता चला जाता है।

कायर व्यक्ति कभी भी अहिंसक नहीं बन सकता। कायरता व्यक्ति की मानसिक कमजोरी है जो हिंसा को बढ़ावा देती है। निर्भयता अहिंसा का प्राण है। अभय व्यक्ति ही अहिंसा का पालन कर सकता है।

8.1.4.4.3 मृदुता

मान के संवेग को नष्ट करने के लिए मृदुता का अज़्यास जरूरी है। मृदुता (कोमलता) सामूहिक जीवन की सफलता का सूत्र है तथा यह जीवन की सरसता का सूचक भी है। मृदु स्वभाव में लोच होती है जिससे इस स्वभाव का व्यक्ति किसी भी वातावरण को अपने अनुकूल बना लेता है। वह न केवल अपने जीवन को बल्कि आसपास के वातावरण को भी सरस बना देता है। जो कार्य कठोर अनुशासन से नहीं होते, मृदुता से सहज ही हो जाते हैं।

मनुष्य की तीन बड़ी दुर्बलताएं हैं— क्रूरता, विषमता एवं स्वयं को हानि पहुंचाने की वृत्ति। इनमें क्रूरता का पहला स्थान है। क्रूरता के कारण ही शोषण, मिलावट, पशुवध, वनों की कटाई, दहेज हत्याएं, आदि अनेक आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक अपराध होते हैं। वर्तमान की अधिकांश समस्याएं व विरोधाभास क्रूरता के कारण हैं। व्यवहार परिवर्तन या परिष्कार का अर्थ है— व्यवहार में क्रूरता की जगह कोमलता या मृदुता का विकास। यही प्रशस्त जीवन है।

8.1.4.4.4 मैत्री

विश्वबंधुत्व का पहला सूत्र है— मैत्री। ईसा ने कहा— शत्रु के साथ भी मैत्री करो। महावीर ने कहा— किसी को शत्रु मानो ही मत। यद्यपि व्यक्ति-व्यक्ति में भेद है। उनमें रूचि, चिन्तन, व्यवहार, व्यवस्था, रहन-सहन, खान-पान आदि में भेद है, लेकिन इन भेदों के कारण शत्रुता पनपे, यह अवांछनीय है। भगवान् महावीर ने कहा— दूसरों के साथ बुरा व्यवहार करने से स्वयं तुज़्हारा ही अनिष्ट होता है। मैत्री की भावना से कभी कोई किसी का अनिष्ट नहीं करता। मैत्री भाव का साधक स्वयं को कष्ट में डाल देगा पर दूसरों को कष्ट नहीं दे सकता।

आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं— ''मानवीय संबंधों की पहली कठिनाई शत्रुता है। शत्रुता का कारण दोषारोपण है। हम दूसरों से द्वेष ही नहीं रखते अपितु स्वयं के कर्त्तव्य को भुलाकर दूसरों में दोष देखते हैं।'' व्यक्ति दूसरों के भय के कारण उनसे शत्रुता रखता है जबकि अभय से मैत्री फलित होती है। ''मेरा सबके साथ मैत्री भाव है, कोई मेरा शत्रु नहीं है''— जैसे-जैसे यह भाव विकसित होता है सर्वत्र प्रसन्नता व्याप्त हो जाती है। मैत्री का सज़्पूर्ण अर्थ केवल प्रेम ही नहीं है, अपितु सबके अस्तित्व को स्वीकार करना है। जो है, जैसा है; उसे वैसे ही स्वीकार करना सत्यान्वेषी बनना है। मैत्री का विराट् रूप जब सामने आता है तो द्वेष रहता ही नहीं है। सभी प्राणियों को अपने समान समझने का भाव जागृत हो जाता है।

मानवीय संबंधों की दूसरी कठिनाई कठोरता है। हमें छोटों के साथ कठोर व्यवहार करना चाहिए—इस धारणा ने सामाजिक संपर्क व संबंधों में दरार पैदा कर दी है। हम यह भूल गए हैं— मैत्री भाव के द्वारा आदमी को जितना प्रेरित किया जा सकता है, उतना

कठोरता से नहीं किया जा सकता। सद्भावना से तो पेड़-पौधे भी जल्दी विकसित होते हैं। इसलिए जीवन को सफल बनाने के लिए उसमें सौरभ व सरसता भरनी चाहिए।

8.1.4.4.5 करुणा

दूसरों के दु:खों को दूर करने की इच्छा करुणा है। मानव स्वभाव की ऐसी इच्छाओं को हटाना आवश्यक है जो दूसरों के लिए तथा अपनी खुशी के लिए हानिकारक हो। करुणा इस चिन्तन का परिणाम है कि प्राणी कैसे दुखी हैं। दु:खी, पीड़ित और त्रस्त व्यक्ति को देखकर जो करुणा का भाव जाग्रत होता है, वह यह सूचना देता है कि व्यक्ति का चित्त कोमलता, मृदुता और प्रेम से शून्य नहीं है।

करुणा का संबंध संवेदनशीलता से है। आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं— व्यक्ति में जितनी संवेदनशीलता है उतना ही करुणा का विकास होगा। व्यक्ति में जितनी असंवेदनशीलता होगी, उतना ही वह क्रूर होगा। क्रूरता का कारण है— लोभ, संग्रहवृत्ति, अमानवीय दृष्टिकोण आदि। क्रूरता का निदान है— मानवीय दृष्टिकोण का विकास, आत्मौपज्य दृष्टि तथा प्रत्येक प्राणी को अपने समान समझने का दृष्टिकोण।

आजकल क्रूर व्यवहार को बड़प्पन समझा जाने लगा है। सत्ता और शक्ति के मद में व्यक्ति छोटों के साथ क्रूर व्यवहार कर बड़प्पन समझता है। इसी कारण रिश्वत व भ्रष्टाचार जैसी क्रूरताएं पनपती हैं। जब सत्ता और शक्ति का दुरूपयोग बन्द हो जाए, तब यह समझना चाहिए कि मानवीय दृष्टिकोण का विकास हुआ है और मानवीय दृष्टिकोण के निर्माण से ही छोटों के प्रति क्रूरता खत्म हो सकेगी। जब करुणा की ज्योति जलती है तब अन्याय मिट जाते हैं। इसलिए सामाजिक और आर्थिक स्वास्थ्य का मूल सूत्र है— करुणा।

करुणा का यह सिद्धान्त शासकों के प्रति भी इसी तरह लागू होता है। यदि शासक दयालु और कृपालु नहीं है तो यह नैतिकता के प्रति हिंसा है। यह एक सामाजिक सच्चाई है कि जो सौभाग्यशाली हैं, समृद्ध हैं, शिक्षित हैं, वे असहायों के प्रति करुणा रखें। कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त भी इसी परोपकारिता के दर्शन पर अवलंबित है। बुद्ध का जब निर्वाण हुआ तो वे निर्वाण के द्वार पर रूक गये और कहा-''जब तक सब प्राणियों का दु:ख दूर नहीं होगा, तब तक मैं कैसे भीतर जाऊं''— यह है जागतिक करुणा का प्रयोग। जिसका सज़्पूर्ण जगत् मित्र है, उसकी करुणा भी जागतिक हो जाती है। बुद्ध के अनुसार विद्या और आचरण के मेल से ही बोधि प्राप्त होती है। मस्तिष्कीय गुणों का विकास विद्या है, यह व्यक्ति का बौद्धिक पक्ष है। करुणा आचरण है, जो व्यक्ति का भावात्मक पक्ष है, जिसका संबंध व्यक्ति के हृदय से है। जिस व्यक्ति के हृदय में अत्यधिक क्रूरता है, करुणा भावना का प्रयोग उसकी अभिवृत्ति को बदल सकता है।

8.1.4.4.6 विधायक चिंतन

विधायक चिंतन के बिना व्यक्ति सच्चाई तक नहीं पहुंच सकता। निषेधात्मक दृष्टिकोण का व्यक्ति हर सच्चाई को नकारता जाता है, जिसका परिणाम होता है— निराशा, अनुत्साह, आवेग, कार्य से निवृत्ति व हिंसा। विधायक चिंतन वाला व्यक्ति सच्चाई के पास पहुंच जाता है जिसका परिणाम होता है— जीवन में सफलता व शांति।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार— व्यक्ति के चिंतन के दो पक्ष होते हैं—

- समग्रता की दृष्टि और
- व्यग्रता की दृष्टि।

व्यग्रता का दृष्टिकोण एकाकी आग्रह है। व्यक्ति अपने ही आग्रह पर अड़ा रहता है। उसे अपने सिवाय हर व्यक्ति के विचार मिथ्या लगते हैं। इसलिए समग्रता के दृष्टिकोण के बिना उस व्यक्ति का हर निर्णय अपूर्ण होगा, आग्रही होगा। आग्रह विवादों को जन्म देता है। समग्र दृष्टिकोण में विवाद की संभावना नहीं होगी क्योंकि उसके पास अनेकांतिक दृष्टि है, जिससे वह दूसरों के विचारों की सच्चाई को भी समझ सकता है।

विधायक चिंतन का दूसरा कोण है– अनावेश। आवेश की स्थिति निषेधात्मक चिंतन की स्थिति है, जिससे व्यक्ति को कई सामाजिक, आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जबकि अनावेश की स्थिति स्वस्थ और तथ्यों पर आधारित होती है। जब तक व्यक्ति में संबंध और विसंबंध की चेतना जागृत नहीं होगी तब तक अनावेश की स्थिति घटित नहीं होगी।

विधायक चिंतन का तीसरा कोण है– असंशय। संशयशील चिंतन संभावनाओं को नकारता है, जिससे उसका दृष्टिकोण आग्रही व रूढ़िवादी बन जाता है, वह सच्चाई को नहीं जान पाता। असंशय की स्थिति का अर्थ है– संभावनाओं का स्वीकार। अपने पुरुषार्थ, अपनी क्षमताओं व अपने कृतित्व पर विश्वास। इससे व्यक्ति सच्चाई के रास्ते सदैव खुले रखता है और कहीं भी संघर्ष की संभावना नहीं रहती।

विधायक चिंतन का चौथा कोण है– विरोधाभासों में संगति ढूंढना। एकाकी दृष्टिकोण का व्यक्ति हर विचार में विरोध ही देखता है, जिससे कलह या हिंसा की संभावना सदैव रहती है। जबकि विरोधाभासों में संगति का पता लगाना विधायक चिंतन का परिणाम है। परस्पर विरोधी विचार व्यवहार में सर्वथा विरोधी नहीं होता, इस कारण उनमें समन्वय के सूत्रों को खोजा जा सकता है।

विधायक चिंतन आस-पास के परिवेश को अपने अनुकूल बना लेता है। वह हर विपरीत परिस्थिति या प्रतिकूल परिस्थिति में कोई न कोई ऐसे सूत्र ढूंढ़ लेता है, जिससे विरोधी परिस्थिति या प्रतिकूल परिस्थिति में भी शांति से जीने का आधार मिल जाता है।

प्रियता-अप्रियता के विचार विकृत विचार हैं, जो हीनता व अहंकार के कारण होते हैं, और जिससे व्यक्ति सत्य को नहीं पकड़ पाता। विधायक चिंतन समतापूर्ण विचारों पर आधारित रहता है, जिससे वह सत्य को समग्रता से जान सकता है। समतापूर्ण व्यवहार वाला व्यक्ति अभय के वातावरण में चिंतन करता है, जिससे उसका चिंतन स्वस्थ रहता है। जबकि प्रियता-अप्रियता से ग्रसित व्यक्ति भय के वातावरण में रहता है और उसका चिंतन भी कुंठित हो जाता है, जो कई समस्याएं पैदा करता है।

अत: विधायक चिंतन विकास व शांति का मार्ग है। हृदय परिवर्तन के सूत्रों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अभय, मैत्री, करुणा, क्षमा, मृदुता आदि सभी विधायक भाव हैं जो व्यक्ति के निषेधात्मक भावों को बदलकर उसे अहिंसक बनाने में सक्षम होते हैं।

8.2 दृष्टिकोण परिवर्तन

हृदय परिवर्तन मोहग्रस्तों का करना होता है और विचार परिवर्तन सज्जनों का। दोनों मिलकर अहिंसक क्रांति की भूमिका तैयार करते हैं। एक तरफ से हम नये विचार देते हैं, दूसरी तरफ से हमारे तप से हृदय परिवर्तन होता है। विचार विश्व का संयमन और नियमन करता है, इसलिए आज विश्व खूनी क्रांति का पथ त्याग कर विचार क्रांति का पथ प्रशस्त कर रहा है। विचार की शक्ति अजेय है। जिसके पक्ष में सबल विचार, शक्तिमान आदर्श और सिद्धान्त रहते हैं, विजय उसी की होती है।

सामान्य रूप से जिसे हम विचार या अभिवृत्ति कहते हैं, वह वास्तव में वातावरण के प्रति व्यक्ति की मानसिक प्रतिक्रिया है, जो संसूचन, स्थापित सामाजिक मान्यताओं या किसी आकस्मिक आघात से उत्पन्न होती है। चूंकि हम में पशुता और विवेक दोनों हैं इसलिए हमारे विचार एवं अभिवृत्ति में भी विवेक और अविवेक का समन्वय है। हमारे विचारों और मूल्यों में निरन्तर परिवर्तन होते रहते है; इसी को विनोबा विचार परिवर्तन कहते हैं, जो हृदय परिवर्तन से अलग प्रक्रिया है। अहिंसक क्रांति के लिए हमें हृदय को ही नहीं संस्पर्श करना है अपितु बुद्धि को भी आश्वस्त करना है। हृदय परिवर्तन और विचार परिवर्तन दोनों एक-दूसरे की पूरक प्रक्रियाएं हैं। अध्यात्मवादी चिन्तकों ने हृदय परिवर्तन पर बल दिया और आधुनिकता के दौर में मनुष्य ने हृदय की उपेक्षा कर दी और विचार परिवर्तन का आग्रह रखा। गांधी और विनोबा ने दोनों की सीमाओं और उनके महत्व को समझकर उनके बीच समन्वय स्थापित किया।

आचार्य महाप्रज्ञ भी हृदय परिवर्तन के साथ दृष्टिकोण परिवर्तन को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार जब तक एक व्यक्ति का दृष्टिकोण सज़्यक् एवं समेकित नहीं हो जाता तब तक अहिंसक क्रांति घटित नहीं हो सकती है। वे विचार परिवर्तन को दृष्टिकोण परिवर्तन के अन्तर्गत समाहित करते हैं। विचार परिवर्तन मूलत: विचार व सिद्धान्तों का परिवर्तन है जबकि दृष्टिकोण में एक व्यक्ति की अभिवृतियों का समावेश भी हो जाता है और भावों का भी। इस दृष्टि से अहिंसा प्रशिक्षण का द्वितीय आयाम दृष्टिकोण परिवर्तन है।

गलत दृष्टिकोण के कारण मिथ्या धारणाएं और निरपेक्ष चिन्तन से एकांगी आग्रह पनपते हैं। मिथ्या धारणाएं, निरपेक्ष चिन्तन और एकांगी आग्रह— ये हिंसा के मुज़्य कारणों में हैं।

मनुष्य की अनेक मिथ्या धारणाएं बन गई हैं। यह मान लिया गया है कि मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। किन्तु यह जिस दृष्टि से कहा गया उसे उसी दृष्टि से ग्रहण नहीं किया गया। विकास की दृष्टि से यह कहा जा सकता है— मनुष्य सृष्टि का स्वामी है, जितने पदार्थ हैं, सब मनुष्य के लिए हैं, क्योंकि वह सर्वश्रेष्ठ है। मनुष्य भोक्ता है, शेष सब भोग्य हैं। नियंता, कर्ता और भोक्ता— तीनों ही मनुष्य बन गया। उसका पदार्थ एवं प्राणी-जगत् के प्रति दृष्टिकोण गलत हो गया। जितने प्राणी हैं, उन सब पर मनुष्य का अधिकार है, वह उनका दोहन कर सकता है, उनका आरोपण तथा आहारण कर सकता है, प्रसाधन के लिए जीवित प्राणियों के अवयवों एक चमड़े का उपयोग कर सकता है— इन सारी क्रूरता का मूल-स्रोत यही अवधारणा है कि मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। इस धारणा ने मनुष्य को क्रूर एवं हत्यारा बनाया है।

बहुत से लोग निरपेक्ष चिन्तन करते हैं, जबकि सापेक्ष चिन्तन सामाजिक संबंधों की भूमिका में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। निरपेक्ष चिन्तन का स्वरूप है— मैंने पीया, मेरे बैल ने पीया, अब चाहे कुआ ढ़ह जाए। सापेक्ष चिन्तन का स्वरूप है— मैंने रोटी खाई है, मेरा पड़ौसी भूखा है तो इसका परिणाम मेरे लिए अच्छा नहीं होगा। वह चोर, डाकू या लुटेरा अवश्य बनेगा और मुझ पर आक्रमण करेगा। यह सापेक्ष चिन्तन होता है तो फिर स्वार्थ की सीमा निश्चित हो जाती है। यह नहीं हो सकता कि समाज के बीस प्रतिशत व्यक्ति ऐश्वर्य भोगें और अस्सी प्रतिशत व्यक्ति भूखे मरते रहें। इस स्थिति में प्रतिक्रियात्मक हिंसा अनिवार्य हो जाएगी।

मानवीय संबंधों में जो कटुता दिखाई दे रही है उसका हेतु निरपेक्ष दृष्टिकोण है। संकीर्ण राष्ट्रवाद और युद्ध भी निरपेक्ष दृष्टिकोण के परिणाम हैं। सापेक्षता के आधार पर संबंध-विज्ञान को व्यापक आयाम दिया जा सकता है। मनुष्य, पदार्थ, वृत्ति, विचार और शरीर के साथ सज़्बन्ध का विवेक करना अहिंसा के विकास के लिए बहुत आवश्यक है। मनुष्यों के प्रति क्रूरतापूर्ण, पदार्थ के प्रति आसक्तिपूर्ण, विचारों के साथ आग्रहपूर्ण, वृत्तियों के साथ असंयत, शरीर के साथ मूच्र्छापूर्ण सज़्बन्ध हैं तो हिंसा अवश्यंभावी है। सत्य की खोज का मार्ग है— अनाग्रह। अनाग्रही मनुष्य दो भिन्न विचारों में समन्वय स्थापित कर सकता है।

हिंसा को केवल शस्त्रीकरण और युद्ध तक सीमित नहीं किया जा सकता। पारिवारिक कलह, मानवीय संबंधों में कटुता, जातीय संघर्ष, साज़्प्रदायिक संघर्ष, क्षेत्रीय संघर्ष, सहानवस्थान-या तुम या हम की मनोवृत्ति— ये सब हिंसा के प्रारिज़्भक रूप हैं और ये ही मानव जाति को शस्त्रीकरण और युद्ध की दिशा में ले जाते हैं। नि:शस्त्रीकरण और युद्धवर्जन के सिद्धान्त बहुत अच्छे हैं किन्तु पहले हिंसा के प्रारज़्भिक बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है। मिथ्या अवधारणाएं, निरपेक्ष चिन्तन और एकांगी आग्रह समाज को क्रूरता की सीमा तक ले जाते हैं। हिंसा के द्वार खुल जाते हैं। इन्हें कम करने के लिए अनेकान्त का प्रशिक्षण आवश्यक है।

8.2.1 अनेकान्त— व्यापक दृष्टिकोण का आधार

पूर्ण सत्य जाना जा सकता है, पर कहा नहीं जा सकता क्योंकि शब्दों की इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह एक साथ एक समय में पूर्ण सत्य को कह सके। इसलिए अपूर्ण साधन से पूर्णता को जानने के सभी प्रयास आंशिक सत्य से आगे नहीं बढ़ पाते और जब आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लिया जाता है तब वैचारिक संघर्ष जन्म ले लेते हैं।

वस्तुत: हमारी ऐन्द्रिक क्षमता, तर्क-बुद्धि, विचार-क्षमता, वाणी और भाषा इतनी अपूर्ण है कि वे सज़्पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति में सक्षम नहीं हैं। वह केवल सत्य के एक अंश को ही कह सकती है। इतना ही नहीं वस्तु सत्य में परस्पर विरोधी गुण भी एक साथ रहते हैं। ऐसी स्थिति में दो भिन्न दृष्टियों में परस्पर विरोधी तथ्य भी एक साथ सत्य हो सकते हैं। जो वस्तु एक है वह अनेक भी है। जो वस्तु सत् है वह असत् भी है। वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी।

अनेकान्त का एक सूत्र है— सहप्रतिपक्ष। प्रत्येक पदार्थ विरोधी युगलों का संकुल है। इसलिए अनेकान्त का मूल आधार है— विरोधी के अस्तित्व की स्वीकृति, प्रतिपक्ष की स्वीकृति। अनेकान्त एकान्तिक या आग्रह-बुद्धि का निरसन कर अनाग्रही या अनेकांतिक-दृष्टि को प्रकट करता है। एकान्त मिथ्यादृष्टि के कारण सत्य के एक अंश को हम पूर्ण सत्य मान लेते हैं, जिससे एक मत का दूसरे मत के साथ विरोध हो जाता है। अनेकान्त इन विरोधों का परिहार करके उनका समन्वय करता है।

आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं– ''वर्तमान युग सापेक्षवाद, समन्वय, सह-अस्तित्व आदि से परिचित है। पर इनके पीछे जो सिद्धान्त है उसकी जानकारी सामान्यतया लोगों को नहीं है। इन विचारों के पीछे जो सिद्धान्त है वह है– अनेकान्त।'' एक मनुष्य क्या सोच रहा है, क्यों, कहां और किस अवस्था में सोच रहा है-इसका निर्णय किये बिना दूसरे के चिन्तन और प्रतिपादन के साथ न्याय नहीं किया जा सकता।

वस्तु विराट् व अनन्तधर्मात्मक है। शब्दों की अपनी सीमा है। एक शब्द एक समय में एक ही सत्य को बता सकता है। इसलिए इस व्यक्त सत्य के अलावा अव्यक्त सत्य जिसे कहा नहीं गया है, उसका भी अस्तित्व है। स्यात् शब्द यह बतलाता है कि सत्यांश अभिव्यक्ति को पूर्ण मत समझो। इस सापेक्ष दृष्टि के आधार पर ही हमारे ज्ञान में विरोध की छाया मिट सकती है।

अहिंसा का विकास अनेकान्तवादी दृष्टि के आधार पर होता है। विचारों की विषमता हिंसा का कारण है। अनेकांत के अनुसार– सभी विचार परस्पर सापेक्ष हैं, इसलिए उनमें समन्वय संभव है।

8.2.2 सापेक्षता

प्रत्येक वस्तु अनेक विरोधी धर्मों का युगल है। हम अखण्ड वस्तु को जान तो सकते हैं पर उससे हमारा व्यवहार नहीं चल सकता। हम जब वस्तु स्वरूप के बारे में कहते हैं तो वस्तु स्वरूप के प्रत्येक उपयोग के पीछे हमारी अपेक्षा जुड़ी होती है। अपेक्षा न जुड़ी हो तो प्रत्येक व्यवहार परस्पर विरोधी हो जाएगा। अपेक्षा दृष्टि से वस्तु एक या अनेक नहीं अपितु एक और अनेक का समन्वय है। वस्तु केवल नित्य या अनित्य नहीं है वरन् नित्यता और अनित्यता का समन्वय है। वस्तु केवल भिन्न या अभिन्न नहीं अपितु भिन्न और अभिन्न का समन्वय है। इस यथार्थ को समझ लिया जाए तो परस्पर के विरोध आसानी से सुलझाये जा सकते हैं।

8.2.2.1 अहिंसा के विकास में सापेक्षता का योगदान

हिंसा की जड़ विचारों का विरोध है। वस्तु के जितने पहलू हैं उतने ही सत्य हैं, उतने ही उन सत्यों को कहने के तरीके हैं और जितने कहने के तरीके हैं, उतने ही मतवाद हैं। मतवादों का एकान्तिक दृष्टिकोण विवादों को जन्म देता है और विवाद हिंसा को। जबकि मतवादों में सापेक्ष दृष्टिकोण समन्वय को जन्म देता है और समन्वय अहिंसा को।

एक वक्ता जो शब्द कहता है, वह शब्द उसने कब, कहां और किन परिस्थितियों में कहा है, उसका क्या उद्देश्य है, किस साध्य की प्राप्ति के लिए वह ऐसा कह रहा है, आदि-आदि बिन्दुओं पर जब तक ध्यान नहीं दिया जाता किसी भी व्यक्ति के विचारों के प्रति न्याय नहीं हो सकता। इसलिए सापेक्षवाद कहता है–प्रत्येक धर्म को अपेक्षा के साथ ग्रहण करो क्योंकि सत्य सापेक्ष है, स्वयं के साथ दूसरों को भी समझने की कोशिश करो– यही बौद्धिक अहिंसा है।

8.2.2.2 निरपेक्ष दृष्टिकोण– हिंसा का कारण

एकान्तिक आग्रह या निरपेक्ष दृष्टिकोण हिंसा का मूल है। आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं– ''यदि हम यह कहें कि व्यक्ति समुदाय से सर्वथा भिन्न है तो यह वस्तुस्थिति का तिरस्कार होगा तथा पार्थक्यवादी नीति होगी। यदि हम यह कहें कि समुदाय ही सत्य है तो यह व्यक्ति का तिरस्कार होगा और एकांतिक सामुदायिक नीति होगी। यदि हम कहें कि व्यक्ति ही सत्य है तो सामुदायिकता का तिरस्कार होगा और एकांतिक व्यक्तिवादी नीति होगी। यदि हम कहें कि वर्तमान ही सत्य है तो एकता का तिरस्कार होगा और एकांतिक परिवर्तनवादी नीति होगी। यदि हम लिंगभेद और उत्पत्ति भेद को ही सत्य मानें तो यह एकता का तिरस्कार होगा।'' इस प्रकार निरपेक्ष या एकांतिक दृष्टिकोण सदैव किसी न किसी का तिरस्कार करेगा जो अन्ततः हिंसा को जन्म देगा।

8.2.2.3 सापेक्षता के सूत्र

- कोई भी वस्तु या व्यवस्था सापेक्षता की मर्यादा से बाहर नहीं है। प्रत्येक वस्तु व व्यवस्था सापेक्ष होती है, पूर्ण नहीं।
- दो विरोधी गुण एक वस्तु में एक साथ रह सकते हैं।
- सभी दृष्टिकोण परस्पर विरोधी नहीं हैं। सभी दृष्टिकोण सापेक्ष हैं, एक दूसरे के पूरक हैं।

- एकान्त विरोध या एकान्त अविरोध से पदार्थ व्यवस्था संभव नहीं है। विरोध और अविरोध के समन्वय से ही व्यवस्था संभव हो सकती है।
- जितने एकान्त या निरपेक्षवाद हैं, उनमें दोष भरे पड़े हैं तथा वे परस्पर विनाश करने वाले हैं। अनाक्रमण, अहस्तक्षेप, स्वमर्यादा, सापेक्षता– ये सामंजस्य के सिद्धान्त हैं, जो निरपेक्ष या आग्रही दृष्टि में सापेक्षता और अनाग्रह (समन्वय) को खोजते हैं।
- जितने वचन हैं, उतने ही सत्य हैं। प्रत्येक दृष्टि विशाल ज्ञान सागर का अंश है अर्थात् प्रत्येक दृष्टि अपनी–अपनी सीमा में सत्य है।

8.2.2.4 सापेक्षता के प्रयोग

1. अध्यात्म जगत् में– अध्यात्म जगत् में कोई भी व्यक्ति किसी भी जीव के प्रति निरपेक्ष नहीं हो सकता। निरपेक्ष होने का अर्थ है– जीवों के प्रति क्रूर होना। सापेक्षदृष्टि के अनुसार सभी प्राणियों की अपेक्षा करो अर्थात् उनके महत्त्व को समझो। उनकी हिंसा मत करो, उनकी हिंसा मत करवाओ और दूसरा यदि उनकी हिंसा करता है तो, उसका अनुमोदन भी मत करो।

2. सामाजिक क्षेत्र में– समाज में हमें वैषज़्य देखने को मिलता है क्योंकि समत्व का विकास नहीं है। समत्व दृष्टि के अनुसार–जिस तरह तुझ़ें दु:ख अप्रिय है उसी तरह सभी प्राणियों को दु:ख अप्रिय है। बाहरी आवरणों का भेद होने पर भी सब जीवों का भीतरी जगत् एक जैसा है। सभी जीवों में आत्मा है, स्वतंत्र आत्मा है। सभी जीवों में सामर्थ्य की दृष्टि से ज्ञान समान है, उसका विकास भिन्न–भिन्न है। सामर्थ्य की दृष्टि से शक्ति सभी जीवों में समान है पर उसका विकास भिन्न–भिन्न है। इसलिए किसी भी जीव को उच्च या निज़्न कहने का अधिकार हमें नहीं है।

व्यक्ति और समाज में कभी व्यक्ति को महत्त्व दिया जाता है तो कभी समाज को। यदि अपेक्षा को समझ लिया जाए तो यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि कब व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाए और कब समाज को। व्यक्ति या समाज के प्रति एकान्तिक आग्रह ही रहेगा तो वह खिंचाव पैदा करेगा। समाज का महत्त्वपूर्ण सूत्र– **''परस्परोपग्रहो जीवानाम्''** अनेकांत द्वारा ही फलित होता है। समाज का हर व्यक्ति एक दूसरे को उपकृत करे। ऐसा सापेक्ष दृष्टिकोण न शोषण को जन्म देगा, न अपराध को और न हिंसा को। निरपेक्ष दृष्टि के अनुसार– कोई व्यक्ति मरे या जीए, भूखा रहे या न रहे इससे दूसरे व्यक्ति का कोई संबंध नहीं है। पर **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'** के सिद्धान्त पर चलने वाला व्यक्ति पड़ौसी की परेशानी से भी परेशान होगा।

3. आर्थिक क्षेत्र में– प्रत्येक व्यक्ति में उपार्जन क्षमता है। यह क्षमता हर व्यक्ति की समान नहीं है। इस असमान क्षमता के आधार पर कोई धनी है, कोई गरीब है और उनमें वर्ग भेद है। वर्गभेद समाप्ति के लिए समाजवाद का उदय हुआ पर उसमें दायित्व का बोध नहीं। पूंजीवाद में वैयक्तिकता का विकास है पर उसमें स्वार्थ व शोषण वृत्ति पनपती है। इन समस्याओं का समाधान है– स्वामित्व की सापेक्षता। भोग के लिए इच्छा परिमाण करें अर्थात् स्वामित्व का सीमांकन करें। सापेक्ष स्वामित्व दोहरी समस्या का समाधान है। इसमें शोषण वृत्ति बंद रहेगी क्योंकि उचित सीमा के बाद संपत्ति पर उसका अधिकार नहीं होगा एवं उपार्जन की स्वतंत्रता के कारण व्यक्तिगत प्रेरणा भी रहेगी।

4. साञ्प्रदायिक सद्भाव– सञ्प्रदायों की विविधता के कारण धर्म असामंजस्य की रंगभूमि रहे हैं। सापेक्षवाद के अनुसार सभी धर्मों में सत्यांश है। समाज व्यवहार या लोक व्यवहार की दृष्टि से वैदिक धर्म ठीक है। अहिंसा या मोक्षमार्ग की दृष्टि से जैन धर्म ठीक है। श्रुतिमाधुर्य व करुणा की दृष्टि से बौद्ध धर्म ठीक है। उपासना पद्धति या योग की दृष्टि से शैव धर्म ठीक है। निरपेक्ष पूर्णता हमारी कल्पना है। पूर्णता सदैव मर्यादित होती है।

सर्व–धर्म सद्भाव की दृष्टि से सापेक्षवाद के अन्तर्गत आचार्य महाप्रज्ञ पांच सूत्र प्रतिपादित करते हैं–

- अपने मत का प्रतिपादन करें, दूसरों पर आक्षेप न करें।
- दूसरे के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखें।

- दूसरे समुदाय या अनुयायियों के प्रति घृणा या तिरस्कार का भाव न हो।
- सज्प्रदाय परिवर्तन करने वालों के साथ अवांछनीय व्यवहार न हो।
- धर्म के मौलिक तत्त्वों अहिंसा आदि को विश्वव्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न हो।

5. अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में— परिवार, जाति, समाज, राष्ट्र, विश्व— ये सभी क्रमिक संगठन हैं। संगठन का अर्थ है— सापेक्षता। बिना सापेक्ष दृष्टिकोण के कोई भी संगठन अधिक दिनों तक नहीं चल सकता। निरपेक्ष दृष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सदैव विषमता पैदा करते आये हैं। अधिकतम व्यक्तियों के लिए अधिकतम सुख के निरपेक्ष दृष्टिकोण ने ही हिटलर को यहूदियों पर अत्याचार का अवसर दिया। बहुसंज़्यकों के लिए अल्पसंज़्यकों तथा बड़ों के लिए छोटों का बलिदान भी निरपेक्ष दृष्टि का ही फल है। सापेक्ष नीति कहती है— किसी के लिए किसी का अनिष्ट नहीं किया जा सकता। बहुसंज़्यकों के लिए अल्पसंज़्यकों की बलि नहीं दी जा सकती। इसी तरह रंग भेद, विचार भेद, व्यवस्था भेद आदि को भी एकांतिक या निरपेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता।

आज विश्व सह-अस्तित्व और सापेक्षता के विचार की तरफ बढ़ रहा है। परमाणविक युग में यही उसका त्राण है। विकसित राष्ट्र विकासशील राष्ट्रों से निरपेक्ष रहकर अपना अस्तित्व दीर्घकाल तक नहीं बनाए रख सकते, उनकी स्वयं की समृद्धि ही उन्हें लील जाएगी। इसलिए विकसित राष्ट्रों ने अविकसित एवं विकासशील राष्ट्रों की अस्मिता को स्वीकार कर उनके विकास में सहयोग के लिए भी तत्पर हुए हैं।

8.2.3 सह-अस्तित्व

यह जगत् द्वन्द्वात्मक है। द्वन्द्वात्मक जीवन एक सच्चाई है जो यह बताती है कि विरोधी धर्मों को एक साथ रहना ही चाहिए। विरोधी युगलों का सह-अस्तित्व संभव है क्योंकि उनमें सर्वथा विरोध नहीं है, समन्वय के अनेक तत्त्व विद्यमान हैं। जैन दर्शन के अनुसार अनन्त आत्माएं हैं और सभी आत्माएं एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं। जैसे अनेक आत्माएं हैं वैसे ही उनकी योनियां अर्थात् उत्पत्ति स्थान भी अनेक हैं। कोई आत्मा पशु है, कोई मनुष्य। मनुष्य जाति में भी विभाजन है। कोई गोरा है, कोई काला है। कोई उष्ण कटिबन्धीय है, कोई शीत कटिबन्धीय आदि-आदि। महावीर के युग में वर्ण व्यवस्था का प्रचलन था। उस व्यवस्था में मनुष्य जाति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र— इन चार वर्णों में विभाजित थी। यह विभाजन मनुष्य के संस्कार, भौगोलिक वातावरण व समाज व्यवस्था के आधार पर था। मनुष्य के अहंकार के कारण उच्चता व निज़्नता की दीवारें खड़ी हों गई और जन्मना जाति स्थापित हो गई। उच्च कहलाने वाले लोग हीन कहलाने वाले लोगों के साथ दुर्व्यवहार करने लगे। महावीर ने सोचा— जब वस्तु जगत् में सह-अस्तित्व और समन्वय है तो यह मनुष्यों में क्यों नहीं हो? इस आधार पर मैत्री का संदेश दिया गया— सब जीवों के साथ मैत्री करो। स्वभाव, रूचि और चिन्तन-धारा भिन्न होने के कारण मैत्री टूट जाती है। मैत्री को साधने का सूत्र दिया गया— सहिष्णुता का प्रयोग करो।

8.2.3.1 सह-अस्तित्व का आधार

महावीर ने कहा— भेद में छिपे अभेद को देखो। भेद यदि उपयोगिता है तो अभेद वास्तविकता। तुम जिससे जितने भिन्न हो, उतने ही अभिन्न भी हो और जिससे अभिन्न हो, उससे उतने ही भिन्न भी हैं। जब सभी प्राणियों से भिन्न और अभिन्न हो, तब भेद मानकर किसी को शत्रु क्यों मानते हो? जिसे तुम नीच मानते हो, वह भी तुज़्हारे मन का अहंकार है और जिसे तुम उच्च मानते हो, वह भी तुज़्हारे मन का अहंकार है। इसलिए विभाजन के साथ उच्चता और नीचता की रेखाएं निर्मित न करो। मनुष्य को तोड़कर मत देखो। मानवीय एकता को मत भूलो। यही सह-अस्तित्व का मौलिक आधार है।

एकता अनेकता से पृथक् नहीं है और अनेकता एकता से पृथक् नहीं है। इसी धरातल पर मानवीय एकता संभव है। इसी आधार पर भिन्न-भिन्न प्रणालियां एक साथ चल सकती हैं। अनेकता स्वाभाविक है पर शांतिपूर्ण जीवन जीने के लिए सह-अस्तित्व अनिवार्य है। दूसरों के स्वत्व को आत्मसात् करने की भावना को त्यागे बिना यह संभव नहीं है। एक व्यक्ति, जाति या राष्ट्र जब दूसरों के स्वत्व को हड़प जाना चाहते हों, तब सह-अस्तित्व कैसे संभव हो? सह-अस्तित्व के लिए आवश्यक है— स्व का हरण नहीं हो।

आज विचारशील व्यक्ति व राष्ट्र दूसरों के स्वत्व से बने विशाल स्वरूप को छोड़कर अपने स्वरूप में सिमटते जा रहे हैं, यही सामंजस्य की रेखा है और यही वर्ग-विग्रह व अन्तर्राष्ट्रीय-विग्रह की समापन रेखा है।

8.2.3.2 सह-अस्तित्व के प्रयोग

- **पारिवारिक जीवन में**— पारिवारिक जीवन तभी सफल हो सकता है जब पारिवारिक सदस्यों का शांत सहवास हो। पारिवारिक कलह के पीढ़ीगत भिन्नता, वैचारिक भिन्नता, स्तर की भिन्नता आदि अनेक कारण हैं। फिर भी दो पीढ़ी के लोग, दो विचार के लोग व दो भिन्न जीवन स्तर के लोग एक साथ शांति से रह सकते हैं; यदि वे उस भिन्नता में कोई अभिन्नता का सूत्र खोज लें। यद्यपि पग-पग पर टकराहट है, स्वार्थ है, भिन्नताएं हैं, विरोध हैं पर इनमें समन्वय का प्रयोग करें। विरोध या भिन्नता में समन्वय खोजें तो इन विरोधों व भिन्नताओं के बावजूद सह-अस्तित्व संभव हो सकता है।
- **सामुदायिक जीवन में**— समाज में हमें वैषज्य देखने को मिलता है क्योंकि समत्व का अभाव है। आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं— स्वार्थ, मान्यताएं और असहिष्णुता— इन वृत्तियों पर शासन करने वाला ही समन्वय का विकास कर सकता है। पुराने समय में साज्प्रदायिक और जातीय— ये दो प्रकार के संघर्ष थे। आज के समाज में वर्ग-संघर्ष है। वर्ग-संघर्ष तब तक नहीं मिट सकता, जब तक स्वार्थ की वृत्ति खत्म न हो। हम स्वार्थ से ऊपर उठकर यह सोचें कि छोटे-बड़े सभी मनुष्यों में एकता है, समानता है, इसलिए हम एक साथ रह सकते हैं। सह-अस्तित्व से ही समाज सुन्दर बन सकता है।

8.2.3.3 विश्वशांति और सह-अस्तित्व

आज राजनैतिक क्षेत्र में सह-अस्तित्व की ध्वनि मुखर हो रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ भी इसके लिए प्रयास कर रहा है। यह संगठन सह-अस्तित्व का एक अच्छा उदाहरण भी है। यहां परस्पर विरोधी विचार के राष्ट्र एक साथ बैठकर विश्व की ज्वलन्त समस्याओं पर विचार-विमर्श करते हैं।

परमाणविक युग में जब हिंसा समग्र हो गई है, हमारे पास केवल दो ही विकल्प हैं— या तो हम अहिंसा व विश्वशांति को अपना लें या फिर महाविनाश के लिए तैयार हो जाएं। हिंसा की समग्रता ने सह-अस्तित्व की धारणा को और अधिक पुष्ट किया है।

प्रभुसत्ता की दृष्टि से सभी राष्ट्र स्वतंत्र हैं पर सामर्थ्य की दृष्टि से समानता नहीं है। कोई राष्ट्र शक्तिशाली है, तो कोई कमजोर। कोई समृद्ध है, कोई गरीब। सभी राष्ट्रों में कुछ साज्य भी है और कुछ वैषज्य भी। यदि वैषज्य को प्रधान मानें तो दूसरों को मिटाने की बात आएगी और केवल साज्य को प्रधान मानें तो भी एकान्तिक आग्रह होगा और उसका परिणाम होगा— शीतयुद्ध। महावीर ने कहा— विरोधी युगलों का सह-अस्तित्व संभव है क्योंकि उनमें सर्वथा विरोध नहीं है। इसी विचार के आधार पर पूंजीवाद और समाजवाद एक साथ रह सकता है। लोकतंत्र व राजतंत्र एक साथ रह सकता है क्योंकि विरोधी प्रणालियों में सह-अस्तित्व है।

8.2.3.4 सह-अस्तित्व के सूत्र

आचार्य महाप्रज्ञ सह-अस्तित्व के तीन सूत्रों का उल्लेख करते हैं। वे जैनागम प्रश्न व्याकरण में वर्णित अहिंसा के साठ नामों में तीन नाम की चर्चा करते हैं। वे हैं— आसाओ, वीसाओ और अभओ।

1. आश्वासन— एक-दूसरे के प्रति आश्वस्त हों। अन्यथा आशंकाएं शीतयुद्ध व संघर्ष को जन्म देंगी।

2. विश्वास— द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रों और विशेषकर महाशक्तियों के बीच अविश्वास की जड़ें गहरी हो गईं, उसका परिणाम हुआ—शीतयुद्ध। सह-अस्तित्व के लिए अपेक्षित है एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का व एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का विश्वास करे।

3. अभय— अविश्वास शस्त्र-विस्तार को जन्म देता है, जबकि विश्वास अभय को जन्म देता है। अभय से नि:शस्त्रीकरण संभव है।

सह-अस्तित्व के ये तीनों सूत्र परस्पर जुड़े हुए हैं। आश्वासन से विश्वास पैदा होगा और विश्वास से अभय। उदाहरणत: यदि परमाणु निशस्त्रीकरण संधि होती है तो वह विश्व को एक आश्वासन होगा, उससे विश्व के राष्ट्रों में विश्वास का वातावरण बनेगा और नागरिक अभय हो जायेंगे।

अत: शांतिपूर्ण जीवन या शान्त-सहवास के लिए सह-अस्तित्व का सूत्र बहुत की महत्त्वपूर्ण है। संघर्ष प्रकृति का नियम नहीं; आरोपण है, विसंगति है। सह-अस्तित्व में सन्तुलन है, संगति है, इसलिए विरोधी तत्त्वों का भी सह-अस्तित्व संभव है। आज यह सूत्र राष्ट्रीय एकता या मानवीय एकता, धार्मिक सहिष्णुता और विश्व-शांति के लिए महत्त्वपूर्ण है। नेहरू ने जब पंचशील के सिद्धान्त में सह-अस्तित्व का समावेश किया था, तब इस सूत्र को राष्ट्रों के परस्पर व्यवहार के लिए महत्त्वपूर्ण सूत्र माना गया था, पर इसकी उपेक्षा के कारण आज विश्व विनाश के कगार पर है। आज यह सूत्र किसी धर्मनेता का नहीं, बल्कि युग की मांग है।

8.2.4 दृष्किोण परिवर्तन के प्रयोग

अनेकान्त का प्रशिक्षण मिथ्याधारणा, निरपेक्ष चिन्तन और आग्रह से मुक्त होने का प्रयोग है। परिवर्तन केवल जानने से नहीं होता। इसके लिए दीर्घकालिक अज़्यास अपेक्षित है। सर्वांगीण दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए निज़्न निर्दिष्ट अनेकान्त के सिद्धान्त और प्रायोगिक अज़्यास-अनुप्रेक्षाओं का प्रशिक्षण आवश्यक है—

	सिद्धान्त	**प्रयोग**
1.	सप्रतिपक्ष	सामंजस्य की अनुप्रेक्षा
2.	सह-अस्तित्व	सह-अस्तित्व की अनुप्रेक्षा
3.	स्वतन्त्रता	स्वतन्त्रता की अनुप्रेक्षा
4.	सापेक्षता	सापेक्षता की अनुप्रेक्षा
5.	समन्वय	समन्वय की अनुप्रेक्षा

इस प्रकार से हुए दृष्टिकोण परिवर्तन से अहिंसा की भावना और व्यवहार बलवती होता है।

9. अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अहिंसा के विविध पक्षों की विस्तृत विवेचना कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. अहिंसा प्रशिक्षण की आवश्यकता को स्पष्ट कीजिए।
2. अहिंसा प्रशिक्षण के सैद्धान्तिक स्वरूप को समझाइए।

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. किस जैनागम में अहिंसा के साठ पर्यायवाचियों का वर्णन मिलता है—

   अ. भगवतीसूत्र ब. प्रश्नव्याकरण

   स. दशवैआलियं द. उपासकदशांग

2. हिंसा का कारण है—

   अ. वर्तमान जीवन ब. दुःख प्रतिकार

   स. प्रशंसा, सम्मान द. उपरोक्त सभी

3. मनुष्य की मूल वृत्ति है–

अ. हिंसा ब. अहिंसा

स. आवास द. आहार

4. संयम का फलिक क्या है?

अ. सम्बन्ध ब. चेतना

स. अहिंसा द. संकल्प

5. Moral Equivalent to War के लेखक कौन हैं?

अ. महात्मा गांधी ब. आचार्य महाप्रज्ञ

स. विलियम्स जेम्स द. मार्टिन लूथर किंग

6. अंतर्राष्ट्रीय एकता और कानून में अहिंसा के समावेश को जीन शार्प ने क्या नाम दिया?

अ. अहिंसक विकल्प ब. वैकल्पिक सुरक्षा

स. वैकल्पिक अहिंसा द. अहिंसक प्रतिकार

7. ..... से ही समाज सुन्दर बन सकता है।

8. ..... की विषमता हिंसा का कारण है।

9. करुणा का सम्बन्ध ..... से है।

10. अहिंसा का केन्द्र बिन्दु ..... का सम्मान है।

इकाई – 5
जीवन-शैली एवं व्यवस्था परिवर्तन

उद्देश्य

1. जीवन शैली परिवर्तन की अवधारणा व सूत्रों को जानना।

2. अहिंसा प्रशिक्षण के आयाम के रूप में व्यवस्था परिवर्तन का अध्ययन करना।

3. आजीविका पालन में अहिंसा प्रशिक्षण की भूमिका का अध्ययन करना।

संरचना

1. जीवन–शैली परिवर्तन

    1.1 व्यवहारिक अहिंसा या हिंसा निषेध

    1.2 अनाक्रमण

    1.3 विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों में भाग न लेना

    1.4 मानवीय एकता में विश्वास

    1.5 सर्वधर्म सहिष्णुता

    1.6 व्यवहार व व्यापार में प्रामाणिकता

    1.7 आत्मसंयम का विकास

    1.8 चुनावों में शुद्धता

    1.9 सामाजिक कुरुढ़ियों को प्रश्रय न देना

    1.10 मादक पदार्थों के सेवन का निषेध या व्यसन मुक्त जीवन

    1.11 पर्यावरणीय चेतना का विकास

    1.12 जीवन शैली परिवर्तन के प्रयोग

2. व्यवस्था परिवर्तन

    2.1 आर्थिक व्यवस्था

        2.1.1 आर्थिक आवश्यकता की संपूर्ति और शांति का समन्वय

    2.2 सामाजिक व्यवस्था

    2.3 राजनैतिक व्यवस्था

        2.3.1 सज़्यक् आजीविका

3. सत्याग्रह

3.1 सत्याग्रह के सिद्धान्त

3.2 सत्याग्रह के विविध स्वरूप

3.3 सत्याग्रह आंदोलन

3.3.1 वीरगांव का सत्याग्रह

3.3.2 चम्पारन सत्याग्रह

3.3.3 खेड़ा सत्याग्रह

3.3.4 मजदूरों का सत्याग्रह

3.3.5 वायकोम सत्याग्रह

3.3.6 नील सत्याग्रह

3.3.7 बारडोली सत्याग्रह

3.3.8 पहाड़ी जाति के लोगों का सत्याग्रह

3.3.9 सामाजिक अन्याय के विरूद्ध सत्याग्रह

3.3.10 हरिजन सत्याग्रह

3.3.11 अन्य ऐतिहासिक उदाहरण

3.3.12 पेक्स की खानों के मजदूरों की हड़ताल

3.3.13 रौलट एक्ट सत्याग्रह

4. अभ्यास प्रश्न

1. जीवन-शैली परिवर्तन

जीवन जीना एक बात है। कैसा जीवन जीना, यह सर्वथा भिन्न बात है। बहुत लोग ऐसे होते हैं जो जीते हैं पर क्यों जीते हैं, कैसे जीते हैं, आदि प्रश्नों पर कभी विचार ही नहीं करते। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो निश्चित उद्देश्य के साथ जीते हैं और विशिष्ट शैली से जीते हैं। ऐसे व्यक्तियों का युग आने वाली सदियों का मानदण्ड बन जाता है। वे केवल समय को नहीं जीते, उनके जीवन में संस्कृति होती है, सज़्यता होती है और एक परज़्परा होती है जो पीढ़ी दर पीढ़ी संक्रान्त होती है और अपने युग की स्थायी पहचान बन जाती है।

वर्तमान युग हिंसा की बहुलता का युग है क्योंकि विश्व में हिंसा के क्रमबद्ध प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था है। अहिंसा के विकास के लिए भी इसी प्रकार के क्रमबद्ध व वैज्ञानिक आधार पर प्रशिक्षण की अपेक्षा है। वर्तमान में अहिंसक-समाज-रचना की दृष्टि से अनेक व्यवहारिक प्रयोग किये जा रहे हैं। इसी क्रम में जीवन शैली में परिवर्तन द्वारा अहिंसा के प्रशिक्षण की पद्धति भी है। अहिंसा पर आधारित जीवन शैली के ग्यारह सूत्र हैं, जिनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है —

1.1 व्यवहारिक अहिंसा या हिंसा निषेध

आधुनिक विचारधारा जीवन के लिए संघर्ष को आधार मानती है तथा विकास के लिए इच्छा के आधिक्य को आवश्यक समझती है। अर्थात् संघर्ष और इच्छा विस्तार आधुनिक जीवन शैली के विशिष्ट अंग हैं। प्राचीन परज़्परा भी हिंसा और पग्रिह को जीवन का आधार मानती रही है।

अहिंसक जीवनशैली जीवन का आधार संघर्ष को नहीं अपितु अहिंसा, प्रेम, करुणा और मैत्री को मानती है। यद्यपि जीवन के लिए हिंसा अनिवार्य है पर हिंसा की स्वीकृति में अंतर है। हिंसा जीवन की अनिवार्यता हो सकती है, पर जीवन का आधार हिंसा नहीं हो सकती। शारीरिक स्तर पर हिंसा अनिवार्य है पर मानसिक स्तर पर हिंसा का समर्थन नहीं किया जा सकता।

हिंसा के चार प्रकार जैनागमों में स्वीकृत किये गये हैं– आरज़्भजा, विरोधजा, संकल्पजा और उद्योगी। कृषिकार्य आदि से सज़्बंधित हिंसा को आरज़्भजा हिंसा कहते हैं। जीवन यापन की दृष्टि से यह हिंसा अनिवार्य है। अस्तित्व सुरक्षा के लिए, आक्रमण से सुरक्षा के लिए की गई हिंसा विरोधजा हिंसा है। इसे भी कुछ सीमा तक स्वीकृत किया जा सकता है। आक्रामक मनोभाव या बिना प्रयोजन की गई हिंसा संकल्पजा हिंसा है, इसे कभी भी स्वीकृत नहीं किया जा सकता। व्यापार आदि से संबंधित हिंसा उद्योगी हिंसा है, इसे भी एक सीमा तक ही स्वीकृत किया जा सकता है।

अहिंसक जीवन शैली हिंसा के अल्पीकरण का सूत्र देती है, जो सामाजिक शांति, जीवन विकास व अस्तित्व की स्थिरता के लिए आवश्यक है। हिंसा की उन्मुक्तता महाहिंसा की ओर प्रयाण है और इससे संस्कृति को खतरे पैदा होते रहे हैं। संस्कृति के विकास एवं संगठित हिंसा के प्रतिरोध के रूप में ही हिंसा के अल्पीकरण का स्वरूप मुखर हुआ है। कुछ राजनीतिक पद्धतियां, धार्मिक मंच आदि विचारों के स्तर पर हिंसा की अनिवार्यता को मानते हैं तथा उनके अनुसार अपना विचार या धर्म बलात् किसी पर थोपा जा सकता है। अहिंसक जीवनशैली स्वस्थ समाज रचना के लिए इसे अनावश्यक व अवांछनीय मानती है। इसलिए अहिंसक जीवनशैली मूलत: हिंसा के अल्पीकरण का सिद्धान्त देती है जो साधन शुद्धि के सिद्धान्त का ही विकास है।

1.2 अनाक्रमण

आक्रमण करना एक मनोवृत्ति है। इस मनोवृत्ति का उद्भव भय के कारण होता है तथा क्रोध, लोभ, क्षोभ आदि आक्रमण के हेतु बनते हैं। सुख–सुविधाओं का विस्तार, भविष्य की असुरक्षा, लिप्सा आदि व्यक्ति को आक्रामक बना देते हैं।

व्यक्ति के आक्रान्ता बनने के चार कारण स्थानांग सूत्र में दिये गये हैं–

- अनर्जित सुखों के अर्जन के लिए।
- अर्जित सुखों के संरक्षण के लिए।
- अनर्जित भोगों के अर्जन के लिए।
- अर्जित भोगों के संरक्षण के लिए।

इनमें जो व्यक्ति सहायक बनते हैं वे आत्मीय बन जाते हैं और दूसरे विरोधी। स्वत्व और परत्व की यह मनोवृत्ति ही व्यक्ति को आक्रान्ता बनाती है।

प्रत्याक्रमण न करना आदर्श है, पर व्यवहार में यह भी ठीक है कि व्यक्ति या राष्ट्र यह संकल्प करे कि मैं किसी पर आक्रमण नहीं करूंगा और न आक्रामक नीति का समर्थन ही करूंगा। ऐसी नीति असमानता व घृणा की जगह समानता, सहयोग व शांति को बढ़ाती है।

1.3 विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों में भाग न लेना

तोड़–फोड़ व आतंकवाद वर्तमान समय की ज्वलंत समस्या है। व्यक्ति अल्पकालीन लाभ के लिए, अपनी बातों को मनवाने के लिए, सरकार पर दबाव डालने के लिए विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों में संलग्न हो जाता है, जिससे राष्ट्रीय सज़्पत्ति की हानि होती है,

संसाधनों का सही उपयोग नहीं हो पाता तथा राष्ट्रीय विकास अवरुद्ध हो जाता है। आज हिंसक आन्दोलनों से कई राष्ट्र समस्या ग्रस्त हैं। ऐसी प्रवृत्तियों में भाग लेना समाज या राष्ट्र के लिए तो घातक है ही, व्यक्ति स्वयं के लिए भी घातक है।

1.4 मानवीय एकता में विश्वास

मानवीय एकता में विश्वास का अर्थ है– मानवीय अस्तित्व की समानता का विश्वास। अस्तित्व की अपेक्षा से समूचा विश्व एक है और व्यक्ति की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र। अनेकता में एकता का चिंतन ही मानवीय एकता में विश्वास है। आज विडम्बना है कि मानव को धर्म, वर्ण, जाति, राष्ट्र आदि के आधार पर बांटा जा रहा है। जहां बंटवारा है, वहां एकता खण्डित हो जाती है और स्वार्थ प्रमुख हो जाते हैं तथा अनेक समस्याएं पैदा हो जाती हैं, न केवल राष्ट्रीय स्तर पर बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी। इसलिए केवल मनुष्य को ही नहीं अपितु सभी प्राणियों को समान समझना आचार शास्त्र का नियम है। सापेक्ष दृष्टि से देखा जाए तो –

- प्रत्येक मनुष्य अस्तित्व की दृष्टि से समान है।
- प्रत्येक मनुष्य सामर्थ्य की दृष्टि से समान है।
- जैव विज्ञान के आधार पर मनुष्य समान है।

मनुष्य जाति एक है, इस सिद्धान्त की स्वीकृति के पश्चात् क्या किसी को तिरस्कृत करना, मारना, सताना स्वयं को ही तिरस्कृत करने, मारने, सताने का प्रयत्न नहीं है? जैन आगमों में कहा गया है–

पुरुष! जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही है।

जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है, वह तू ही है।

जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है।

आत्मतुला की इस भूमिका पर विश्व के सब प्राणियों की एकता प्रतिपादित होती है। सब मुझमें हैं, मैं सबमें हूँ– इस विराट्ता में ही मानवीय एकता प्रतिबिम्बित हो सकती है।

जाति, वर्ण, वर्ग, धर्म आदि कृत्रिम भेद हैं। इन्हें मुख्य मानकर प्रेम, सद्भाव, विश्वास व न्याय की हत्या मानवीय मूल्यों की हत्या है। भेद की कल्पना प्रकृतिगत नहीं, मानव द्वारा निर्मित है। इन आरोपित भेदों को मानकर किसी को हीन मानना स्वयं की हीनता है। केवल अपने ही दृष्टिकोण को महत्त्व देना, स्वार्थसिद्धि के लिए देश की भी परवाह न करना सत्य से मुंह मोड़ना है। अहिंसक जीवनशैली इन भेदों को दूरकर मानवीय एकता में विश्वास की बात करती है। जब एक व्यक्ति परिवार में भिन्न-भिन्न वर्ण, रूचि और स्वभाव वाले लोगों के साथ रह सकता है तो वह अन्य लोगों के साथ क्यों नहीं रह सकता।

1.5 सर्वधर्म सहिष्णुता

धर्म जीवन का शाश्वत मूल्य है। सत्य साक्षात्कार या आत्म साक्षात्कार की प्रक्रिया का नाम धर्म है। इस दृष्टि से धर्म एक अखण्ड चेतना है, इसे विभक्त करना कठिन है। सहिष्णुता का प्रश्न अनेकत्व के प्रश्न से ही उपस्थित होता है। यदि व्यवहारिक दृष्टि से देखें तो भी धर्म के अनेक भेद क्षमा, दया, प्रेम, करुणा, सत्य, तप आदि को ध्यान में रखकर धर्म के अनेक रूप सामने आयें तो भी उनमें मतभेद नहीं होगा। मतभेद है सम्प्रदायों में। धर्म ने अपने व्यापक अर्थ को खो दिया है, वह सम्प्रदाय के अर्थ में रूढ़ हो गया है। सम्प्रदाय का अस्तित्व विचारभेद की परिणति का ही परिणाम है। किसी भी देश में अनेक विचार व मत होना कोई समस्या नहीं। समस्या है अपने को सर्वोच्च मानकर दूसरों को छोटा मानना। असद्भावों के बीजों का वपन यहीं से होता है।

हर धर्म सत्य की अभिव्यक्ति करता है। यदि सत्य के सापेक्ष दृष्टिकोण को मान लिया जाए तो सभी धर्म सत्य के एक अंश को प्रकट करते हैं। केवल उसी विशिष्ट दृष्टिकोण को ही सत्य मानकर दूसरे धर्मों के दृष्टिकोण को ठुकराया जाना धार्मिक संघर्षों का प्रमुख हेतु बनता है। अहिंसक जीवनशैली यह बतलाती है कि सापेक्ष दृष्टि से सभी धर्म सत्य हैं, इसलिए हमें सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु बनना चाहिए। हर धर्म की अपनी विशिष्टता है– जैनों की अहिंसा, बौद्धों की करुणा, ईसाइयों की सेवा, वेदों का आचार (कर्मकाण्ड)

अपने आप में विशिष्ट है। हमें सभी धर्मों के अच्छे तत्त्वों के प्रति उदार रहना ही चाहिए। सभी धर्मों के लक्ष्य श्रेयात्मक हैं, बाह्य स्वरूप में भिन्नता हो सकती है। इसलिए हर धर्म के प्रति आदर व सहिष्णु होना हमारा कर्त्तव्य है।

1.6 व्यवहार व व्यापार में प्रामाणिकता

सत्य के दो रूप हैं– आध्यात्मिक और सामाजिक। आध्यात्मिक सत्य व्यक्तिगत होता है। कोई भी आत्मनिष्ठ व्यक्ति असत् आचरण नहीं करता। असत् आचरण का अभाव ही प्रामाणिकता है। सामाजिक सत्य के अनुसार– एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ व्यवहार यथार्थ की स्वीकृति के आधार पर हो, यही व्यवहारिक प्रामाणिकता है। इसके तीन मापदण्ड हैं–

- व्यवहारिक प्रामाणिकता में प्रवंचना (कपट) नहीं होती।
- व्यवहारिक प्रामाणिकता में व्यवस्था का अतिक्रमण नहीं होता।
- व्यवहारिक प्रामाणिकता में अतिरिक्त लाभ पाने की इच्छा नहीं होती।

व्यक्ति इन मापदण्डों का पालन करता है तो इससे वह स्वयं तो लाभान्वित होता ही है, उसका लाभ समाज व राष्ट्र को भी मिलता है। वर्तमान में प्राय: यह देखा जाता है– व्यक्ति लोभ के कारण, क्षणिक लाभ के लिए अप्रामाणिक बन जाता है। इसी का परिणाम है– व्यक्ति मिलावट, झूठा तौल-माप, चोर बाजारी, रिश्वत, राज्य निषिद्ध व्यापार जैसे कार्यों में लिप्त होता जा रहा है। जब तक व्यक्ति असीम इच्छाओं का अल्पीकरण न करे, लोभवृत्ति का शमन न करे, तब तक यह संभव नहीं कि व्यक्ति व्यापार और व्यवहार में प्रामाणिक बन सके। अप्रामाणिक व्यक्ति स्वयं अपना ही अहित नहीं करता, वह सामाजिक एवं राष्ट्रीय मूल्यों की हत्या भी करता है।

स्वयं की प्रामाणिकता व्यक्ति को तो आत्मतोष देती ही है, बल्कि उसे कई उलझनों से भी बचा लेती है। समाज के लिए भी वह शिष्टता व प्रगति का मापदण्ड बनता है। दीर्घकालीन सफलता भी उन्हीं को मिलती है जो प्रामाणिक रहते हैं।

1.7 आत्मसंयम का विकास

भोगवादी संस्कृति का मूल आधार असंयम है। असंयम के कारण ही विश्व में अनेकानेक समस्याएं बढ़ती जा रही हैं। असंयम ने मनुष्य को सुविधावादी बनाया है और सुविधावाद बनाये रखने के लिए वह दिनों-दिन सुविधाएं प्रदान करने वाली सामग्री का उत्पादन व उपभोग कर रहा है। जिससे न केवल संसाधनों का असीमित दोहन हो रहा है बल्कि पर्यावरणीय प्रदूषण के भी खतरे पैदा होते जा रहे हैं। असंयम की प्रवृत्ति ने ही मनुष्य को शस्त्रास्त्र के उत्पादन व प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन दिया है। मनुष्य की अनन्त इच्छाओं को कहीं तो विराम देना ही होगा, नहीं तो यह विश्व एक दिन अपने ही विकास के नीचे दबकर खत्म हो जाएगा। यदि संयम व आत्मानुशासन के द्वारा व्यक्ति की विवेक चेतना को जागृत नहीं किया गया तो व्यक्ति की इन्द्रियों की मांग बढ़ती ही चली जाएगी और फिर हर मांग को संतुष्ट कर पाना असंभव होगा। परिणाम होगा– संघर्ष, हिंसा।

यह आवश्यक है कि वृत्तियों का संयम एवं विवेकपूर्वक शोधन किया जाए। वृत्तियों के दमन से इच्छाएं व वासनाएं समाप्त नहीं होतीं, वे अवचेतन में रहती हैं और अवसर पाकर फिर उभर सकती हैं। दमन में न वृत्तियों का शोधन है और न विवेक चेतना का जागरण। जबकि संयम वृत्तियों को दबाने की प्रक्रिया नहीं अपितु वृत्तियों के शोधन की प्रक्रिया है। इसलिए गीता में आत्मसंयम पर बल दिया गया है। गांधी का खादी व स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग आत्मसंयम की दिशा में एक प्रयास था। ब्रह्मचर्य की साधना भी संयम का ही एक प्रयास है जिससे जनसंख्या नियंत्रण संभव हो सकता है। फ्रायड वृत्तियों के दमन की बात कहता है। वृत्तियों को बदलने के लिए उनका उदात्तीकरण आवश्यक है, जो संयम द्वारा ही संभव है।

1.8 चुनावों में शुद्धता

लिंकन के शब्दों में लोकतंत्र का अर्थ है– जनता के लिए, जनता के द्वारा, जनता का शासन। लोकतंत्र में मतदान का विशेष महत्त्व है। मतदान के व्यापक अधिकार से कुछ कठिनाइयां भी पैदा होती हैं। उन देशों में यह कठिनाइयां अधिक हैं जहां की जनता

शिक्षित नहीं है, जहां गरीबी अधिक है तथा जहां लोगों के विचार विकसित नहीं हैं। शिक्षित देशों में मतदान में कोई गड़बड़ी नहीं होती यह तो नहीं कहा जा सकता, पर वहां अज्ञान-जन्य कठिनाइयों से बचाव हो जाता है।

मतदान की पद्धति के साथ ही प्रलोभन की कड़ी जुड़ी हुई है। मतदान की स्वस्थ परज़्परा में सबसे बड़ी बाधा प्रलोभन ही है और इसी का यह परिणाम है कि चुनावों में अनैतिक साधनों का उपयोग बढ़ रहा है, लोगों को उनके मतों के अधिकार से जबरन वंचित रखकर लोकतंत्र की हत्या की जा रही है। चुनावों में बढ़ती हिंसा, मतदान केन्द्रों पर कब्जा चुनावों में आम घटनाएं बन गई हैं। चुनाव में येन-केन-प्रकारेण सफलता प्राप्त करना ही उज़्मीदवारों का लक्ष्य बन जाता है भले ही इसके लिए राष्ट्र को कितनी ही बड़ी कीमत क्यों न चुकानी पड़े।

अहिंसक जीवनशैली के अनुसार मतदान की स्वस्थ परज़्परा में विजय-पराजय की बात गौण है। मुज़्य बात है— व्यक्ति की योग्यता और विशेषता का अंकन कर उसे निर्वाचित करना। मतदाता और प्रार्थी की कुछ दुर्बलताएं इस मार्ग की बाधाएं हैं। प्रार्थी (उज़्मीदवार) को अपनी प्रतिष्ठा एवं अहं का मोह रहता है, इसी कारण प्रलोभन, भय और आतंक की परिस्थितियां पैदा हो जाती हैं तथा उनके आगे मतदाता घुटने टेक देते हैं। अत: यह मानकर चलना चाहिए कि बुराई दोनों पक्षों की ओर से होती है। चुनाव परज़्परा में विकृति नहीं हो तो योग्य व्यक्ति अनायास ही सामने आ जाएगा। जनतंत्रीय पद्धति स्वीकार करने के बाद प्रलोभन व अनैतिक तरीकों से चुनाव जीतना अनुचित है। जो ऐसा करते हैं, वे वस्तुत: अपने विचारों व लोकतंत्र की हत्या करते हैं। वैचारिक मृत्यु व्यक्ति की सबसे बड़ी पराजय है। इसलिए लोकतंत्र की स्वस्थ प्रणाली में विजयी बनने के लिए प्रलोभन, भय या आतंक की स्थिति पैदा करने का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। इस हेतु अग्रांकित बिंदु विचारणीय हैं —

- मतदाता द्वारा किसी प्रकार के प्रलोभन, जाति एवं धर्म आदि के आधार पर मतदान न करना। उज़्मीदवार के गुणों के आधार पर मतदान करना।
- उज़्मीदवार के विरुद्ध गलत प्रचार, अशांति व उपद्रव न करना तथा अवैध मतदान न करना।
- उज़्मीदवार द्वारा भय, प्रलोभन, जाति एवं धर्म आदि के आधार पर मत लेने का प्रयत्न न करना।
- प्रतिपक्षी के विरुद्ध अश्लील प्रचार, अशांति व उपद्रव न करना।
- दलगत राजनीति की जगह लोकतंत्र को प्राथमिकता देना।
- लोकतंत्र के प्रति व्यापक शिक्षा प्रदान करना।
- चुनावों के दौरान साधन-शुद्धि पर बल देना।
- चुनावों में शुद्धता के लिए राजनीतिज्ञों, मतदाताओं व पत्रकारों का क्रमबद्ध प्रशिक्षण आयोजित करना।

1.9 सामाजिक कुरुढ़ियों को प्रश्रय न देना

जिस विचार एवं व्यवस्था की जब तक उपयोगिता है, तब तक उसका मूल्य और महत्त्व है। उपयोगिता समाप्त होने के साथ ही उसका मूल्य भी समाप्त हो जाता है, वह मूल्यहीन बन जाती है। मूल्य समाप्त होने के बाद भी उस परज़्परा या व्यवस्था को चलाए रखने का प्रयत्न कुरूढ़ि है। परिवर्तन सृष्टि का शाश्वत तत्त्व है। हर परिवर्तन के मुज़्य हेतु हैं— देशकाल का परिवर्तन और विचार परिवर्तन। विचार परिवर्तन के साथ विकास होता है। हर नया विकास अपने से पूर्व की स्थिति का मूल्य समाप्त कर देता है। कठिनाइयां तब उत्पन्न होती हैं जब हम इन परिवर्तनों को स्वीकार नहीं करते तथा परज़्पराओं का निर्वहन ही अपना ध्येय मानते हैं, भले ही वे मूल्यहीन हो गई हों। ऐसी ही परज़्पराओं को कुरूढ़ियां कहा जाता है।

समाज में आज भी कई कुरूढ़ियां विद्यमान हैं— जैसे दहेजप्रथा, पर्दाप्रथा, मृत्युभोज, बालविवाह, विधवाओं के साथ दुर्व्यवहार आदि-आदि। जो परज़्पराएं किसी काल में किन्हीं कारणों से स्थापित की गई थीं, वे आज जड़ होकर रह गई हैं, उनके निर्वहन का आज क्या औचित्य हो सकता है?

दहेजप्रथा के कारण न जाने कितनी अबलाओं की बलि भारतवर्ष में दी जाती है। धन के लोभी इन अबलाओं को पाशवीय यातनाएं देने से नहीं चूकते। इसी तरह का व्यवहार विधवाओं और विशेषकर बाल विधवाओं के साथ देखा जाता है। पर्दाप्रथा स्त्री शक्ति को आगे बढ़ने से रोकती है, जबकि बाल–विवाह उस बच्चे के प्रति अपराध है जो अभी नासमझ है। व्यक्ति ऋण लेकर भी मृत्युभोज करने के लिए विवश होता है।

अहिसंक जीवनशैली इन कुरूढ़ियों को व्यक्ति के में प्रश्रय नहीं देती। इनसे व्यक्ति का अहित तो है ही, समाज का विकास भी अवरुद्ध हो जाता है। कुरूढ़ियों के विरुद्ध जनमत जाग्रत किया जाना अपेक्षित है, इस हेतु शिक्षा का प्रसार एवं तदनुरुप प्रशिक्षण आवश्यक है।

1.10 मादक पदार्थों के सेवन का निषेध या व्यसन मुक्त जीवन

मादक पदार्थों के सेवन की समस्या आज अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चिंता का विषय बन चुकी है। आधुनिक समाज में युवापीढ़ी जीवन की समस्याओं से घबराकर मादक पदार्थों की शरण में जा रही है, यह अत्यन्त चिन्तनीय है। अफीम, चरस, हेरोइन आदि अनेक ऐसे मादक पदार्थ हैं जो तस्करी के कारण सामान्य लोगों की पहुंच से परे नहीं रहे हैं। एक बार इनके सेवन के पश्चात् मनुष्य इनका गुलाम बनकर रह जाता है, फिर उसे इन पदार्थों की आपूर्ति करने वाले व्यक्ति की जायज–नाजायज हर बात माननी पड़ती है। व्यक्ति अपराधों की तरफ उन्मुख हो जाता है। इन मादक पदार्थों की भयावहता का अन्दाज इस तथ्य से हो सकता है कि जब व्यक्ति इनका बहुत अधिक आदी बन जाता है तो ये मादक पदार्थ भी इन व्यक्तियों पर असर नहीं करते। ऐसे व्यक्तियों को जहरीले सांपों द्वारा नशे के लिए कटवाया जाता है।

नशे का सेवन व्यक्ति भौगोलिक परिस्थितियों के कारण भी करता है, जैसे ठण्डे देशों में मदिरापान आम बात है। कुछ विलासी मनोवृत्ति वाले लोग सोसाइटी और स्टेटस के नाम पर मादक पदार्थों का सेवन प्रारंभ कर देते हैं। गलत सज़र्क के कारण भी मादक पदार्थों की आदत बन जाती है और कभी–कभी व्यक्ति अज्ञान के कारण भी इनका शिकार बन जाता है। मादक पदार्थों के कुपरिणामों के कारण आज प्रतिवर्ष लाखों व्यक्ति विश्व में मर रहे हैं तथा मादक पदार्थों की तस्करी व व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की प्रमुख समस्या बन गया है। सरकारें भी आर्थिक लाभ के लिए इनकी रोकथाम के लिए कारगर उपाय नहीं कर पातीं।

सरकार आर्थिक लाभ के लिए मादक पदार्थों के सेवन को प्रोत्साहन देती है जबकि सरकार का ध्यान आर्थिक लाभ की जगह देश की चारित्रिक गिरावट की ओर जाना चाहिए। यद्यपि मादक पदार्थों का सेवन व्यक्तिगत घटना है पर इससे पूरा समाज प्रभावित होता है। समाज में नैतिक मूल्यों के पतन के पीछे तथा बलात्कार आदि घटनाओं का एक प्रमुख कारण मादक पदार्थों का सेवन है। इनके सेवन से व्यक्ति की विवेक शक्ति समाप्त हो जाने से वह पशुवत् हो जाता है। इसके दुष्परिणामों से बचने के लिए निज़्न बिन्दु विचारणीय हैं–

- लोगों को इनके दुष्परिणामों की जानकारी दी जाए।
- मादक पदार्थों के विरोध में प्रबल जनमत जुटाया जाए।
- शिक्षा का व्यापक प्रसार हो, विशेषकर स्वास्थ्य शिक्षा का।
- परिवार का मुखिया या परिवार का सदस्य एक दूसरे को इन पदार्थों के सेवन से बचने के लिए प्रेरित करे।
- कानून इनकी रोकथाम का एक सशक्त माध्यम बन सकता है। गांधी ने तो यहां तक कहा है— मादक पदार्थों की बिक्री से यदि शिक्षा का प्रसार भी होता हो तो उससे अशिक्षा ज्यादा अच्छी है। इसलिए सरकारी प्रतिबंध तो आवश्यक ही है।
- हृदय परिवर्तन के लिए प्रयोग किया जाए।

1.11 पर्यावरणीय चेतना का विकास

जीवन सापेक्ष है। इसमें जड़ और चेतन जितने पदार्थ हैं, वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा एक दूसरे से प्रभावित होते भी हैं। धरती, हवा, पानी और वनस्पति सृष्टि-संतुलन के आधरभूत तत्त्व हैं, ये जैसे हैं, वैसे ही बने रहें तो सृष्टि का संतुलन बना रहता है। इनमें गड़बड़ी से यह संतुलन बिगड़ने का खतरा बना रहता है। खनिजों का अत्यधिक दोहन, कारखानों और चिमनियों से उठने वाला धुआं, प्राकृतिक व्यवस्था के साथ छेड़-छाड़, परमाणु-परीक्षण आदि पर्यावरण को प्रदूषित करते हैं तथा इस कारण विश्व में ओजोन परत को क्षति, भूमि के उपजाऊपन में कमी, नाभिकीय कचरा, तापमान में वृद्धि, पशु-पक्षियों की कई प्रजातियों का लुप्त होना आदि समस्याएं पैदा हो रही हैं।

मानव सज़्यता की कहानी प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन की कहानी है। जब से मनुष्य ने सुमेरिया, मिश्र और सिंधुघाटी की सज़्यता को जन्म दिया, तब से वह प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध किसी न किसी संघर्ष में जुटा हुआ है। औद्योगिक क्रांति ने प्रकृति पर मानव जाति की विजय को भी साबित कर दिया है। पर्यावरण की जटिलताओं को समझे बिना उसने स्वार्थपूर्ति हेतु प्रकृति की व्यवस्था में व्यापक हस्तक्षेप शुरू कर दिया और इसी का दुष्परिणाम आज हमारे सामने है।

अहिंसक जीवनशैली के अनुसार सृष्टि में संतुलन बिगड़ने का मूल कारण असंयम है। मनुष्य अपनी आकांक्षाओं का विस्तार करता गया और आकांक्षा पूर्ति के लिए पृथ्वी का बेहिसाब उत्खनन, जल का अधिक प्रयोग, औद्योगीकरण, वन कटाई, शिकार आदि करता गया। पर्यावरणीय संतुलन के लिए संयम की साधना अपेक्षित है। संयम से ही पर्यावरण की सुरक्षा हो सकती है और पर्यावरण की सुरक्षा में ही मानव जाति व अन्य प्राणियों की सुरक्षा निहित है। पर्यावरणीय चेतना के विकास के लिए प्रायोगिक प्रशिक्षण भी आवश्यक है।

इस प्रकार अहिंसक जीवनशैली मानवीय उच्छृंखलाओं पर नियंत्रण स्थापित कर सकती है। यह नियंत्रण थोपा हुआ नहीं, अपितु स्वत: स्वीकृत है तथा प्रयोग द्वारा व्यक्ति का हृदय परिवर्तन व विचार परिवर्तन सज़्भव है। जिससे व्यक्ति की जीवन शैली में व्यापक परिवर्तन हो सकता है तथा मनुष्य जाति के सामने जो व्यापक खतरे हैं, उनसे निपटा जा सकता है।

1.2 जीवन शैली परिवर्तन के प्रयोग

जीवन शैली परिवर्तन के लिए संयम, सादगी, श्रम, स्वावलज़्बन एवं व्यसन मुक्त जीवन के सैद्धान्तिक प्रशिक्षण के साथ निज़्नलिखित प्रायोगिक अज़्यास भी अहिंसा प्रशिक्षण में समाविष्ट किया गया है—

- अहिंसा की अनुप्रेक्षा
- सत्य की अनुप्रेक्षा
- ब्रह्मचर्य की अनुप्रेक्षा
- इच्छा-परिमाण की अनुप्रेक्षा
- स्वावलज़्बन की अनुप्रेक्षा एवं
- व्यसन मुक्ति के प्रयोग।

2. व्यवस्था परिवर्तन

अहिंसा प्रशिक्षण की दृष्टि से केवल हृदय परिवर्तन और दृष्टिकोण परिवर्तन (विचार-परिवर्तन) ही पर्याप्त नहीं हैं। ये तभी स्थायी रह सकते हैं, जब उनके अनुरूप व्यवस्थाएँ भी हों। अतएव व्यक्ति के आन्तरिक रूपान्तरण के साथ-साथ व्यवस्थागत (परिवेश) परिवर्तन भी आवश्यक है।

वर्तमान में संरचनात्मक हिंसा की बहुत चर्चा है। समाज की संरचना में अन्याय, असमानता, पूर्वाग्रह आदि का समावेश रहे तो व्यक्ति सुधार बहुत कारगर नहीं हो सकता। संरचनात्मक परिवर्तन के लिए विश्व में समय-समय पर विभिन्न प्रकार की शक्तियों का प्रयोग किया गया है। सत्य तो यह है कि शक्ति के अभाव में मानव समाज की कल्पना ही सज़्भव नहीं है, क्योंकि शक्ति जीवन की

वास्तविकता है। समाज हिंसा की शक्ति और दण्ड-शक्ति से परिचित है। तीसरी शक्ति लोक-शक्ति से उसका परिचय कम ही है। अहिंसा प्रशिक्षण की दृष्टि से इस शक्ति को जानना और इसका व्यवहार व्यवस्था परिवर्तन के लिए आवश्यक है। लोक-शक्ति का अभिप्राय है—प्रेम, अहिंसा और करुणा की शक्ति, जो कि लोक-शक्ति के रूप में मूर्त होकर एक तीसरी शक्ति का रूप धारण कर लेती है। मोटे तौर पर इसे हम प्रेम, अहिंसा और करूणा पर आधारित जन-शक्ति कह सकते हैं। आचार्य विनोबा ने लोक-शक्ति के विचार का प्रयोग चार विभिन्न अर्थों में किया है। व्यवस्था परिवर्तन की दृष्टि से इन्हें जानना अप्रासंगिक इसलिए नहीं होगा कि ये चारों अर्थ भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं में परिवर्तनों की ओर संकेत करते हैं।

प्रथम अर्थ में लोक-शक्ति नागरिक शक्ति या नागरिकों की अहिंसक स्वावलज़्बी शक्ति का सूचक है। लोक-शक्ति का यह रूप तब प्रकट होता है जब नागरिक अपनी समस्याओं को पहचानने लगते हैं तथा संगठित होकर एक समुदाय का निर्माण करते हैं। ये व्यक्ति समस्याओं का समाधान सरकार या राज्य के भरोसे नहीं छोड़कर स्वयं करते हैं तथा साथ ही अन्य समुदायों को परस्पर सहयोग भी करते हैं।

दूसरे अर्थ में लोक-शक्ति हमारे सामने तब आती है, जब यह राज्य या प्रशासन के द्वारा हो रहे अत्याचारों का विरोध करने के लिए उठती है तथा नागरिक अहिंसक साधनों द्वारा अत्याचारों का विरोध करते हैं। इस अर्थ में लोक-शक्ति नागरिकों के प्रतिरोधात्मक कार्य के रुप में प्रकट शक्ति की सूचक है।

नागरिक स्वयं की परिस्थितियों और संस्थानों की परिस्थितियों में परिवर्तन लाने हेतु संगठित होकर अहिंसात्मक कार्यवाही करते हैं, यह लोक-शक्ति का तीसरा अर्थ है। इसमें नागरिक अपनी शक्ति का उपयोग कर शासकों को हटाकर अपनी इच्छानुसार सरकार का निर्माण करते हैं अर्थात् अहिंसक साधनों का प्रयोग एवं अहिंसक प्रतिकार के द्वारा लोक-शक्ति, समाज या सत्ता परिवर्तन का माध्यम बनती है।

चौथे अर्थ में लोक-शक्ति उपर्युक्त तीनों स्वरूपों को समाहित करते हुए स्वावलज़्बन, प्रतिरोधन और समाज परिवर्तन की समन्वयात्मक शक्ति का सूचक है, अर्थात् संगठित अहिंसक जन शक्ति अपनी समस्याओं का स्वयं समाधान करे, अपने मामलों को नियमित, नियंत्रित और संचालित करने की क्षमता प्राप्त करे तथा अपनी शक्ति से अपनी इच्छानुसार सरकार का गठन करे । ऐसे तंत्र में राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्थाओं के संचालन में प्रत्येक व्यक्ति की भागीदारी होती है।

अत: यह तीसरी शक्ति व्यवस्था परिवर्तन के लिए श्रेष्ठ साधन कही जा सकती है, क्योंकि अहिंसक होने के कारण यह मानवतावादी प्रक्रिया है। व्यवस्था परिवर्तन के लिए तो हमें अहिंसक साधनों को ही अपनाना होगा क्योंकि समाज के सभी अंगों में सज़्पूर्ण परिवर्तन अहिंसा से ही सज़्भव है।

तीसरी शक्ति के रूप में जन शक्ति को जाग्रत कर हम व्यवस्था परिवर्तन को कारगर रूप से घटित कर सकते हैं। व्यवस्थाओं के मुज़्यत: तीन पहलू हैं—आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था तथा राजनैतिक व्यवस्था। इन तीनों व्यवस्थाओं में परिवर्तन की दृष्टि से विचार अब प्रासंगिक होगा।

2.1 आर्थिक व्यवस्था

आचार्य महाप्रज्ञ अहिंसा प्रशिक्षण के सन्दर्भ में कहते हैं- अर्थ की प्रकृति में ही हिंसा है, अत: अर्थशास्त्र एवं आर्थिक व्यवस्था को पूर्णत: अहिंसक नहीं बनाया जा सकता; परन्तु इससे अपराध, क्रूर हिंसा, शोषण और विलासिता को अवश्य समाप्त किया जा सकता है। विकास की वर्तमान अवधारणा भौतिकवाद और उपभोक्तावाद पर टिकी है। उपभोग आवश्यकता पर आधारित न होकर उपभोग के लिए उपभोग किया जाता है। इससे कृत्रिम संस्कृति का निर्माण हुआ है। अत: आवश्यकता या अनिवार्यता की कोटि के उपभोग तक ही स्वयं को सीमित करना होगा। इससे एक ओर कुविकास की समस्या का समाधान होगा, दूसरी ओर वर्ग भेद कम होंगे तथा प्रकृति के अन्धाधुन्ध दोहन पर भी नियंत्रण होगा। विकास की मात्र भौतिक अवधारणा और व्यवस्था का विकल्प अहिंसक आर्थिक पुनर्निर्माण है। इस पुनर्निर्माण में साधन शुद्धि, व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा, उपभोग की सीमा, अर्जन के साथ विसर्जन तथा विलासिता की सामग्री के उत्पादन और आयात पर रोक आदि की व्यवस्था का व्यक्ति तथा सरकार दोनों को ईमानदारी से पालन करना

होगा। अर्थ-निष्ठा अहिंसा के प्रति निष्ठा नहीं हो सकती और अर्थ-निष्ठा हमें आस-पास के गरीबों से एक रूप भी नहीं होने देती। अर्थ-निष्ठा के त्याग और शरीर श्रम के बिना इस दूरी को पाटना लगभग असम्भव है। आचार्य विनोबा ने कहा था— हमें शरीर श्रम से ही रोटी कमाने का व्रत लेना चाहिए और पैसे अर्थात् अर्थ-निष्ठा से मुक्त होना चाहिए। इसके बिना शक्तिशाली अहिंसा प्रकट नहीं होती। विनोबा कहते हैं— जीसस क्राइस्ट जो कह गए हैं उसे मैं अक्षरश: मानता हूँ— सूई के छेद से ऊंट निकल सकता है किन्तु पैसे का मोह रखने वाला अहिंसा का साक्षात्कार नहीं कर सकता। अत: आर्थिक निष्ठा के स्थान पर अहिंसा की निष्ठा एवं इसके साथ-साथ अहिंसक तकनीक की खोज, सहकार का अर्थशास्त्र तथा स्वदेशी को आवश्यक स्थान देना होगा।

अहिंसक अर्थ व्यवस्था में किसका उत्पादन हो और किसका नहीं हो— यह प्रश्न भी विमर्शनीय है। मनुष्य की प्राथमिकता के आधार पर आवश्यकताएँ हैं— रोटी, पानी, वस्त्र, मकान और शिक्षा। अहिंसक अर्थ व्यवस्था में अनिवार्य आवश्यकताओं की सामग्रियों का उत्पादन ही मान्य हो सकता है और अनावश्यक पदार्थों, जैसे— मादक-द्रव्य, अस्त्र -शस्त्र, शृंगार की सामग्री एवं विलासिता के अन्य साधनों का उत्पादन मान्य नहीं हो सकता। जब एक बड़ी आबादी मूलभूत सुविधाओं से ही वंचित हो तो विलासिता की सामग्री का उत्पादन क्रूरता ही कहा जा सकता है।

2.1.1 आर्थिक आवश्यकता की संपूर्ति और शांति का समन्वय

अर्थशास्त्र आर्थिक समृद्धि का शास्त्र है और अर्थ का सीमाकरण शांति का शास्त्र। असीम आकांक्षा और शांति में कभी समझौता नहीं होता। मनुष्य के लिए आर्थिक संसाधन जरूरी हैं। शांति के धरातल को गौण कर यदि आर्थिक विकास हो तो परिमाणत: अशान्त मनुष्य आर्थिक समृद्धि से सुखानुभूति नहीं कर सकता। वर्तमान की अपेक्षा है— आर्थिक आवश्यकता की संपूर्ति और शांति। इन दोनों का समन्वय किया जाये। ऐकांतिक दृष्टिकोण विश्व की समस्या को समाधान देने में सक्षम नहीं है, इसलिए सापेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर आवश्यकता की संपूर्ति का अर्थ शास्त्र और शांति का अर्थशास्त्र दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। संयम, विसर्जन, त्याग, सीमाकरण— ये शब्द आर्थिक सम्पन्नता के स्वप्नद्रष्टा मनुष्य को प्रिय नहीं हैं । भोग, विलासिता, सुविधा इन शब्दों में सम्मोहन शक्ति है। जो प्रिय नहीं लगते, वे मानवता के भविष्य के लिए अत्यन्त अनिवार्य हैं। इस अनिवार्यता की अनुभूति ही महावीर और उनके सीमाकरण के सिद्धान्त को अर्थशास्त्र के सन्दर्भ में समझने की प्रेरणा देगी।

2.2 सामाजिक व्यवस्था

जीवन में हिंसा पाई जाती है, किन्तु हिंसा से जीवन कृतार्थ नहीं होता। हिंसा जीवन का प्रयोजन नहीं है। एक फ्रेंच लेखक ने हिंसा की अपरिहार्यता पर सोचते हुए लिखा था— 'Living is Killing' एक भारतीय लेखक ने उस फ्रेंच लेखक को लिखा- 'Living is killing is a fact of life' — इसे स्वीकार कर हम इससे ऊंचे उठते हैं और यह समझते हैं कि 'Killing the Least is living the best.' इस सूत्र में जीवन का प्रयोजन और कृतार्थता आ जाती है। यही जीवन का नियम (Law of life) है और यही जीवन की पूर्णता (Fulfilment of life).

काका कालेलकर लिखते हैं—''वर्ग-वर्ग के बीच, वंश-वंश के बीच संघर्ष, विरोध और वैमनस्य चलता रहता है, उसी को सनातन स्वभाव मानकर, उसी के अन्दर कुछ नियम ढूंढना एक प्रकार है। और संघर्ष टालकर परस्पर सहयोग द्वारा प्रेम पूर्ण संबंध स्थापित करना, त्याग और बलिदान द्वारा व्यापक आत्मीयता सिद्ध करना यह दूसरा तरीका है, अहिंसा का तरीका है।

उच्च-निम्न, अमीर-गरीब, मालिक-नौकर, शासक-शासित, सभ्य-जंगली आदि भेदों को स्वाभाविक, अपरिहार्य अथवा यथायोग्य समझकर उसी भेद को मजबूत करने वाली समाज रचना चलाना हिंसक और असामाजिक तरीका है। इसके स्थान पर भेदों को कमकर, मिटाकर मानव-मानव के बीच समानता, आत्मीयता बढ़ाना, प्रेम व आदर के संबंध रूढ़ करना तथा इसी प्रकार की कोशिशें करते जाना सामाजिक व्यवस्था में अहिंसा का समावेश है।''

पारिवारिक संबंधों में हिंसा के अतिरिक्त समाज में कई प्रकार की हिंसा हो सकती है। इनमें कुछ विशेष प्रकार की हिंसा का तो समाज में वर्जन आवश्यक है। जैसे-आक्रामक हिंसा, निरपराध व्यक्तियों की हत्या, भ्रूण हत्या, जातीय घृणा, छुआछूत आदि का व्यवस्थागत निषेध आवश्यक है। इन्हें महिमा-मंडित करने वाले पत्रों व मीडिया के अन्य साधनों पर भी नियंत्रण आवश्यक है। इसी

तरह मनोरंजन के लिए शिकार, पशुओं को लड़ाना, उन्हें मारने और उनके मांस भक्षण से मनुष्य को जो आनन्द आता है उसकी घृणितता और क्रूरता की और ध्यान खींचना, इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा को समाप्त करना तथा प्राणी जगत् को जहां तक संभव हो अभयदान देना समाज में अहिंसा की प्रतिष्ठा होगी।

धनसत्ता तथा शासन सत्ता के द्वारा समाज में जो सूक्ष्म, किन्तु भयानक हिंसा चलती है, उसकी ओर समाज का ध्यान आकृष्ट कर, उस पर नियंत्रण अहिंसा प्रधान समाज व्यवस्था में आवश्यक है। साम्प्रदायिक अभिनिवेश, मादक द्रव्यों का सेवन तथा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष हिंसा को महत्त्व देने वाली रूढ़ियों और कुरीतियों का वर्जन भी आवश्यक है। जो लोग या वर्ग हिंसा के द्वारा अपना फलितार्थ हल करना चाहते हैं, धन का स्वामित्व बाधित रखने की कोशिश करते हैं, अन्याय, आतंक और शोषण पर आधारित अपनी सत्ता छोड़ना नहीं चाहते, उन्हें दूसरों द्वारा साधन-शुद्धि और अहिंसक साधनों का आग्रह लगता है। वे मानते हैं कि साधन जब तक अहिंसक हैं तब तक हम सुरक्षित हैं। किन्तु वे यह नहीं जानते कि अहिंसक पद्धति से चलने वाले क्रांतिकारी स्वयं कष्ट उठाकर अपने बलिदान से सत्ता और प्रतिष्ठा की जड़ें काट देते हैं, और विचार क्रांति द्वारा जीवन क्रांति अपरिहार्य बनाते हैं। काका कालेलकर लिखते हैं– ''अगर किसी कारण ऐसा न हो सका तो अहिंसा की प्रतिष्ठा खत्म हो जाएगी। पीड़ित लोग विकराल और हिंसक बनेंगे और एक भयानक और अंधी हिंसक क्रांति खड़ी हो जाएगी। यह सब टालने हेतु व अन्यायों के निर्मूलन के लिए अहिंसक साधनों को सफल बनाने के रास्तों की खोज अहिंसा पर आधारित समाज व्यवस्था में आवश्यक है। वे पुन: लिखते हैं– ''जब सत्ता मूलक नीच भाव और भेदभाव नष्ट होगा तब जातिभेद, वंशभेद और धर्मभेद का कडुवापन और अलगावपन अपने आप ही कम होगा। लेकिन इन भेदों में तात्त्विक कारणों को ढूढ़कर सत्यनिष्ठा के बल पर विविधता को जरूरी प्रश्रय देकर अहिंसक तरीकों से सामंजस्य लाने की कोशिश तो करनी ही होगी।''

आचार्य विनोबा कहते हैं भारतीय समाज के लिए समृद्धि अर्थात् जीवनस्तर बढ़ाना ही काफी नहीं है। जीवनमान बढ़ाने के प्रयत्न भले ही हों किन्तु उसके साथ जो मुज़्य चीज आवश्यक है–वह है अभय। विनोबा कहते हैं–''मेरी निगाह में राज्य और सरकार की कोई जरूरत नहीं है यदि हम सामाजिक अभय स्थापित नहीं कर सकते।'' आचार्य विनोबा ने भारतीय समाज के भय स्थानों की चर्चा की है। प्रजा में अत्यन्त दारिद्रय का होना और प्रजा में एकरसता का न होना– ये दोनों महत्त्वपूर्ण भय स्थान हैं। राज्य संस्थाओं का यह कर्त्तव्य है कि वह इन भय स्थानों का निराकरण करें। विश्व में अनेक मानव वंश हैं, इसलिए सज़्पूर्ण एकरसता तो सहज नहीं है किन्तु एक समरसता का समाज शिक्षा में व्यापक परिवर्तन कर स्थापित किया जा सकता है। समाज में व्याप्त एक विरोध को भी विनोबा प्रकट करते हैं। वे कहते हैं– ''लोग शांति की उपासना करना चाहते हैं। किन्तु उनकी अन्तिम श्रद्धा शांति में नहीं होती, अन्तिम श्रद्धा शक्ति में ही होती है। इसलिए उन्हें सतत यह आभास होता रहा है कि अगर शक्ति हमारे पास न हो तो हमारी सुरक्षा कैसे होगी? इसी सोच ने हमें अणु अस्त्रों तक पहुंचाया। वस्तुत: यह शक्ति कोई मसला हल करने वाली नहीं है।'' इस शक्ति पर हमारा विश्वास इसलिए है क्योंकि हम दण्ड शक्ति में विश्वास करते हैं। सामाजिक समता, मानसिक शांति के साथ ही हमें यह विश्वास हो जाये कि रक्षण के लिए भी सत्त्वगुण समर्थ है तो समाज में अभय का विकास होगा। आचार्य विनोबा हृदय परिवर्तन, जीवन परिवर्तन और समाज परिवर्तन– इस त्रिविध परिवर्तन के अन्तर्गत सामाजिक क्रांति के लिए मनोवृत्ति को बदलने की प्रवृत्ति पर जोर देते हैं। उनके अनुसार मनोवृत्ति का बदलाव जो युद्धों और हिंसक क्रांतियों से नहीं हुआ वह महावीर, बुद्ध, ईसा, रामानुज आदि ने अहिंसक तरीके से कर दिखाया। वस्तुत: हमारा यह विचार ही गलत है कि हिंसा से सारे मसले हो सकते हैं और जल्दी हो सकते हैं, किन्तु ऐसा होता नहीं है। मसले हल हुए, ऐसा आभास हमें होता है। आभास को ही सत्य मान लें यह गलत होगा। हिंसा से मसले हल करना ब्याज के कारण मूल पूंजी को गंवाने जैसा है। उदाहरणार्थ– बच्चे को मारकर हम उसे नियमित स्कूल जाना सिखा सकते हैं किन्तु उसके साथ बच्चा डर भी सीखता है अर्थात् हम नियमितता के लिए निर्भयता को गवाँ बैठते हैं। इसलिए समाज में कानून और व्यवस्था से भी पहले अभय की आवश्यकता है और सात्त्विक गुण अर्थात्-अहिंसा की शक्ति में हमारी आस्था की आवश्यकता है।

नई समाज व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसी वैकल्पिक चिकित्सा पद्धति का विकास भी आवश्यक है जिसमें रोगों का उपचार आयुर्वेद, आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि से हो जाये। काका कालेलकर लिखते हैं– सृष्ट पदार्थों का रहस्य समझने के लिए प्रयोगशालाओं में जीव-जन्तुओं और पदार्थों को काटना, पीटना, जलाना आदि वैसा ही है, जैसे किसी षडयंत्र का रहस्य ढूंढने के लिए

पुलिस अभियुक्तों को मारती है, पीटती है, भूखे रखकर और सोने न देकर परेशान करती है । अहिंसक पद्धति ऐसे प्रयोगों को छोड़कर योग पद्धतियों का आविष्कार करेगी, जिसके द्वारा प्राणियों और वनस्पतियों के स्वभाव का और इनके विकास का निरीक्षण-परीक्षण किया जा सकेगा।

2.3 राजनैतिक व्यवस्था

अहिंसक राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं— अहिंसा पर आधारित राजनीति वह है जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन नहीं होता। जहां व्यक्ति और राष्ट्र का सम्बन्ध मात्र यांत्रिक नहीं होता, व्यक्ति की स्वतंत्रता का मूल्यांकन किया जाता है। व्यक्ति का राष्ट्र के साथ सम्बन्ध होता है, साथ ही व्यक्ति की स्वतंत्रता आत्मानुशासित और अक्षुण्ण होती है। ऐसी स्वतंत्रता व्यक्तिगत विशेषताओं का संरक्षण है जो राष्ट्र की समृद्धि की आवश्यक शर्त है।

हिंसा की रोकथाम, सुरक्षा और विधि व्यवस्था कायम रखना ही राजनीति का कार्य नहीं है। अच्छी राजनीति का लक्ष्य है— व्यक्ति का हित और मानव कल्याण अर्थात् राज्य को विधि व्यवस्था से पूर्व व्यक्ति निर्माण की दिशा में ठोस कार्यक्रम लागू करने चाहिए। राज्य गरीबी आदि को दूर करने के साथ-साथ नागरिकों को अभय भी करे। आचार्य विनोबा कहते हैं —जिनका विश्वास अहिंसा में है उनको लोकनीति की स्थापना में अपनी शक्ति लगानी चाहिए अर्थात् राजनीति को समाप्त कर लोक नीति स्थापित हो। राजनीति के धार्मिकीकरण की आवाज भी बहुत बार उठती रही है। सर्वप्रथम राजनीति को स्पिरिच्युअलाइज शब्द का प्रयोग गोपालकृष्ण गोखले ने किया। गांधी ने इस विचार को बार-बार रखा। यह कोशिश पहली बार हुयी हो, ऐसा नहीं है। इतिहास में कई बार इस तरह के प्रयत्न हुए हैं। हममें से बहुते से व्यक्ति यह मानते हैं कि समाज विकास में एक ऐसा बिन्दु आ जाये, जब दण्ड के आधार पर शासन चलाने की आवश्यकता न रहे। इस ध्येय को साज़्यवादी भी मानते हैं, ध्येय प्राप्ति का उनका मार्ग भले ही कुछ और हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो यह मानते हैं कि समाज में दण्ड की आवश्यकता सदैव है; इसलिए शासन भी सदैव रहेगा। दण्ड शक्ति को एक स्थान देना तो आवश्यक हो सकता है किन्तु अहिंसक राज्य व्यवस्था में दण्ड और सत्ता का स्थान गौण रहकर मुज़्य स्थान सेवा का रहे।

स्वतंत्रता के पश्चात् समाज की समाजवादी रचना का लक्ष्य हमने रखा इस हेतु अहिंसक साधनों को ही स्वीकृत किया गया। विनोबा लिखते हैं— जब मैं समाजवादी रचना और अहिंसा ये दो शब्द एक साथ सुनता हूं तो मेरे मन में दोनों का समन्वित अर्थ सिवाय सत्याग्रह, सिवाय सर्वोदय के और कुछ नहीं निकलता। समाजवादी रचना के लिए आवश्यक परिवर्तन अत्यन्त धीमी गति से हो, इसका विरोध करते हुए विनोबा कहते हैं— मुझे लगता है कि अहिंसा की यह व्याज़्या अहिंसा के लिए खतरनाक और हिंसा के लिए अधिक उपयोगी है। उन्होंने अपने पक्ष में भगवान बुद्ध का यह वचन उद्धृत किया है—**मन्दं हि कुर्वतः पुण्यं पापे हि रमते मनः** अर्थात् यदि हम पुण्य आचरण आलसी होकर मन्द गति से करते हैं, तो पाप शीघ्र एवं त्वरित गति से बढ़ता है।

स्वतंत्रता के पश्चात् कांग्रेस को शासन सुपुर्द करना गांधी का लक्ष्य नहीं था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् वस्तुतः कांग्रेस का कार्य समाप्त हो चुका था, इसीलिए गांधी ने कांग्रेस को स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् लोकसेवक संघ के रूप में विकसित करने की सोची। गांधी का यह स्पष्ट मन्तव्य था कि अहिंसक समाज एवं राज्य में सबसे बड़ी संस्था वह होनी चाहिए जो सेवामय हो। सेवा पर प्रतिष्ठित होकर सच्ची लोकशाही तभी टिक सकेगी जब उसका विश्वास साधन शुद्धि में हो। ऐसा राज्य समूचे संसार की शांति के लिए कार्य करता है और राजा राममोहनराय के शब्दों में एक पक्षीय सज्जनता प्रकट करता है।

अहिंसक राजनीतिक व्यवस्था के उपर्युक्त विश्लेषण और प्रशिक्षण के साथ-साथ हमें निज़्नांकित परिवर्तन और प्रशिक्षण के लिए भी सजग रहना होगा।

- दलगत राजनीति हिंसा का एक कारण है। यह पक्षपात और पूवाग्रह को जन्म देती है। राजनीति की व्यवस्था में अहिंसा का आदर्श होना चाहिए। व्यवस्था में अहिंसा अंतर्भूत रहे। ऐसी व्यवस्था का निर्माण हो कि सबको आजीविका, रोटी तथा विकास के साधन उपलब्ध हों। कहीं भी हिंसा को प्रोत्साहन न मिले।

- हमारी शासन प्रणाली उभयविध हो। नीचे ग्राम से पंचायती राज का विकास हो और ऊपर केन्द्र की सरकार बड़े-बड़े कार्यों को करने के लिए रहे। राजनेताओं का राजनैतिक प्रशिक्षण तथा जन्तन्त्र में अहिंसा का प्रशिक्षण आवश्यक है। वर्तमान राजनीति में राजनीति के प्रशिक्षण के लिए कोई स्थान नहीं है। परिणामस्वरूप गुणवत्ता के स्थान पर सिर्फ दक्षता इसका आधार रह गया है। किसी भी जनतांत्रिक व्यवस्था के लिए अहिंसक जीवनपद्धति अपनाना अनिवार्य है।
- वर्तमान चुनाव पद्धति में जातिवाद, सज़्प्रदाय जैसे अनेक हिंसक व्यापार जड़े हुए हैं। इसे अहिंसक बनाने के लिए अणुव्रत एवं सर्वोदयी नीति का पालन होना चाहिए। अहिंसक राजनीति के लिए सत्ता का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है, जिससे शासक निरंकुश न हो और एक व्यक्ति के अहं को मौका न मिले।
- व्यवस्था परिवर्तन के लिए संगठनात्मक प्रशिक्षण भी आवश्यक है, जिसमें अनुसंधान, योजना, कार्य के लिए तैयार होना, प्रचार, कार्य का प्रारज़्भ, नेतृत्व आदि संगठन के विभिन्न पहलुओं के लिए प्रशिक्षण प्राप्त करना आवश्यक है।
- एक सर्वोच्च संसद का निर्माण अति आवश्यक है जो समाज की नियामक और निर्णायक नहीं बल्कि निदेशक हो। ऐसी संसद में धर्मगुरु, वैज्ञानिक, दार्शनिक, पत्रकार जैसे तटस्थ और निष्पक्ष लोग रहें। इनके निर्देश नियम से भी अधिक प्रभावशाली होंगे और इससे अहिंसक समाज के निर्माण में सहयोग मिलेगा।

आचार्य महाप्रज्ञ अपनी सप्तवर्षीय अहिंसा यात्रा के अनन्तर अहिंसा का प्रयोग स्वयं तो करते ही रहे हैं, जनमानस को अहिंसा में प्रशिक्षित करने के व्यापक प्रयास भी उन्होंने किए हैं। यात्रा के अनन्तर हुए अनुभवों का ही यह परिणाम है कि उन्होंने अहिंसा प्रशिक्षण के आयामों में एक नवीन आयाम **'सज़्यक आजीविका'** जोड़ा। यह उनके अहिंसा प्रशिक्षण की सतत विकासशीलता का द्योतक है। अत: यहां 'सज़्यक आजीविका' के आयाम पर भी विचार करना अनापेक्षित नहीं होगा।

2.3.1 सज़्यक् आजीविका

हिंसा का एक कारण गरीबी अथवा अभाव है। पेट भरे न होने की स्थिति में अहिंसा का प्रशिक्षण संभव ही नहीं होगा। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार— मनुष्य की प्रकृति के चार तत्त्व हैं— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। भारतीय चिंतन इन चारों पुरूषार्थों का समन्वय करता है। वर्तमान चिंतन अर्थ और काम को प्रधानता देता है धर्म और मोक्ष को नहीं। इसी का परिणाम है कि व्यक्ति सुविधा, आसक्ति, विलासिता और अहं को पोषित करता है जिसके फलस्वरूप मनुष्य गौण हो जाता है और अर्थ प्रधान बन जाता है।

प्रसिद्ध इतिहासकार टॉयनवी ने लिखा है— कोरी रोटी (अर्थ) और कोरी आस्था (धर्म)- दोनों अपर्याप्त हैं। मनुष्य केवल रोटी के आधार पर नहीं जी सकता और केवल आस्था के सहारे भी नहीं जी सकता। इसलिए रोटी और आस्था दोनों का समन्वय आवश्यक है।

कहा गया है— **'अधनम् निर्बलम्'**। अर्थात् जो अधन है वह निर्बल है। दरिद्र और गरीब कभी वांछनीय नहीं रहे, वे सदैव तिरस्कृत हुए हैं। दरिद्रता को समाप्त करने अथवा नियंत्रित करने की दृष्टि से हेय और प्रेय, साधन शुद्धि और स्वार्थ की सीमा पर चिंतन आवश्यक है।

जो वचन प्रिय है, वह हितकर हो, यह आवश्यक नहीं है। जो वचन हितकर है, वह प्रिय हो यह भी आवश्यक नहीं है। एक वचन हितकर भी हो सकता है और प्रिय भी। अतिभाव अथवा समृद्धि, स्वार्थपूर्ति, संग्रह— ये प्रिय हैं किन्तु हितकर नहीं। इससे सज़्पत्ति और संसाधनों के प्रवाह में अवरोध पैदा होता है। यह अवरोध संग्रहकर्त्ता के लिए भी अच्छा नहीं है और समाज के लिए भी अच्छा नहीं है। यह स्थिति प्रिय और हितकर तभी हो सकती है जब अतिरिक्त सज़्पत्ति और संसाधनों का वितरण अभावग्रस्त के पक्ष में हो।

आर्थिक विकास काज़्य तो है, किन्तु येन-केन-प्रकारेण नहीं। आर्थिक विकास में मूल्यों का ह्रास न हो, यह विकास की अनिवार्य शर्त है। आर्थिक विकास के लिए प्रयुक्त साधन शुद्ध तो होने ही चाहिए, साथ ही समृद्ध बनने के साथ-साथ करूणा एवं संवेदनशीलता का विकास भी होना चाहिए।

स्वार्थ सदैव अवांछनीय नहीं है, किन्तु उसकी मर्यादा आवश्यक है। ऐसा स्वार्थ जो दूसरों के हित को क्षति पहुंचाता है कज़ी भी वांछनीय नहीं हो सकता। स्वार्थ आर्थिक साम्राज्यवाद को विकसित करता है किन्तु मानव कल्याण गौण हो जाता है क्योंकि स्वार्थ क्रूरता को जन्म देता है। करूणा का विस्तार रूक जाता है। आर्थिक विकास के साथ संवेदनशीलता का विकास अतिभाव और अभाव के बीच की खाई को कम करता है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने मनुष्य को तीन वर्गों में विभाजित किया है—

- महेच्छ
- अल्पेच्छ और
- इच्छाजयी

वर्त्तमान अर्थशास्त्रीय दृष्टि है— इच्छा को बढ़ाओ। इच्छा बढ़ेगी तो महारंभ होगा, बड़ी प्रवृति होगी, उत्पादन बढ़ेगा। आचार्य महाप्रज्ञ ने महावीर को उद्धृत करते हुए लिखा है- ''जो महारंभ होगा, महेच्छ होगा वह आजीविका अधर्म के साथ चलाएगा, धर्म का विचार नहीं करेगा है।... वह पुरुष चण्ड, रुद्र, क्षुद्र, वक्र, दु:शील एवं दुष्प्रत्यानंद होगा।'' अर्थात् महा-इच्छा और महा-आरंभ प्रवृत्ति का व्यक्ति धर्म-अधर्म का विचार न कर स्वयं के लिए जो उपयोगी है, लाभदायक है तो वह किसी के प्राण-वियोजन से भी कंपित नहीं होगा।

अल्प-इच्छा वाला व्यक्ति उद्योगधन्धे स्थापित करेगा, किंतु पूंजी का एकत्रीकरण नहीं करेगा। आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं- ''महात्मा गांधी ने जो विकेन्द्रित अर्थनीति और विकेन्द्रित सत्ता की बात कही, वह महावीर के इसी 'अल्पेच्छ' शब्द का अनुवाद है।'' महावीर ने कहा है—''**धज़्मेणं वित्तिं कप्पेमाणा**''— अर्थात् अल्प- इच्छा वाला व्यक्ति धर्म के साथ अपनी आजीविका चलाता है, वह किसी के साथ अन्याय नहीं कर सकता, क्रूर व्यवहार नहीं कर सकता, शोषण एवं हेरा-फेरी नहीं कर सकता।

तीसरे प्रकार के व्यक्ति 'इच्छाजयी' या 'अनिच्छ' हैं। ऐसे व्यक्ति ऋषि-मुनि हो सकते हैं, सामान्य व्यक्ति या सामाजिक प्राणी नहीं।

सज़्यक् आजीविका वाले व्यक्ति केवल स्वहित या स्वलाभ के एकांगी दृष्टिकोण से न चलकर आर्थिक समृद्धि के साथ अहिंसा के विकास पर भी समान रूप से बल देगें।

आजीविका शुचिता में केन्द्रीय चिंतन संयम और शांति का रहता है, सुख और संतुष्टि का नहीं। संतुष्टि और सुख अर्थशास्त्र का मुज़्य ध्येय हैं। सुख प्राप्य तो हो सकता है, किंतु येन-केन-प्रकारेण नहीं। जहां शांति का प्रश्न होता है, वहां साधन-शुद्धि का विचार केन्द्र में अवश्य रहेगा ही।

भगवान महावीर के काल में कृषि मुज़्य व्यवसाय था। कृषि को केन्द्र में रखकर उन्होंने साधन-शुद्धि के पांच सूत्र दिये—

- बंधन करना
- वध न करना
- अविच्छेद न करना
- अतिभार न लादना और
- भक्तपान का विच्छेद न करना

अर्थात् किसी को भी बंधन में नहीं रखना— न पशु को, न मनुष्य को। उनका वध भी नहीं करना, उन्हें मारना, पीटना व सताना भी नहीं। उनका अंग-भंग न करना। उन पर क्षमता या कानून सज़्मत से अधिक वजन न लादना। उनकी आजीविका का विच्छेद न करना और उनका शोषण भी नहीं करना। आचार्य महाप्रज्ञ श्रम और अर्थ के बीच संयम को जोड़ते हैं। श्रम का भी शोषण

न हो और आजीविका का भी विच्छेद न हो। समर्थ व्यक्ति अधिक श्रम कर सकता है किंतु निर्बल व्यक्ति उतना श्रम नहीं कर पाता। यदि श्रम के आधार पर मूल्य दिया जाए तो निर्बल की आजीविका का विच्छेद हो जाएगा, शोषण हो जाएगा। अनिवार्यता और प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके, इतना मूल्य तो उसे मिलना ही चाहिए। यहां संयम-विवेक श्रम और अर्थ के बीच की कड़ी हो जाती है।

आजीविका शुचिता में उत्पादन की जाने वाली वस्तुओं की भी सीमा आवश्यक है। यथा- डॉ. सेठ और डॉ. मार्शल ने वेश्यावृति को उत्पादक श्रम न मानते हुए उसे उत्पादन से अलग कर दिया। गांधी ने शराब के उत्पादन को भी नैतिक नहीं माना। आचार्य महाप्रज्ञ ने महावीर-दर्शन के आलोक में उत्पादन के संदर्भ में तीन निर्देश दिये हैं—

- अहिंसप्पयाणे— हिंसक शस्त्रों का निर्माण न करना
- असंजुत्ताहिकरणे— शस्त्रों का संयोजन न करना
- अपावकज़्मोवदेसे— पापकर्म-हिंसा का प्रशिक्षण न देना

ये तीनों ही निर्देश आजीविका शुचिता की दृष्टि से भी तथा अहिंसा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। गांधी ने बड़े उद्योगों का विरोध किया। महावीर ने व्रती समाज (अहिंसक समाज) के सदस्यों के लिए उस समय के कई उद्योगों को प्रतिबंधित किया। जैसे— खनन का कार्य न करना, वनों की कटाई न करना, खेती आदि के लिए जंगलों में आग न लगाना, पशु-पक्षियों का व्यापार न करना, शस्त्र का व्यापार न करना, शराब आदि मादक पदार्थों का व्यापार न करना। इन निषिद्ध व्यापारों के अतिरिक्त उन्होंने उत्पादन की भी सीमा करने का निर्देश किया है। साधन-शुद्धि की दृष्टि से झूठा तौल-माप, गबन, गल्त वस्तु देना आदि का भी निषेध किया है। अत: आजीविका के केन्द्र में हमें अहिंसा और शांति को सामने रख कर अर्थशास्त्रीय अवधारणाओं का पुर्नावलोकन व पुनर्विचार करना होगा तभी एक व्यक्ति आजीविका शुचिता की ओर बढ़ सकता है।

निष्कर्षत: अहिंसा प्रशिक्षण की चर्तुआयामी अवधारणा केवल व्यक्ति तक ही सीमित नहीं है, इस अवधारणा में समाज भी सज़्मिलित है। व्यक्ति के परिवर्तन की दृष्टि से हृदय परिवर्तन, दृष्टिकोण-परिवर्तन, जीवन-शैली परिवर्तन एवं आजीविका शुचिता महत्त्वपूर्ण है जबकि समाज परिवर्तन की दृष्टि से समाज के कर्णधारों के दृष्टिकोण परिवर्तन, सामाजिक-आर्थिक, राजनैतिक व्यवस्थाओं का परिवर्तन तथा उद्योग धंधों एवं व्यवसाय में साधन शुद्धि और संयम महत्त्वपूर्ण है। दोनों का समेकित परिवर्तन ही आचार्य महाप्रज्ञ की अभिनव शांति तकनीक अहिंसा प्रशिक्षण का मुज़्य ध्येय है। तभी अहिंसक समाज का लक्ष्य प्राप्त हो सकता है।

3. सत्याग्रह

सत्याग्रह मूलतः संस्कृत शब्द है। यह एक सामाजिक शब्द है जो 'सत्य' और 'आग्रह' से मिलकर बना है। इसका अर्थ है सत्य पर डटे रहना, सत्य को मजबूती से पकड़े रहना तथा सत्य का आग्रह करना।

सत्य 'सत्' से बना है। सत् का अर्थ है—होना या वह जिसका अस्तित्व है। सत्य का अर्थ है—जो है उसके अनुसार। अतः जिसका अस्तित्व है, उसके अनुरूप जो बात है, प्रत्यक्ष जो वस्तुस्थिति है उसका यथार्थ ज्ञान। वेदों में सत्य के अनुरूप कृति के लिए—ठीक काम के लिए एक खास शब्द है। वह है 'ऋत्'। सत्य का अर्थ है वस्तुस्थिति का ज्ञान और 'ऋत्' का अर्थ है सत्यानुरूप व्यवहार। वैदिक ऋषि इस बात को जोर देकर कहते हैं कि सत्य और ऋत् दोनों साथ—साथ रहने चाहिए।

सन् 1906 में गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में वहां के काले कानूनों का विरोध करने के लिए हिन्दुस्तानियों के जिस आंदोलन का नेतृत्व किया उसे प्रारंभ में 'पेसिव रेजिस्टेन्स' कहा गया। लेकिन इस शब्द को वहां के हिन्दुस्तानी पूर्णतः समझ नहीं सकते थे और न ठीक—ठीक इस्तेमाल कर सकते थे। यह शब्द भी अंग्रेजी था। अतः गांधीजी को इसमें शर्म महसूस हुई। लेकिन इससे भी ज्यादा महत्त्व की बात यह थी कि गांधीजी अनुभव करने लगे कि उन्होंने जिस आांदोलन को प्रारंभ किया है वह निःशस्त्र प्रतिकार के साधारण अर्थ से मूलतः भिन्न

है। गांधीजी को इसके लिए उपयुक्त शब्द नहीं सूझा। अतः उन्होंने 'इडियन ओपीनियन' में घोषणा की कि इसके लिए जो अच्छा शब्द सुझाएगा उसे इनाम दिया जायगा। परिणामस्वरूप कई लोगों के सुझाव आये। श्री मगललाल गांधी ने 'सदाग्रह' शब्द सुझाया। सदाग्रह का अर्थ है अच्छे काम में निष्ठा। गांधीजी को इससे पूरा संतोष नहीं हुआ। पूरे अर्थ को अभिव्यक्त करने की दृष्टि से उन्होंने संशोधन करके उसका नाम 'सत्याग्रह' रखा। इसका अर्थ है– सत्य की शक्ति, सत्य व प्रेम से उत्पन्न होने वाली शक्ति अर्थात् अहिंसा। गांधीजी के मतानुसार सत्य और अहिंसा अथवा प्रेम दोनों एक ही रूप हैं। सब धर्मों की तरह हिन्दू धर्म में भी सत्य और सत्याचरण को सबसे ऊंचा स्थान दिया गया है। संस्कृत तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं के साहित्य में सत्य की खोज बहुत सुपरिचित विषय है; लेकिन सत्याग्रह शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं पाया जाता।

गांधीजी का कथन था कि– दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के समय किसी अज्ञात नवजात शिशु की भांति एक नये सिद्धान्त का जन्म हुआ। बस इतना ही उन्हें मालूम था। लेकिन गांधीजी सत्याग्रह के तरीके को जैसे–जैसे आगे बढ़ाते गये वैसे–वैसे सत्याग्रह शब्द अर्थ और विशेषता की दृष्टि से अधिक–अधिक समृद्ध होता गया। छोटे–से बीज से वह एक विशाल वृक्ष बन गया और एक रामबाण समाधान बन गया है। सर्वांगीण जीवन की अखण्ड विचारधारा के अर्थ में सत्याग्रह का प्रयोग किया जाता है। शब्द वही है लेकिन गांधीजी के प्रगतिशील जीवन के साथ और उनके द्वारा किये गये सत्य के भिन्न–भिन्न प्रयोगों के साथ उसका अर्थ भी विकसित होता गया।

'सत्याग्रह' का प्रयोग निशस्त्र प्रतिकार के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रारंभ हुआ। यद्यपि भी निःशस्त्र प्रतिकार शब्द प्रचलित है लेकिन सत्याग्रह की अपेक्षा एकदम भिन्न अर्थ में। इसमें कोई संदेह नहीं कि दक्षिण अफ्रीका के भारतवासियों ने जो आंदोलन किया उसका तात्कालिक स्वरूप हिंसक सशस्त्र प्रतिकार से भिन्न था। वह लगभग 'निष्क्रिय प्रतिकार' जैसा ही था। लेकिन वही दोनों का साम्य समाप्त हो जाता है। गांधीजी का मार्ग, सैद्धान्तिक भूमिका तथा तंत्र सब कुछ साधारण निशस्त्र प्रतिकार से भिन्न थे। इसीलिए गांधीजी को नये शब्द की आवश्यकता हुई और सत्याग्रह की उत्पत्ति हुयी।

ऐतिहासिक दृष्टि से सामान्यतः निःशस्त्र प्रतिकार का जो अर्थ लगाया जाता है। उसमें सैद्धान्तिक दृष्टि से हिंसा का त्याग नहीं होता बल्कि इसलिए कि शस्त्रों के अभाव में निःशस्त्र प्रतिकार के अलावा दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है। यदि शस्त्र हाथ लग जाय या उसके प्रयोग से सफलता की पूरी आशा हो जाय तो शस्त्रों का भी आलम्बन लिया जा सकता है। अथवा निःशस्त्र और सशस्त्र प्रतिकार दोनों का प्रयोग एकसाथ किया जा सकता है। निःशस्त्र प्रतिकार में किसी विशेष कार्य के लिए शत्रु को परेशान करने और उस पर पूरा दबाव डालने की कल्पना निहित है। उसमें प्रेम के लिए कहीं भी स्थान नहीं है। अतः उसका उपयोग आत्मीय लोगों के विरुद्ध नहीं किया जा सकता। निःशस्त्र प्रतिकार में रचनात्मक प्रवृत्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। निःशस्त्र प्रतिकार कोई जीवन–सिद्धान्त नहीं माना जाता।

सत्याग्रह इससे भिन्न है। सत्य के लिए आग्रह करना ही सत्याग्रह की आधारशिला है। उसमें प्रत्येक अवस्था और स्वरूप में हिंसा का त्याग किया जाता है। धन और जन को नुकसान पहुंचाने वाली किसी भी हिंसक प्रवृत्ति से सत्याग्रह का सम्बन्ध नहीं हो सकता। शत्रु को नष्ट करने की भावना सत्याग्रह में नहीं है। बल्कि सहानुभूति संयम व कष्ट–सहन के द्वारा उसका मत–परिवर्तन करना और उसे अपने पक्ष में मिलाने का भाव उसमें निहित है। यद्यपि सत्याग्रह सारे अन्यायों का तिरस्कार करता है और उनसे किसी भी तरह समझौता करने के लिए तैयार नहीं रहता तथापि अन्याय करने वाले को अपनी ओर खींचने के लिए उसके पास प्रेम के अलावा दूसरा रास्ता नहीं है। मनुष्य की मूलभूत सद्प्रवृत्ति पर उसका विश्वास होता है। अपने निकटतम तथा प्रिय व्यक्ति के विरुद्ध भी सत्याग्रह शस्त्र का प्रयोग किया जा सकता है। प्रेमपूर्वक ही सत्याग्रह का प्रयोग किया

जाता है और जिसके प्रति प्रेम होता है उसके लिए ही सत्याग्रही में हर दर्जे के कष्ट सहने की तैयारी होती है। जब प्रत्यक्ष लड़ाई नहीं होती तब सत्याग्रही त्याग और सेवा की भावना से स्वयं को रचनात्मक कामों में लगा देता है।

आजकल सत्याग्रह शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों में किया जाता है। एक तो तत्त्वप्रणाली और नैतिक मूल्य के रूप में जिसे गांधीजी व उनके निकटतम अनुयायियों के जीवनक्रम का आधार माना गया है। दूसरा व्यक्तिगत व सामूहिक रूप में अन्याय के प्रतिकार का वह मार्ग जिसे गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में प्रारम्भ किया और बाद में हिन्दुस्तान में आगे बढ़ाया। इनमें से पहले प्रकार के लिए अनुशासन का मानदण्ड स्वभावतः ही ज्यादा ऊंचा रहता है। सत्याग्रह के सिद्धान्तों और रीति–नीति पर सत्याग्रही की पूर्ण निष्ठा होनी चाहिए। अन्याय का प्रतिकार करने के लिए एक हथियार के रूप में जो लोग सत्याग्रह का सहारा लेते हैं उनके लिए शर्त यही हैं कि सत्य उनके पक्ष में अवश्य हो। भले ही वह सिद्धान्त या धर्म के रूप में नहीं पर व्यवहार नीति के रूप में तो उन्हें अहिंसा का पालन करना चाहिए। जब सामूहिक सत्याग्रह प्रारंभ किया जाता है तब इस बात की जरूरत नहीं रहती कि समूह का प्रत्येक व्यक्ति सत्याग्रह के सिद्धान्तों को पूरी तरह अपनाए। यदि नेता सत्याग्रह की आत्मा में घुल मिल गया हो तथा जनता नेता के अंकुश में हो और उनमें धन जन पर आघात करने वाले अत्याचारी कामों से दूर रहने का संयम हो तो यह काफी है। कई बार 'सत्याग्रह' जैसे व्यापक शब्द की सविनय प्रतिकार राष्ट्र का प्रयोग करना ज्यादा सार्थक होता है।

यह एक जीवन–मार्ग है। जो सत्य की साधना करना चाहता है वह सर्वग्राही प्रेमभाव से हर समय सत्याग्रह का पालन करता है। उस प्रेमभाव को वह अपनी अखण्ड निष्काम सेवा के लिए व्यक्त करता है और आवश्यकता पड़ने पर उसके लिए मृत्यु को भी खुशी–खुशी गले लगा लेता है। परन्तु अपने मन, वाणी और कर्म से संसार के किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देता। सत्याग्रह का एक और अर्थ किया जाता है और वह है गांधीजी द्वारा प्रचारित अन्याय विरोध का अहिंसात्मक प्रत्यक्ष प्रतिकार।

3.1 सत्याग्रह के सिद्धान्त

सत्याग्रह प्रेम का–सबके प्रति प्रेम का–सिद्धान्त है। वह दूसरों को आत्मीयता की दृष्टि से देखता है। सत्याग्रही के लिए प्राणीमात्र समान हैं। दूसरों के साथ भी वह अपने जैसा ही व्यवहार करता है। दूसरों में वह अपना ही व्यक्तित्व देखता है। सत्याग्रही केवल प्रेम अथवा अहिंसा के द्वारा ही सत्य की साधना करता है। सेवा और त्याग के द्वारा वह सबका हित साधने का प्रयत्न करता है, जो प्रेम पर अधिष्ठित होता है। यदि किसी ने सत्याग्रही का रास्ता रोका अथवा उसके कर्तव्य में बाधा डाली अथवा उससे असंगत जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न किया तो उसके प्रतिकार के लिए दूसरों को कष्ट देने के बजाय वह खुद उसे उठा लेता है। सत्य के लिए वह अपने प्राणों की भी बाजी लगा देता है। यदि उसे अपने विपथगामियों के आक्रमण से मृत्यु का सामना करना पड़ा तो वह उसे आत्मा की, शरीर पर विजय समझता है। असत्य के सामने सिर झुकाने के बजाय वह शरीर–त्याग करके आत्मा को मुक्ति प्रदान कर देगा। वह मानता है कि प्रेम के द्वारा सत्य–साधना करने के लिए शरीर एक साधन मात्र है। सत्य या अहिंसा के मार्ग से वह थोड़ा भी विचलित नहीं होता। चाहे कैसी ही यातनाएं सहना पड़े उसके हृदय में विरोधियों के लिए थोड़ी–सी भी कटु भावना को स्थान नहीं मिलता।

सत्याग्रही अत्याचारी के साथ अपने शारीरिक बल से न लड़ता है न विरोध करता है। अपितु वह सब कुछ हंसते–हंसते सहन करता है। इतना ही नहीं मौका पड़ने पर उसके हाथों मरना भी पसंद करता है। शक्ति होते हुए भी उसमें बदला लेने की भावना नहीं होती। उसका इस अंतिम निष्ठा पर आधार रहता है कि मेरे कष्ट सहन से ही विरोधी का अज्ञान स्वार्थ और साहस टूट जायगा। विरोधी को उसकी गलती अनुभव कराने का एक

भी उपाय वह बाकी नहीं छोड़ता। लेकिन इसके साथ विरोधी के द्वारा किया गया अपमान और कष्ट–सहन भी जारी रहता है ओर ऐसा करते हुए विरोधी के प्रति उसके हृदय में सद्भाव रहता है।

सत्याग्रह जग और जीवन देखने की एक वृत्ति है। यह जीवन की एक रचना है। वह एक प्रेरणा है जो जीवन धारण करती है, उसे प्रगतिशील बनाती है और जो भिन्न–भिन्न उत्पादक कार्यों और निर्माणों के रूप में अभिव्यक्त होती है और विकासशील शक्तियों से सुसंगत जीवन व्यतीत करती है। जीवन की ओर देखने की यह वृत्ति सत्याग्रही को सत्य को फैलाने और न्याय को अबाधित रखने के हेतु लड़ने के लिए प्रवृत्त करती है। केवल युक्तियुक्तता और नैतिक मूल्य ही उसके जीवन की कसौटी होते हैं।

सत्याग्रही किसी को शत्रुभाव से नहीं देखता। हर व्यक्ति उसके लिए मित्र, साथी और भाई होता है। मनुष्य की सहज सद्प्रवृत्ति पर उसका अटल विश्वास होता है और वह मानता है कि मेरे मानव बन्धुओं की नीतिभ्रष्टता हमेशा कायम रहने वाली नहीं है। सत्याग्रही अन्याय का प्रतिकार शारीरिक बल से नहीं करता। वह उसे धैर्य से हंसमुख रहकर सहन करता है और इस प्रकार अन्यायी के हृदय को स्पर्श करने की कोशिश करता है। सत्याग्रही अन्याय और अन्यायी दोनों में बड़ा अंतर मानता है। दुःख और कष्ट को मिटाने का प्रयत्न कररते हुए वह अन्यायी को अन्याय का अनुभव कराने का प्रयत्न करता है। वह विरोधी के भी मन में अपने नैतिक बचाव का भाव जाग्रत करता है। वह विरोधियों को भी यह अनुभव करा देता है कि उसके मन में उनके लिए प्रेम और आदर है और वह उन्हें तकलीफ पहुंचाना नहीं चाहता। सत्याग्रही के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यही होता है कि वह अन्यायी को नुकसान न पहुंचाते हुए अन्याय का अंत किस प्रकार करे। स्वयं कष्ट उठाकर और विरोधी को उसकी शारीरिक सुरक्षा का आश्वासन देता है और इस तरह उसे अपने अन्यायपूर्ण व्यवहार पर विचार करने के लिए मजबूर करता है। इस प्रकार सत्याग्रही का आक्रमण विरोधी के मन पर होता है और अन्याय को जड़ से उखाड़ने की कोशिश करता है।

हम प्राचीन काल पर दृष्टि डालें तो साधु–संतों में व्यक्तिगत सत्याग्रह के बहुत उदाहरण मिलते हैं। लेकिन सामाजिक–शक्ति के रूप में सत्याग्रह के अवलम्बन करने के उदाहरण शायद ही मिलेंगे। बड़े–बड़े साधु–संतों और धर्मोपदेशकों ने ही अपने निजी जीवन में इस प्रवृत्ति का अवलम्बन किया था। लेकिन धार्मिकता की छाप लगे हुए उनके जीवन से जन–साधारण का नाता टूट गया था। सम्पत्ति, सत्ता, महत्त्वाकांक्षा, स्वामित्वभाव और शासन आदि बातों से युक्त राजनीति तथा व्यापार–धंधे से उनमें से बहुत–से आदमी अलिप्त रहते थे और समाज से अलग रहकर अपना जीवन व्यतीत करते थे। इसलिए धर्म, राजनीति, वेदान्त और व्यवहार का एक–दूसरे से कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया था। इसी से धार्मिक जीवन, तथा दैनिक व्यवहार, व्यक्तिगत जीवन, राष्ट्रीय व सामाजिक जीवन आदि दोहरे नैतिक मूल्य समाज में प्रचलित हो गये। जीवन के एक क्षेत्र में जो सद्गुण था वही दूसरे क्षेत्र में दुर्गुण माना जाने लगा। व्यक्तिगत और निजी जीवन में सत्य भी एक गुण माना जाने लगा। परन्तु राजनीति और राजनीतिज्ञता में वह विपरीत हो गया। निजी जीवन में किसी का खून करना पाप माना गया तो देश–भक्ति के नाम पर युद्ध में खून करने वाले की जयजयकार होने लगी। इस दोहरी नीति को मिटा देना गांधीजी के जीवन का उद्देश्य था। वे चाहते थे कि केवल सत्य की कसौटी पर ही सभी बातों का मोल ठहराया जाए और उस सत्य की स्थापना कष्टसहनयुक्त प्रेम की भित्ति के ऊपर हो।

भिन्न–भिन्न राष्ट्रों की कहानियां व पौराणिक कथाओं में सत्याग्रह के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। प्रहलाद एक ईश्वर–भक्त बालक था। उसका पिता नास्तिक था। ईश्वर के अस्तित्व को न मानने के कारण उसने अपने बेटे से कहा कि– तुम ईश्वर का नाम मत लो। लेकिन बेटे ने नाम लेना नहीं छोड़ा। तब उसका पिता उसे तरह–तरह के कष्ट देने लगा। जितने ज्यादा उसे कष्ट दिए जाते थे वह उतनी ही दृढ़ता से ईश्वर का नाम लेता था। प्रहलाद हमेशा ईश्वर से प्रार्थना करता था कि प्रभो इनको अपने अस्तित्व का परिचय

कराओ। अंत में पाप का घड़ा भर गया। ईश्वर ने अवतार लिया और वह उस निर्दयी पिता को दण्ड देने लगा। बेटे ने बीच में पड़कर पिता को छुड़ाया, फिर तो बाप भी बेटे की ही भांति ईश्वर–भक्त बन गया।

राजा हरिश्चन्द्र की कथा इससे भी अधिक हृदयस्पर्शी है। राजा ने एक बार स्वप्न में विश्वामित्र ऋषि को अपना राज्य दान कर दिया। दूसरे दिन राजा अपने कुछ लोगों से स्वप्न की बात कह रहा था कि इतने में ही विश्वामित्र ऋषि वहां आ पहुंचे और कहा–'लाओ मेरा राज्य! राजा इतना सत्यनिष्ठ था कि उसने अपना सारा राज्य उन्हें दे डाला और अपनी पत्नी व बच्चे के साथ केवल शरीर पर पहिने हुए कपड़ों को लेकर ही निकल पड़ा। राजा के कष्ट और कसौटी की शुरूआत हुई। परीक्षा लेने के लिए विश्वामित्र ने राजा से दक्षिणा मांगी। लेकिन राजा के पास तो कुछ बचा नहीं था। उसने रानी से दासी का काम करने के लिए कहा और स्वयं काशी नरेश के यहां नौकर बन गया। इसके बाद उस राजपरिवार ने प्रसन्नता से अनेक यातनाएं सहन कीं और ऐसी अनेक घटनाएं घटीं जिससे उनकी अत्यधिक सत्यनिष्ठा का परिचय मिला। अंत में काशी नरेश की आज्ञा से हरिश्चन्द्र अपनी रानी का सिर काटने ही वाला था कि विश्वामित्र प्रकट हुए। हरिश्चन्द्र का हाथ पकड़कर कहने लगे–'हे राजा! तुम्हारे बराबर सत्यनिष्ठ त्रिभुवन में कोई नहीं है। मनुष्यमात्र में अकेला तू ही सत्यवादी है।'' नाटक देखने के बाद गांधीजी के मन में विचार आया कि सब लोग राजा हरिश्चन्द्र की तरह क्यों नहीं हो जाते।

ऐतिहासिक काल की ओर दृष्टि डालने पर बुद्ध और महावीर की भूमिका स्पष्ट है। इन दोनों ही ने धार्मिक सिद्धान्त के रूप में अहिंसा की शिक्षा दी है। इस कड़ी में महात्मा ईसा और सुकरात भी है। हाफिज और सरभद नामक महान् सूफी संतों के नाम भी प्रमुख हैं। नन्दनार, तुकाराम, कनकदास आदि के जीवन में सत्याग्रही वृत्ति के व्यक्तिगत उदाहरण मिलते हैं। कष्ट देने वालों के प्रति किसी भी प्रकार की कटुता न दिखा कर सुकरात ने विष का प्याला पी लिया था। एथेन्स के नवयुवकों को बहकाने का इल्जाम उसके ऊपर लगाया गया था। तुकाराम को तो उनके निकट के लोगों ने ही तरह–तरह के कष्ट दिये गए। लेकिन उन्होंने उनके खिलाफ कुछ नहीं किया। एकनाथ के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनपर लोगों ने बीस बार थूका; लेकिन प्रत्येक बार बिना क्रोध किये ही वह वापिस नदी पर जाकर स्नान कर आते थे। अंत में थूकने वाले थक गये और इक्कीसवीं बार उन्हें किसी ने नहीं छेड़ा। महात्मा ईसा का बलिदान तो सर्वविदित है। ईसा का फांसी पर लटक जाना भी सत्य के लिए किये गये बलिदान का उदाहरण है। ईसा के जीवन में सत्याग्रह के सिद्धान्त ज्यादा स्पष्ट और निश्चित रूप में दिखाई देते हैं। 'सरमन ऑन दी माउन्ट' में 'अन्याय का प्रतिकार (अन्याय से) मत करो' जैसे वाक्य सत्याग्रह द्वारा सूचित जीवन–क्रम पर प्रकाश डालते हैं। यद्यपि आज सत्याग्रह को उससे भी ज्यादा व्यापक अर्थ प्राप्त हो गया है। इन सब उदाहरणों में बताया गया कि शरीर अमर आत्मा का एक नश्वर साधनमात्र है। आत्मा के व्यक्त स्वरूप रूपी सत्य की रक्षा के अतिरिक्त शरीर का और क्या उपयोग हो सकता है।

3.2 सत्याग्रह के विविध स्वरूप

प्रतिस्पर्धी को किसी भी प्रकार का कष्ट और हानि पहुंचने देने का विचार तक मन में न लाने का निश्चय अहिंसक प्रतिकार का सार है। साधारणतः सारी धन–सम्पत्ति के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है, लेकिन यदि धन–सम्पत्ति सम्पूर्णतः समाज के लिए घातक हो तो इस नियम में अपवाद करना पड़ेगा। 'कांग्रेस रिस्पान्सिबिलिटी नामक पुस्तिका (175–43) का उत्तर देते हुए गांधीजी परिच्छेद 63 में कहते हैं–''हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्य के शासन की बागडोर संभालने वाले व्यक्ति अथवा उनकी सम्पत्ति को धक्का पहुंचाने के विचार से बढ़कर कोई दूसरी बात मेरी विचारधारा से दूर रही है। व्यक्ति तथा उसके द्वारा तैयार किये हुए यंत्र या बनाई हुई पद्धति में, मेरी अहिंसा मूलतः विभेद करती है। किसी भी तरह खटका मन में न लाते हुए खतरनाक

यंत्र को निःशंक होकर नष्ट करूंगा। लेकिन मैं कभी भी व्यक्ति को हाथ नहीं लगाऊंगा। विरोधी को–खासकर उसे मुसीबत में देखकर–मुसीबत में न डालना प्रेम–तत्त्व का उपसिद्धान्त है। कष्टसहन और आत्मशुद्धि सत्याग्रह में अंतर्भूत है। अतः सत्याग्रह जो स्वरूप धारण करेगा उसके आधार कष्टसहन, शुद्धि, तपस्या, सेवा और त्याग ही होंगे। इसलिए सत्याग्रही से यह आशा की जाती है कि उसे अन्याय से असहयोग करना चाहिए। उसका दावा यह होता है कि उसका पक्ष समझदारी का है। इसलिए उसे शांति से विरोधी की बुद्धि को जाग्रत करने का अधिकार भी प्राप्त होता है। ऐसा करते हुए उसे कष्ट सहन करने की तैयारी रखनी चाहिए। स्वाभिमान, न्याय और विवेक का विरोध करने वाले नियमों को तोड़ने के लिए वह बाध्य है। सत्याग्रह का अर्थ है– अहिंसक प्रत्यक्ष प्रतिकार।''

किसी जगह पर जाने अथवा नमक जैसी वस्तु पर, जिसका कर नहीं दिया गया है, अपने अधिकार की रक्षा करते हुए उसके परिणाम भोगने की तैयारी करके, शांतिमय प्रत्यक्ष प्रतिकार अंगीकार करने के लिए सत्याग्रही स्वतंत्र रहता है। यदि सत्याग्रही के लिए अपना स्वाभिमान बनाये रखना अशक्य हो जाय तो उसे देश छोड़ देना चाहिए। लेकिन उसे डर से एक क्षण के लिए भी भाग नहीं जाना चाहिए। सत्याग्रही के लिए आमरण अनशन का रास्ता भी खुला रहता है। रचनात्मक कार्य, सभा, जुलूस, हड़ताल, आत्मशुद्धि के लिए उपवास, सामूहिक प्रार्थना, करबंदी सहित असहयोग, बहिष्कार, निरोधन, सविनय अवज्ञा, शांतिमय व्यूह या मोर्चा, हिजरत अथवा देशत्याग और आमरण अनशन सत्याग्रह के कुछ सर्वमान्य स्वरूप हैं।

विधाय, विषयक तथा आक्रामक– सत्याग्रह के ये तीन स्वरूप बताए जा सकते हैं। सभी प्रकार के रचनात्मक कार्य सत्याग्रह का विधायक स्वरूप है। जब सत्याग्रह संगठन और तैयारी की अवस्था में होता है तब उसका रूप इस प्रकार का रहता है और उस समय प्रेम, स्वार्थरहित सेवा और त्याग का स्वरूप धारण करता है। हड़ताल, उपवास, प्रार्थना तथा इसी प्रकार के अन्य त्यागपूर्ण स्वरूपों का परिणाम आत्मशुद्धि में होता है। अन्याय से दुःखी होकर सहयोग बंद करना भी एक प्रकार की आत्मशुद्धि ही है। सत्याग्रह के इन स्वरूपों का आचरण करने पर सत्याग्रही को अगला कदम उठाने का अधिकार प्राप्त होता है। जिस समय सत्याग्रही जान–बूझकर किसी कानून को भंग करने के लिए प्रत्यक्ष कृति के द्वारा अन्याय पर हमला करने लगता है तब उसे सत्याग्रह का आक्रमक स्वरूप कहा जाता है। इसके फलस्वरूप वह दमन और कष्टसहन को निमंत्रण देता है। इतना ही नहीं अन्याय का अंत करने के प्रयत्न में वह मरने तक के लिए तैयार रहता है।

सत्याग्रह का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए उसके कुछ भेद ऊपर वर्णित किए गए हैं। हड़ताल से लेकर आमरण अनशन तक के सत्याग्रह के प्रकारों का वर्णन निम्नतः है–

- हड़ताल का अर्थ है– साधारणतः चौबीस घंटे तक सारे कामकाज बंद रखना।
- उपवास साधारणतः चौबीस घंटे का ही होता है। उपवास का समय आत्म–निरीक्षण और चिंतन में ही बिताया जाता है।
- प्रार्थना का अर्थ है– आत्मशुद्धि और बलिदान के लिए उच्च आध्यात्मिक शक्ति की पुकार।
- प्रतिज्ञा का अर्थ है– वह गंभीर घोषणा जो कोई व्यक्ति किसी विशेष बात को करने या न करने के लिए ईश्वर या सत्य को साक्षी रखकर करता है।
- असहयोग का अर्थ है– दुःखी होकर अन्याय से सहयोग न करना; उदाहरणार्थ, यदि कोई सरकार पूरी तरह अन्यायी हो तो उसे किसी भी प्रकार का शारीरिक और नैतिक बल न देना। यदि सरकार कोई अन्यायपूर्ण काम करे तो उसके उस काम में मदद न देना। अन्याय से असहयोग करते हुए जो लोग असहयोग करेंगे उनसे परस्पर सहकार्य की अपेक्षा रखी जाती है।

- करबंदी, असहयोग की अंतिम सीढ़ी है। यदि वैधानिक भाषा में कहें तो साधारण सभा में मतदान के द्वारा नहीं बल्कि प्रत्यक्षतः सरकारी कर देने से इंकार करना ही करबंदी है। उदाहरण के लिए जब जान हँमडन ने चार्ल्स प्रथम को नौका–कर देने से इंकार कर दिया था। सन् 1776 में स्वातंत्र्य–संग्राम के समय अमेरिकन लोगों ने जो यह घोषणा की थी कि 'यदि प्रतिनिधि नहीं हो कर भी नहीं' उसमें भी यही तत्त्व निहित था। यहां असहयोग करने वाला अपनी स्वयं की इच्छा से सरकारी कर देने से इंकार करता है और उसका फल भोगने के लिए तैयार रहता है।
- निरोधन या धरना देने का अर्थ है– किसी बात को करने या न करने के लिए किया हुआ शांतिपूर्ण सविनय अनुरोध। उदाहरणार्थ, मद्यनिषेध के संदर्भ में इसका अर्थ है दूकान के पास बैठकर या खड़े होकर शराब वालों से उसे न लेने का अनुरोध करना।
- सविनय अवज्ञा या सविनय प्रतिकार को यदि हमें 'सविनय' कहना है तो वह पूरी तरह अहिंसक होना चाहिये। उसमें किसी भी प्रकार की दुर्भावना न रहनी चाहिये। सविनय अवज्ञा का अर्थ है– किसी विशेष कानून की प्रकट एवं अहिंसक अवज्ञा। यदि किसी नए भद्दे कानून का प्रतिकार करना पड़ा तो उसे रक्षात्मक सविनय अवज्ञा कहेंगे। लेकिन यदि अहिंसक प्रतिकार के समय स्थापित सरकार के विरुद्ध किये जाने वाले विद्रोह के प्रतीक के रूप में किन्हीं कानूनों का भंग किया जाए तो उसे आक्रामक सविनय अवज्ञा कहेंगे।
- अहिंसक धावे या मोर्चे सविनय प्रतिकार के ही प्रकार हैं। वे सन् 1930 में नमक के कारखानों पर अथवा 1942 में कोताई व तामलुक जैसे पुलिस थानों पर किए गए थे। वे पूरी तरह अहिंसक और खुले होने चाहिएं।
- हिजरत का अर्थ है– अपनी इच्छा से सरकारी पद छोड़ना। अपने सब हितसम्बन्धों को छोड़कर सरकारी सीमा में से निकल जाना।
- आमरण अनशन का अर्थ है– स्वेच्छा से मृत्युपर्यन्त अन्न छोड़ देना। आमरण अनशन कभी भी बिना शर्त नहीं होता, वह सशर्त ही होना चाहिये, नहीं तो उसे आत्महत्या कहा जायगा। कभी यों ही उसका अवलम्बन नहीं करना चाहिए। उसमें थोड़ी–सी भी जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए। जबरदस्ती दूसरों का मत बदलने के लिए य अपने खुद के विचार दूसरों पर लादने के लिए कभी भी उसका उपयोग नहीं करना चाहिए। अंतिम शस्त्र मानकर ही उसका प्रयोग करना चाहिए और उसका अवलम्बन करने के पहले जीवन बिलकुल असह्य हो जाना चाहिए। आमरण अनशन आत्मशुद्धि के लिए किये हुए उपवासों से भिन्न होता है।

3.3 सत्याग्रह आंदोलन

पहला सामूहिक सत्याग्रह दक्षिण अफ्रीका के अंग्रेजी उपनिवेश में हुआ। सन् 1894 के बाद साधारणतः एशियावासियों का और खासकर हिन्दुस्तानियों का यह व्यवस्थित आंदोलन अपनी शिकायतें दूर करवाने के लिए हुआ। नेटाल की धारासभा में एक इस आशय का कानून विचारार्थ उपस्थित किया गया कि एशियावासी होने के कारण एशियावालों को मतदान का अधिकार नहीं दिया जाय। लेकिन इसके अलावा और भी सामाजिक तथा कानून–सम्बन्धी शिकायतें थीं। इनमें से बहुत–सी शिकायतें जातिद्वेष, वर्णद्वेष, अथवा एशियावासियों के प्रति यूरोपियन लोगों की ईर्ष्या के आधार पर टिकी हुई थी। जातीय वैमनस्य के अतिरिक्त वहां पक्षपातपूर्ण कानून भी थे।

ब्रिटिश उपनिवेशों में हिन्दुस्तानियों को जो अपमान सहना पड़ता था उसका अनुभव गांधी ने स्वयं किया था, और उसका धैर्य के साथ मुकाबला किया तथा इस प्रकार के शारीरिक कष्ट और संकट भी सहन किये थे। फिर भी उनके मन में वहां के यूरोपियन लोगों के प्रति किसी प्रकार का वैर भाव नहीं था। वहां की राजनैतिक, सामाजिक आदि पद्धति से उन्हें घृणा थी। लेकिन जो लोग उसके लिए जिम्मेदार थे उनके प्रति उनके मन में प्रेमभाव ही था।

3.3.1 वीरगांव का सत्याग्रह

बिरमगांव में कस्टम विभाग की ज्यादती, एक स्थानिक प्रश्न था। उनकी ज्यादती मानों प्रत्यक्ष अन्याय का नमूना ही थी। अन्यायी प्रथा को तथा उसके साथ होने वाली दूसरी कठिनाइयों को दूर करने में केवल सत्याग्रह की भाषा मुख्य रूप से कार्यकारी हुई। सन् 1915 में जब गांधीजी काठियावाड़ जा रहे थे तब बड़वान में उन्होंने श्रीमोतीलाल दर्जी, जो वहां के सार्वजनिक कार्यकर्ता थे से सारी स्थिति सुनी। उनकी बेचैनी का गांधीजी के मन पर काफी असर हुआ और उन्होंने उनसे पूछा कि–''क्या लोग जेल जाने के लिए तैयार हैं?'' उन्होंने तपाक से उत्तर दिया कि ''हम फांसी पर चढ़ने के लिए भी तैयार हैं।''

इस झगड़े में एक पक्ष में जनता और दूसरे पक्ष में कस्टम के अधिकारी तथा हिन्दुस्तान की सरकार थी। झगड़े का मुद्दा था कस्टम की अर्थशून्य पद्धति को बंद करना। प्रचार, आदरपूर्वक शिकायतें पेश करना और सत्याग्रह की पृष्ठभूमि पर जनता की ओर से मांगे प्रस्तुत करना इस क्रम से आंदोलन शुरू किया गया। काठियावाड़ के बागस्त्रा आदि स्थानों का दौरा करके गांधीजी ने अपने भाषणों में स्पष्टरूप से कह दिया कि लोगों को तैयार रहना चाहिए। अंत में तत्कालीन वारसराय लार्ड चेम्सफोर्ड की गांधीजी से बातचीत हुई। वाइसराय ने इस बात को बंद करने का आश्वासन दिया और अपने शब्दों को सत्य करके दिखाया।

यहां तो न किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सत्याग्रह किया गया और न उसके लिए किसी प्रकार की तैयारी की गई। गांधीजी केवल अपने भाषणों में असंदिग्ध रूप से उसका उल्लेख करते रहे। यह बिना लड़े और बिना त्याग किये ही जीती हुई लड़ाई थी।

3.3.2 चम्पारन सत्याग्रह

हिन्दुस्तान के सत्याग्रह के इतिहास में चम्पारन का नाम सदा के लिए अंकित हो गया है। इस मौके पर पहली बार गांधीजी ने अधिकारियों की आज्ञा भंग की और कहा– कम–से–कम मेरे अपने देश में तो मैं चाहे जैसी आज्ञाओं को अपने ऊपर नहीं लादने दूंगा। हिन्दुस्तान के लिए सविनय अवज्ञा आंदोलन का वह पहला पाठ था।

चम्पारन एक शताब्दी से गोरों द्वारा वहां के सीधे–सादे किसानों का शोषण और उत्पीड़न का काम चल रहा था। कानून और रूढ़ी के द्वारा वहां मालिकों की एक असाधारण सरकारी सत्ता ही स्थापित हो गई थी। स्थानीय नेताओं ने सारे कानूनी उपाय करके देख लिये लेकिन अधिकारी और सरकार दोनों ही मालिकों के पक्षपाती होने के कारण कोई भी उपाय नहीं चला। बंगाल टेनेन्सी ऐक्ट तथा अन्य ऐसे कानूनों का आश्रय मालिकों ने ले रखा था जिनसे कि वे किसानों का शोषण कर सकें। और कितने ही गैरकानूनी करों के लिए यदि कानून से मदद नहीं मिलती तो वे पुरानी रूढ़ियों और रिवाजों का आश्रय लेते रहे। और जब ये दोनों ही काम न आते तो वे पाशवी शक्ति का आश्रय लेते थे। उनकी अपनी स्टेटों में उनका व्यवहार किसी निरंकुश शासक से किसी प्रकार कम न था।

मुख्य तथा तत्कालीन आर्थिक शिकायत 'तिनकटिया' प्रथा के सम्बन्ध में थी। तिनकटिया का अर्थ है– बीघे में तीन कट्टे। इसका मतलब यह था कि जमीन के प्रत्येक बीघे का 3/20 भाग प्रत्येक किसान के लिए

उसकी जमीन के 3/20 में नील की खेती करना जरूरी था। फिर चाहे वह उसके लिए लाभदायक हो चाहे न हो।

निलहों का सरकार और अफसरों पर इतना असर था कि किसान धन–जन को नुकसान पहुंचने के भय से सरकारी अफसरों के पास जाने का साहस तक नहीं करते थे। उच्च वर्ग के लोगों के साथ भी मार–पीट ही नहीं, उनको हवालात में रख देना, उनके जानवरों को पकड़कर कांजी हौज में भेज देना, घर–बार लूट लेना, चमार, धोबी, नाई आदि बंद कर देना और तो ठीक, उनको घर से बाहर निकलने के लिए भी मना करना और उनके घरों पर बिठाने के लिए अस्पृश्यों को इकट्ठा करना आदि हजारों तरीकों से वहां के लोगों को नित नई पीड़ा पहुंचाई जाती थी।

10 अप्रैल 1917 को गांधी मोतीहारी जिले के गांव में पहुंचे। उन्होंने वहां जो जांच की, वह सत्याग्रह की पद्धति में एक आदर्श पाठ है। वहां पहुंचने पर वे सीधे हाकिमों के पास गये और उन्होंने बताया कि वे क्या करना चाहते हैं। गांधी अपने नियम के अनुसार उस जगह रहकर प्रत्यक्ष रूप से अन्याय का सूक्ष्म अवलोकन करना चाहते थे।

उन्होंने अपना तहकीकात का काम शुरू कर दिया। कितनी ही बार बयान लेते समय सी.आई.डी. के अधिकारी भी उपस्थित रहते थे। बीस हजार बयान लिये गये और उसके आधार पर मामला तैयार किया गया। किसानों की मांगें तैयार की गईं। बाद में प्रांत के गवर्नर ने सारे मामले पर ध्यान रखकर सरकार की ओर से एक जांच–कमेटी की नियुक्ति की और उसमें गांधीजी को किसानों के प्रतिनिधि के रूप में रखा गया। जांच–कमेटी ने एक मत से फैसला दिया कि तिनकटिया प्रथा तथा गैरकानूनी लागवाग रद्द कर दिये जाए और किसानों से जो रकम वसूल की गई है उसका कुछ अंश उन्हें लौटा दिया जाय।

वहां अकेले गांधीजी का सत्याग्रह इस विषमता के विरुद्ध हिन्दुस्तान का जनमत जाग्रत करने और प्रांतीय सरकार की आंखें खोलने के लिए पर्याप्त सिद्ध हुआ। किसानों ने भी काफी संयम से काम लिया। वे धैर्य के साथ सबूत पेश करने के लिये आगे आये और खासकर गांधीजी जिधर ले जाए उधर जाने की मानसिक तैयारी उन्होंने प्रदर्शित की।

गांधीजी ने चम्पारन के आपद्ग्रस्त किसानों की शिकायतों की जांच करने के साधारण अधिकार पर जोर दिया। इस साधारण से अधिकार से सरकार उनको वंचित नहीं रख सकती थी और जब एक बार जांच शुरू हुई तो उसकी ओर से आंख भी मूंद नहीं सकती थी। सरकार को इन शिकायतों की जानकारी पहले से ही थी। लेकिन मालिकों के मुनाफे से उनका जो ममत्व था उससे उन्होंने यह सब चलने दिया। अब गांधीजी के आगमन और निर्भय तहकीकात के कारण सरकार की इस शिथिलता की धज्जियां उड़ गईं।

3.3.3 खेड़ा सत्याग्रह

बिरमगांव के कस्टम और गिरमिटिया कुलियों के मामले में तो केवल सत्याग्रह की भाषा से ही सफलता मिल गई और चम्पारन में केवल गांधीजी को ही सविनय कानून भंग करना पड़ा। लेकिन खेड़ा जिले में कई लोगों को मुसीबत और कष्ट उठाने पड़े। सन् 1918 के प्रारंभ में गुजरात प्रांत का खेड़ा जिला सत्याग्रह भूमि बना। वहां करबंदी के रूप में सत्याग्रह हुआ। अनाज पैदा न होने से जिले में करीब–करीब अकाल की स्थिति हो गई और किसानों के लिए लगान देना असंभव हो गया था। नियम के अनुसार उन्होंने लगान स्थगित करने की प्रार्थना की। लेकिन सरकार ने इस पर विचार करने से इंकार किया।

लेण्ड रेवेन्यू कोड में यह कहा गया है कि ''जब आने वारी के हिसाब से फसल रुपये में चार आने आई हो तब सरकार को उस वर्ष का लगान माफ कर देना चाहिए। लेकिन हिन्दुस्तान के हमेशा के रिवाज के

अनुसार सरकार ने जिद्द पकड़ी कि फसल चार आने से ज्यादा आई है। अतः किसानों को पूरा लगान देना चाहिए। कुछ समय तक यह झगड़ा चलता रहा। प्रार्थनाएं, प्रांतीय कौंसिल के प्रस्ताव सब कुछ व्यर्थ हो गये।

इन सब के बाद गांधीजी ने इस विषय पर ध्यान दिया। उन्होंने सारे मामले का अध्ययन करके लोगों को लगान न देने की सलाह दी। लोगों ने शपथ ली कि भले ही हमारी जमीन चली जाय हम अनुचित लगान नहीं देंगे। जो धनवान् लोग सारा लगान दे सकते थे उन्होंने भी अपने गरीब भाइयों की सहानुभूति में एक साल तक लगान न देने की शपथ ले ली।

गांधीजी ने जनता और सरकार दोनों के ही सामने न्याय का पक्ष रखा। उन्होंने जिले में प्रचार–कार्य के लिये स्वयं सेवक बुलाये और उनके जरिये किसानों में नैतिक धर्म बनाये रखा। उस समय अहमदाबाद के बैरिस्टर वल्लभभाई पटेल उनसे आकर मिले। इसके बार किसानों की शिक्षा प्रारंभ हुई। उन्हें सिखाया गया कि अधिकारी उनके मालिक नहीं बल्कि नौकर हैं, अतः सारा डर छोड़कर उनके समने तनकर खड़े रहना चाहिये। उनकी जुल्म–जबरदस्ती करने की धमकियों का प्रतिकार करना चाहिए। चाहे कोई उन्हें कितना ही क्यों न भड़काये उन्हें अपनी शांति न डिगने देनी चाहिये। उन्हें यह भी सिखाया गया कि यदि उनकी जमीन पर सरकारी कब्जा करने का नोटिस उनके पास आये या उनसे जब्ती का हुकुम तामील करवा लिया जाय तब भी उन्हें उसका मुकाबला शांति से करना चाहिए। किसानों ने बड़े धैर्य के साथ नेताओं की सूचना के अनुसार ही चलने का निश्चय किया। अनेक जब्तियां हुईं और जमीन सरकार के कब्जे में करने के नोटिस भी आए लेकिन किसानों ने प्रसन्नतापूर्वक सब का स्वागत किया।

इसके बाद वहां सविनय अवज्ञा आंदोलन करने का मौका आया। सरकार ने एक प्याज के खेत को कुर्क कर लिया। चूंकि यह कुर्की बेकायदा थी, गांधीजी ने मोहनलाल पण्डया तथा अन्य अपने सात अनुयायियों को सीधे खेत में जाकर फसल काट लेने की सलाह दी। उन्होंने फसल काट ली। उन्हें गिरफ्तार किया गया और सजा दी गई। इससे लोगों का नैतिक धैर्य अधिक बढ़ गया और जेल का डर जाता रहा।

जब सरकार ने यह देखा कि लोग मान नहीं रहे हैं तब उसने बिना किसी प्रकार की घोषणा किये और न किसानों से न उनके प्रतिनिधियों से समझौते की कोई बातचीत किये, पीछे हटना शुरू कर दिया। जो लगान नहीं दे सकते थे उनसे तकादा करना बंद कर दिया गया। जब्तियां और कुर्कियां बंद कर दी गईं। इस प्रकार कार्य रूप में सरकार ने यह मान लिया कि जो लोग लगान देने में असमर्थ हैं, उन्हें उससे मुक्त कर दिया जाय। लेकिन लोगों के इस अधिकार को स्पष्ट रूप से शब्दों में स्वीकार नहीं किया। सिद्धान्त रूप में तो यहां सत्याग्रह सफल हुआ लेकिन सम्पूर्ण विजय की दृष्टि से उसमें काफी कमी रह गई। विजय प्राप्त करके भी न लोगों में उत्साह बढ़ा और न उनको पर्याप्त फायदा ही हुआ। इस सत्याग्रह के सम्बन्ध में गांधीजी ने कहा है कि जब सत्याग्रही प्रारंभ की अपेक्षा अंत में ज्यादा शक्ति और उत्साह संपादन कर लें तभी यह कहा जा सकता है कि सत्याग्रह सफल हो गया। उन्हें प्रतीत हुआ कि लोग निराश हो गये हैं और अधिकारियों के प्रति उनका व्यवहार पूरी तरह विनयशील नहीं है। इसके अलावा पूरा लगान वसूल करने के सिलसिले में पक्षपात करके सरकार लोगों में फूट डालने में सफल हो गई थी। सत्याग्रहियों को किसी प्रकार का दखल देने का मौका न देते हुए उनके प्रयत्न को बिलकुल असफल करने की कार्यवाही चालू थी।

लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से इसके परिणाम महत्त्वपूर्ण निकले। गुजरात प्रांत के सारे किसानों में जागृति हुई। इससे सारे किसाने जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने स्वावलम्बन का पाठ पढ़ा और उनमें आत्मविश्वास पैदा हुआ। यह मालुम हुआ कि हमारे भी कुछ अधिकार हैं और सामूहिक प्रयत्नों के बल पर हम उन्हें प्राप्त कर सकते हैं।

3.3.4 मजदूरों का सत्याग्रह

गांधीजी जब खेड़ा जिले के प्रश्नों में उलझे हुए थे तभी 1918 में अहमदाबाद की कपड़े की मिलों के मालिक और मजदूरों में झगड़ा शुरू हो गया था। गांधीजी की अहमदाबाद के मजदूरों की शिकायतों के प्रति उनकी सहानुभूति इतनी ज्यादा थी कि उसके लिए उन्होंने अपने प्राणों को भी खतरे में डाल दिया। लगभग 15 दिनों के झगड़े के बाद उन्होंने उपवास प्रारंभ किया और इस प्रकार से मजदूरों का नैतिक धैर्य बनाये रखा और जल्दी ही समझौता करवा लिया।

उसी समय लड़ाई समाप्त होने पर गांधीजी ने कहा कि इस लड़ाई में द्वेष या वैर–भाव के लिए थोड़ा–सा भी स्थान नहीं था। वे जितने मजदूरों के सेवक थे उतने ही मिल मालिकों के भी थे। इस लड़ाई के बारे में लिखी हुई 'धर्म–युद्ध' नामक गुजराती पुस्तक में महादेवभाई ने इस हड़ताल का वर्णन अत्यन्त शुद्ध साधनों से, दृढ़ निश्चय के बल पर लड़ाई के रूप में किया है। लड़ाई का परिणाम भी दोनों पक्ष के लिए लाभदायक हुआ।

3.3.5 वायकोम सत्याग्रह

यह एक ऐसे सत्याग्रह का उदाहरण है जो एक बड़े सामाजिक अन्याय को दूर करवाने के लिए किया गया था।

वायकोम एक प्रसिद्ध तीर्थ है। भारत के पश्चिमी किनारे पर केरल प्रांत में त्रावणकोर रियासत की सीमाएं हैं। यहां शंकरजी का एक प्राचीन मंदिर है। उसी के कारण इस गांव का महत्त्व बढ़ गया है। मंदिर गांव के बीचोंबीच जो सनातनियों का केन्द्र है। सन् 1924 के प्रारंभ में यह सत्याग्रह शुरू हुआ। माधवन, कृष्णस्वामी तथा केलप्पन ने उसका प्रारंभ किया। ब्राह्मण बस्ती तथा मंदिर के पास से जाने वाले आम रास्तों से एक दिन उन्होंने कुछ हरिजनों को साथ लेकर दूसरी ओर जाने का प्रयत्न किया। भिक्षुकों और ब्राह्मणों ने अपनी पीढ़ियों से उस रास्ते से अस्पृश्यों को नहीं जाने दिया था। अपने भाइयों पर लगे हुए इस अमानवीय प्रतिबंध को समाप्त करने का निश्चय करके सत्याग्रह के द्वारा मनुष्यमात्र के लिए वह रास्ता खुलवाने के उद्देश्य से उपर्युक्त तीनों सज्जनों ने अपना प्रयत्न आरंभ किया।

इस सत्याग्रह के मूल में, मुख्य प्रश्न यह था कि सार्वजनिक रास्ते का उपयोग करने का अधिकार प्रत्येक नागरिक को है।

जब पहले जत्थे ने उस रास्ते से जाने का प्रयत्न किया तो ब्राह्मणों और पुजारियों ने उन्हें बुरी तरह पीटा। जत्थे के एक व्यक्ति को गहरी चोट आई। जत्थे में कुछ तो सुधारक थे और कुछ अछूत थे। लेकिन इस मार–पीट के बावजूद भी सुधारक लोग अपने निश्चय पर डटे रहे। वे न तो घबराए और न उन्होंने बदले या हिंसा की कल्पना को आने दिया। प्रतिदिन नियमित रूप से उन्होंने अपना कार्यक्रम चालू रखा। उनमें से कितने ही व्यक्तियों को अनधिकार प्रवेश करने के अपराध में गिरफ्तार किया गया और सजा दी गईं।

सत्याग्रह की कल्पना जन–समाज के मन में गहरी उतर गई और गिरफ्तार व्यक्तियों का स्थान लेने के लिए दूर–दूर के प्रांतों से स्वयंसेवकों के जत्थे आने लगे। परिणामतः सत्याग्रहियों को गिरफ्तार करना बंद करना पड़ा। रास्ते को रोककर उसके आस–पास कुण्डल बनाने की आज्ञा पुलिस को दी गई। रुकावटों को दूर करने के बजाय गांधीजी ने उनको उसके सामने रात–दिन नम्रतापूर्वक खड़े रहने की सलाह दी। स्वयंसेवकों ने पास ही एक छोटी–सी झोंपड़ी बना ली और छः–छः घण्टों की बारी लगाकर बड़ी धार्मिक भावना के साथ अपना काम जारी रखा। अथवा खाली समय में वे चर्खा चलाते थे। इस प्रकार सब बातें सुचारु रूप से चल रहीं थी।

रास्ते की रुकावट पहरेदार, सरकारी अफसर अथवा ब्राह्मण या भिक्षुओं के विरुद्ध हिंसा का अवलम्बन करने का विचार भी स्वयंसेवकों के मन में नहीं आया।

एक लम्बे अरसे तक यह घटनाक्रम ऐसे ही चलता रहा। बाद में जब बरसात शुरू हो गई तो रास्ते का वह हिस्सा नीचा था; अतः वहां पानी भर गया। इस पर भी स्वयंसेवक विचलित नहीं हुए। कितनी ही बार वे कन्धे–कन्धे पानी में खड़े रहे। उन्होंने तीन–तीन घण्टे की बारी शुरू की, लेकिन अपना पहरा सतत चालू रखा। पुलिस को नाव पर अपनी छावनी बनानी पड़ी।

सत्याग्रह की अखण्डता और स्वयंसेवकों के मूक कष्ट–सहन के कारण यह एक समूचे भारत का प्रश्न बन गया। चारों ओर उसका बोलबाला हो गया। सन् 1925 के अप्रैल मास में गांधीजी स्वयं वहां गये। त्रावणकोर के अधिकारियों से उनकी बातचीत हुई। गांधीजी ने उनसे आग्रह किया कि केवल पाशविक बल के ऊपर सनातन धर्म की परम्परा मिटाने का प्रयत्न न करें। रास्ते की रुकावट और पुलिस का पहरा हटाने के लिए आखिर उन्होंने अधिकारियों को तैयार किया। सत्याग्रह शुरू होने के एक वर्ष चार महीने बाद सन् 1925 की वर्षा ऋतु में रास्ता खोल दिया गया और ब्राह्मणों का विरोध भी समाप्त हो गया। अगर सरकारी अधिकारी पुजारियों की मदद करने न दौड़ते तो संभव था कि यह प्रश्न पहले ही हल हो जाता।

इसके बाद त्रावणकोर के महाराज ने 1937 में एक राजाज्ञा निकालकर राज्य के सारे मंदिरों को जाति, सम्प्रदाय का भेद किये बिना हिन्दूमात्र के लिए खोल दिया। इस समय गांधीजी वायकोम गये थे। वहां 18 जनवरी, 1937 को अपने भाषण में उन्होंने इस सत्याग्रह का उल्लेख करते हुए कहा–''अभी कुछ ही वर्ष पहले अवर्ण हिन्दुओं को इस रास्ते से जाने देने के लिए एक विकट लड़ाई लड़नी पड़ी थी। लेकिन आज तो खुद मंदिर ही सब लोगों के लिए खोल दिये गये हैं।''

3.3.6 नील सत्याग्रह

यह सत्याग्रह सन् 1927 के अंत में अगस्त से लेकर दिसम्बर महीने के बीच हुआ। विगत शताब्दी के मध्य में मद्रास में नील साहब की स्मृति में एक पुतला खड़ा किया गया था। सन् 1857 के भारतीय स्वातंत्र्य–संग्राम में लखनऊ में घिरी हुई सरकारी फौजों को छुड़ाने के लिए बाहर से जो सेना आई थी उसी में नील आया था ओर वह वहीं मारा गया था। अंग्रेजी प्रमाणों के आधार पर भी यह सिद्ध हो गया है कि वह एक अत्यन्त क्रूर सिपाही था और अनेक अत्याचारों के लिए जिम्मेदार था। उसके सम्मान में पुतले की स्थापना होने से लोगों को उसके द्वारा उनपर लादी गई अनन्त अवहेलनाएं और अपमानों का बारबार स्मरण होता था। इस दुःखपूर्ण स्मृति के प्रतीक को मिटाने के लिए आंदोलन करना स्वाभाविक ही था।

कई लोग अपने हाथों में छेनी और हथौड़े लेकर सत्याग्रह करने के लिए पुतले की ओर चले। पुलिस ने पुतले पर पहरा बिठला दिया और जो सत्याग्रही उसके पास जाते उनको गिरफ्तार करना शुरू किया। गांधीजी ने इस आंदोलन को अपना आशीर्वाद दिया और साप्ताहिक यंग इंडिया में स्वयंसेवकों का मार्गदर्शन करने वाले कई लेख लिखे। इनमें से एक लेख में उन्होंने लिखा–''स्वयंसेवकों को जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। जल्दबाजी हिंसा की ही एक अवस्था है। सत्याग्रही को सफलता की तनिक भी चिंता नहीं होती। उसके लिए सफलता तो निश्चित है; लेकिन उसे यह भी जानना चाहिए कि वह ईश्वर की ओर से मिलती है। उसका कर्तव्य तो केवल कष्ट–सहन करते रहना ही है।'' उन्होंने उन स्वयंसेवकों की हिंसक प्रवृत्ति की आलोचना की जिन्होंने कुछ विज्ञप्तियों में हिंसक प्रवृत्ति प्रकट की थी। वे कहते हैं–''यहां रोष एवं घृणापूर्ण भाषा के लिए कोई स्थान नहीं है। हमें तो उस सिद्धान्त को मिटाना है जिसे लेकर इस पुतले को खड़ा किया गया है। हम किसी भी व्यक्ति को नुकसान पहुंचाना नहीं चाहते।''

अनेक स्वयंसेवकों को सजाएं दी गईं। लेकिन वह सत्याग्रह ज्यादा दिनों तक चला नहीं। यह कहा जा सकता है कि तात्कालिक उद्देश्यों की दृष्टि से वह असफल हो गया। बाद में जब कांग्रेस के मंत्रिमण्डल ने शासन संभाला तब श्रीराजगोपालाचारी ने सबसे पहला काम यही किया कि उस पुतले को उस सम्माननीय स्थान से हटाकर अजायबघर के एक ऐसे कोने में रखवा दिया जहां किसी का ध्यान नहीं जाए।

3.3.7 बारडोली सत्याग्रह

बारडोली की महान लड़ाई के समय किसानों ने जो अग्निपरीक्षा दी उसके मुकाबले में हिन्दुस्तान के उपर्युक्त सत्याग्रह बहुत छोटे थे। बारडोली की लड़ाई में जो प्रश्न निहित थे वे सम्पूर्ण रैयतवार पद्धति के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। आंदोलन को समाप्त करने के लिए सरकार ने अपनी सारी ताकत लगा दी और वह उसी समय झुकी जब उसने यह जान लिया कि लोगों को हटाना बिलकुल असंभव है।

सन् 1922 में पहले असहयोग आंदोलन के समय यदि सब बातें अच्छी तरह होती रहतीं तो बारडोली में बहुत बड़ी लड़ाई हुई होती और असहयोग आंदोलन के कार्यक्रम के सारे अंग कार्य रूप में परिणत हुए होते। इस ऐतिहासिक लड़ाई के अंत में श्रीमती सरोजिनी नायडू ने गांधीजी को लिखा ''बारडोली में आदर्श सत्याग्रह करना आपका एक स्वप्न था। अपने एक विशेष रास्ते से उसे पूर्णता तक पहुंचा कर बारडोली ने विशेष अर्थ में आपका स्वप्न सच्चा कर दिया है।''

उस समय प्रत्येक तीस वर्ष के बाद बम्बई सरकार प्रत्येक ताल्लुके में नई व्यवस्था करती थी और प्रायः व्यवस्था का अर्थ होता था– लगान में वृद्धि। बारडोली और चौरासी ताल्लुके में 30 प्रतिशत वृद्धि कर दी गई। लोगों के विरोध के परिणामस्वरूप घटाकर यह वृद्धि 22 प्रतिशत कर दी गई। लेकिन किसानों ने सरकार के निर्णय पर भी एतराज किया और उन्होंने यह मांग की कि लगान में किसी भी प्रकार की वृद्धि करने के पहले खुली जांच होनी चाहिए। लेकिन सरकार ने इस विरोध की कुछ परवाह नहीं की।

किसानों ने तब शांतिपूर्वक विचार करके आखिरी फैसला कर सरकार को इस आशय का नोटिस दिया कि यदि सरकार अपनी जिद पर अड़ी रही तो हम कर देना बंद कर देंगे।

वहां की कुल जनसंख्या 88,000 थी। और इस नये हिसाब से कुल 627000 लगान देना होता था। गांधीजी ने सारी स्थिति का अध्ययन किया और लड़ाई को आशीर्वाद दिया। बारडोली के किसानों की प्रार्थना पर, वल्लभभाई ने लड़ाई का नेतृत्व करना मंजूर कर लिया।

सरदार वल्लभभाई पटेल ने ताल्लुके का विधिवत संगठन किया। अनेक वर्षों से ताल्लुके के विभिन्न भागों में समाज सेवा के चार–पांच केन्द्र चलाये जाते थे। लड़ाई के समय सुविधाजनक स्थानों पर प्रबन्ध किया गया। प्रत्येक स्वयंसेवक को एक निश्चित काम सौंप दिया गया। ताल्लुके का सारा वातावरण एक फौजी छावनी के रूप में बदल गया। लड़ाई, त्याग, निर्भयता, प्रतिकार आदि शब्द ही लोगों की जबान पर थे। प्रतिदिन खबरें और सूचना देने वाली– दोनों प्रकार की पत्रिकाएं निकाली जाने लगीं।

किसानों ने यह कठोर प्रतिज्ञा कर ली थी कि वे पूरी तरह अहिंसक रहेंगे, हर तरह का कष्ट–सहन करेंगे और हंसते–हंसते सर्वस्व बलिदान करने की तैयारी रखेंगे।

लगान वसूल करने के लिए सरकार ने हद दर्जे की सख्ती करने का प्रयत्न किया। उसने कुछ भी बाकी नहीं छोड़ा। खुशामद, रिश्वत, धमकी, जुर्माना, कैद, जब्ती और लाठी–चार्ज आदि सारे उपाय करके देख लिये। उसने जातियों में फूट डालने का प्रयत्न किया। बड़ी–बड़ी जमीनें जब्त कर लीं गईं और जब कोई स्थानीय उन्हें लेने वाला नहीं मिला तो वे पानी के मोल बाहर वालों को बेच दी गईं। लगभग 1400 एकड़

जमीन पर कब्जा करके उसे नीलाम किया गया। लोगों को डराने–धमकाने के लिये चालीस पठान रखे गये और एक भय का वातावरण बना दिया गया। लेकिन इस सबका यही नतीजा निकला कि सारा ताल्लुका और भी ज्यादा संगठित हो गया, जाति–संस्थाएं मजबूत बन गईं। सभी सरकारी नौकरों तथा नीलाम में जब्तशुदा माल खरीदने वालों का कड़ा सामाजिक बहिष्कार किया गया।

सम्पूर्ण भारतवर्ष ने इस लड़ाई के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की और बारडोली के योद्धाओं की प्रशंसा की; क्योंकि स्त्रियों ने भी पुरुषों की ही भांति लड़ाई का भार उठाया था। सरकार की दमन–नीति के विरोध में असेम्बली के कई सदस्यों ने इस्तीफे दे दिये। पार्लियामेंट में भी इस मामले की चर्चा हुई। किसान बिल्कुल दृढ़ और अहिंसक बने रहे। साढ़े पांच महीनों की लड़ाई के बाद सरकार झुकी। गवर्नर ने एक जांच कमेटी बैठाई। जब्तशुदा चीजें लौटा दी गईं और गांव के जिन कर्मचारियों ने इस्तीफा दे दिया था उन सब लोगों को फिर से नौकरियां दी गईं। कमेटी ने बहुत–से अंशों में किसानों की शिकायतें स्वीकार कीं और 22 प्रतिशत के बजाय केवल 6 प्रतिशत वृद्धि करने की सिफारिश की।

रिपोर्ट के द्वारा किसानों की बात पूरी तरह सच्ची सिद्ध हुई और सत्याग्रह शस्त्र की कार्यक्षमता निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गई। उनकी शिकायत न्यायोचित थी। उनका कहना विवादरहित था और उनकी कार्य–पद्धति अहिसंक थी।

3.3.8 पहाड़ी जाति के लोगों का सत्याग्रह

शिमला के उत्तर में कोटगिरी या कोटगढ़ नामक एक पहाड़ी जिला है। वह हिन्दुस्तान से तिब्बत जाने वाले रास्ते पर पड़ता। वहां बेगार या जबरदस्ती मजदूरी करवाने की कुप्रथा प्रचलित थी। केवल सरकारी अधिकारी ही नहीं बल्कि शिकार या सैर के लिए जाने वाले यूरोपियन भी उस अधिकार के नाम पर वहां के ग्रामीणों को परेशान करते थे। बेगार का अर्थ है– किसी भी समय कम–से–कम दर पर जबरदस्ती काम करवा लेने की प्रथा। कई बार किसानों को नाममात्र की मजदूरी पर बुला लिया जाता था जिससे उनकी खेती को बहुत नुकसान होता था। इतना ही नहीं उनको साहबों के बंगलों पर अपनी गाएं ले जानी पड़ती थीं और वहां उन्हें दुह कर उनको सस्ते दाम में दूध देना पड़ता था।

यह प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही थी। लेकिन इधर कुछ दिनों में गरीब किसानों में जागृति हुई और उन्होंने इस कुप्रथा का विरोध करके अधिकारियों से फरियाद की परन्तु उनकी शिकायत मिटाना तो दूर उलटे उनके कपूरसिंह नामक स्थानीय नेता को जेल में डाल दिया गया। जनता पर दमन का दौरा प्रारंभ हो गया। शिमला से पुलिस बुलाई गई। दूसरे और लोगों को पकड़ा गया या मशीनगन, काला पानी, या आजीवन कैद आदि का भय दिखाकर छोड़ दिया गया। ऐसी परिस्थिति में कपूरसिंह के खिलाफ कुछ सबूत इकट्ठे किए गए और उसे सजा दे दी गई। यह 1921 की घटना थी जब सारे देश में असहयोग की गूंज हो रही थी।

कुछ समय के बाद श्री ई.एस. स्टोक्स नामक एक यूरोपियन ने इस मुद्दे को अपने हाथों में लिया और इस पुराने अन्याय का प्रतिकार करने के एक आवश्यक संगठन खड़ा किया। उन्होंने एक कमेटी बनाई और लोगों से यह प्रतिज्ञा करवाई कि वे शब्दशः कमेटी की आज्ञा पालन करेंगे और कमेटी के द्वारा ही अपनी बात कहेंगे।

अपनी मांग का एक प्रारूप अत्यन्त नपे–तुले शब्दों में तैयार करके जिला कमिश्नर के पास भेजा गया। उसने इसके ऊपर कोई ध्यान नहीं दिया। दूसरे अधिकारियों से भी मिला गया; लेकिन उसका भी कोई परिणाम नहीं निकला। वहां के ब्रिटिश अधिकारियों की सुख–सुविधा और ऐशा–आराम इसी प्रथा पर अवलम्बित थे, यही कारण था कि वे इस प्रश्न पर ध्यान देना नहीं चाहते थे। इसके बाद पंचायत ने यह प्रकट किया कि यदि एक

निश्चित समय में बेगार बंद नहीं की गई तो हजारों की बस्ती वाला यह जिला किसी भी प्रकार का काम करने से इंकार कर देगा।

नतीजा यह हुआ कि शिमला के कमिश्नर को वहां तक आना पड़ा। उसने गांव और लोगों में फूट डालने का पुराना रास्ता अख्तियार किया। कड़ी कार्रवाई करने की धमकी दी। लोगों ने पूरी तरह अहिसंक वातावरण बनाये रखा। उन्होंने किसी भी सरकारी अफसर अथवा उस भाग में प्रवास करने वाले यूरोपियन को अनाज देने या किसी भी प्रकार का काम करने से इंकार कर दिया। उन्होंने एक स्वर में कहा कि ''सबसे पहिले इस अन्यायपूर्ण प्रथा का अंत हो जाना चाहिए।'' कुछ महीनों तक लड़ाई चलती रही। कमिश्नर के आ जाने पर थोड़े दिन में ग्रामीणों की मांगें मंजूर कर ली गईं। सारे मुख्य–मुख्य रास्तों पर छपे हुए सरकारी परिपत्र लगाये गये। ग्रामीणों से करवाये जाने वाले काम काफी मर्यादित कर दिये गये और उनकी ठीक–ठीक मजदूरी भी निश्चित कर दी गई। इस प्रकार ग्रामीणों को उनकी सहनशीलता, ऐक्यता, त्याग करने की तैयारी और विशेषकर अहिंसक वृत्ति के कारण सफलता प्राप्त हो गई।

3.3.9 सामाजिक अन्याय के विरूद्ध सत्याग्रह

गांधीजी ने सदैव इस बात का प्रतिपादन किया कि सत्याग्रह एक ऐसा शस्त्र है कि जीवन के किसी भी क्षेत्र में, मित्र और शत्रु, अपने और पराये, एक और अनेक व्यक्ति और संस्था सबके विरूद्ध चलाया जा सकता है। जिस प्रकार 'गुरु का बाग सत्याग्रह' सम्पूर्ण जाति के सुधारकों द्वारा अन्याय और रुढ़िवाद के विरूद्ध किये हुए सत्याग्रह का उदाहरण है उसी प्रकार जाति के छोटे–छोटे समूहों के द्वारा उनसे भी ज्यादा छोटे कारणों के लिए किये हुए सत्याग्रहों के उदाहरण मौजूद हैं।

गुजरात के खेड़ा जिले में धर्मज नामक एक छोटा–सा ग्राम है। वहां के नवयुवकों ने इसी प्रकार का एक सत्याग्रह किया। ग्राम के एक प्रमुख नागरिक ने अपनी मां की बारहवीं के दिन बड़ा जातिभोज देने का निर्णय किया। जाति के नवयुवक इस प्राचीन प्रथा के विरूद्ध थे। उन्होंने उसे समझाने का काफी प्रयत्न किया लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला। उन्होंने इस बात की सौगन्ध खाई कि वे परोसे हुए अन्न का स्पर्श नहीं करेंगे, उस समारम्भ में भाग नहीं लेंगे, और विरोध रूप में उस दिन उपवास रखेंगे और जाति के बड़े–बूढे इस सम्बन्ध में उन्हें जो कुछ सजा देंगे या बुरा व्यवहार करेंगे उस सबको वे खुशी–खुशी सहन करेंगे।

अतः उस दिन लगभग 284 विद्यार्थियों एवं छोटे–छोटे बालकों ने उपवास किया। बड़े–बूढ़े खूब नाराज हुए लेकिन अपने सिद्धान्तों के लिये खुशी–खुशी कष्ट सहन को तैयार रहने वाले अपने ही बच्चों के विरूद्ध वे क्या करते? उन नवयुवकों को पत्र लिखकर गांधीजी ने उनकी त्याग करने की तैयारी की प्रशंसा की और उनको प्रोत्साहन देकर आगे लिखा–''यदि वे इस प्रकार दृढ़ रहे तथा शुद्ध, सुन्दर और प्रेममय हथियार का प्रयोग करते रहे तो समाज की सारी कुप्रथाएं नष्ट हो जाएगी।''

3.3.10 हरिजन सत्याग्रह

बंगाल के मुंशीगंज में कालीदेवी के सामने हरिजनों ने जो सत्याग्रह किया उसमें बड़े ही विचित्र ढंग से सफलता मिली। अन्य हिन्दू उपासकों की भांति मंदिर में प्रवेश करने की इजाजत प्राप्त करने के लिए उन्होंने 9 महीनों से अधिक सत्याग्रह किया। अंत में कुछ व्यक्तियों ने उपवास शुरू किया। इतना होने पर भी केवल उच्चवर्ण की स्त्रियों से ही यह सहा नहीं गया। उनमें से 200 स्त्रियों ने अपने हाथों में करबत, कुल्हाडी, हथोडे आदि लेकर मंदिर पर आक्रमण कर दिया और रास्ते की रुकावटें हटाकर देवदर्शन के लिए व्याकुल अपने हरिजन बन्धुओं के लिये मंदिर का मार्ग खोल दिया। इसपर सारा समाज चुप हो गया।

3.3.11 अन्य ऐतिहासिक उदाहरण

अल्डुस हक्सले हिन्दुस्तान के स्वातंत्र्य–संग्राम का उल्लेख न करके निम्नलिखित अहिंसक आंदोलनों का जिक्र करते हैं जो पूरी तरह अथवा किन्हीं अंशों में सफल हुए हैं।

फिनलैण्ड– 1901 से लेकर 1905 तक फिनलैण्ड के निवासियों ने रशियन अधिकारियों के विरूद्ध अहिंसक प्रतिकार किया। वह पूरी तरह सफल हुआ और फिनलैण्ड के ऊपर जो जबरदस्ती फौज में भर्ती होने का कानून लादा गया था वह उठा लिया गया।

जर्मनी– उसने लिखा है कि जर्मनी में बिस्मार्क के विरूद्ध अहिंसक प्रतिकार के दो मोर्चे सफल हुए– केथलिकों का कुल्टाकाम्फ (संस्कृति–रक्षा का युद्ध) और मजदूरों का मोर्चा जो सन् 1871 के बाद की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी को मान्यता प्राप्त कराने के लिए लड़ा गया था।

इंग्लैण्ड– ब्रिटिश मजदूरों ने अहिंसक असहयोग की धमकी देकर इंग्लैण्ड और रूस के युद्ध को टाल दिया था। 9 अगस्त 1920 के दिन जिस कौन्सिल ऑफ सेक्शन का निर्माण हुआ उसने सरकार को चेतावली दी कि यदि सरकार रूस पर आक्रमण करने के लिए पोलैण्ड में ब्रिटिश सेनाएं भेजने की योजना कार्यान्वित करने का आग्रह करेगी तो आम हड़ताल कर दी जायगी। मजदूर लोग सेना या शस्त्रास्त्रों को लाना–ले जाना बंद कर देंगे और उस युद्ध का पूर्णतः बहिष्कार किया जायगा। मजदूरों की ओर से यह अंतिम सूचना पाकर लायड जार्ज के मंत्रीमण्डल ने रूस पर आक्रमण करने का इरादा छोड़ दिया।

हंगरी– सम्पूर्ण राष्ट्र के द्वारा सामूहिक रूप से अहिंसक प्रतिकार करने का उदाहरण 19वीं शताब्दी के मध्य में हंगरी में मिलता है। इस लड़ाई के दो भाग किये जा सकते हैं। पहला भाग सन् 1833 से 1848 तक का और दूसरा भाग सन् 1848 से 1867 तक का।

सन् 1720 में या उसके आसपास आस्ट्रिया और हंगरी ने अपने संयुक्त प्रयत्न के द्वारा दूसरों के अधिकार से अपने प्रदेश मुक्त करवा लिये। उन्होंने स्वतंत्र एवं समान दर्जे के राष्ट्र के रूप में एक ही राजसत्ता के अधीन एकसाथ मिलजुल कर रहने का निर्णय किया। विएना में राजदरबार भरने लगा और हंगरियन सरदारों की राष्ट्रीय भावना धीरे–धीरे कमजोर हो गई। लेकिन कुछ निष्ठावान् एवं कट्टर लोगों के मन में यह भावना समाई रही कि हंगरी एक राष्ट्र है। सन् 1828 के आसपास जब आस्ट्रिया के राजा ने हंगरी के लोगों को सेना में भर्ती होने की आज्ञा दी तो उन्होंने भर्ती होने से इंकार कर दिया। उन्होंने कहा कि हंगरी की पार्लियामेन्ट को ही सैनिक भर्ती करने का अधिकार है। पांच वर्षों के झगड़े के बाद सन् 1833 में हंगरी की पार्लियामेन्ट बुलाई गई और उसके पहिले अधिवेशन में ही हंगरियन भाषा में भाषण देकर सब लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया। इससे कुछ लोगों को बड़ा धक्का लगा। इसके बाद– 'हम असहाय हैं, अतः हमकों आस्ट्रिया के सामने झुकते रहना चाहिए' इस प्रकार की शिक्षा देने वाले नरमदली लोगों को संबोधित करते हुए फ्रांसिस डीक नामक एक आदर्शवादी और कर्मठ नेता ने कहा–''तुम्हारे कानून पैरों तले कुचले जा रहे हैं फिर भी तुम्हारे मुंह में ताले पड़े हुए हैं। अपने अधिकारों पर हमला होते हुए देखकर भी जो राष्ट्र उसका मुकाबला नहीं करता, उसे धिक्कार है। इस प्रकार की मंत्रमुग्धता से तो हम अपनी गुलामी की जंजीर मजबूत ही कर रहे हैं। जो राष्ट्र अन्याय और जुल्म को चुपचाप सहन कर लेता है उसका विनाश निश्चित है।

उस समय तक झगड़ा चलता रहा जब तक कि सन् 1848 में हंगरी में जनता के प्रति उत्तरदायी सरकार की स्थापना नहीं हो गई। इस नई सरकार में डीक स्वयं न्याय विभाग का मंत्री बना। लेकिन यह विजय ज्यादा दिनों तक नहीं टिकी। हंगरी को अपने कब्जे में कर लेने के विचार आस्ट्रिया के दिमाग में लगातार घुमते ही रहते थे। उचित मौका मिलते ही आस्ट्रिया की सेना ने हंगरी के प्रदेश को घेर लिया।

पार्लियामेन्ट कुचल दी गई। राष्ट्रीय संस्थाएं तोड़ डाली गईं। हंगरियन भाषा का गला घोट दिया गया। कौन्टी कौन्सिल्स (स्थानीय संस्था) उठा दी गईं और सैनिक दृष्टि से देश का विभाजन करके उसे आस्ट्रिया के हाथ में सौंप दिया गया। कुछ समय तक कहीं भी आशा का कोई चिन्ह दिखाई नहीं दिया।

यूरोप के राजनीतिज्ञों ने कहा कि हंगरी मर गया है। लेकिन अपनी 'रीसरेक्शन ऑफ हंगरी' नामक पुस्तक में आर्थर ग्रिफिथ्स ने लिखा है–''फ्राँसिस डीक आज भी जीवित है और उसके जीवन में ही हंगरी का जीवन समाया हुआ है।

अब हंगरी के स्वातंत्र्य युद्ध का दूसरा दौर शुरू हुआ। अपने को राजनैतिक कार्य करने में असमर्थ देखकर डीक ने शिक्षा और उद्योग–धंधों की राष्ट्रीय योजनाएं बड़े जोर–शोर के साथ प्रस्तुत कीं। सन् 1857 तक हंगेरी की प्रगति विएना दरबार के लिए भय का विषय हो गई। आस्ट्रिया के राजा ने हंगरी को मनाने के भिन्न–भिन्न उपाय किये। घूस, अधिकार, धमकी सब कुछ देकर देख लिया; लेकिन डीक अविचल रहा। डीक ने लोगों को आदेश दिया कि जबतक हंगरी की पार्लियामेन्ट स्वतंत्र सरकार के रूप में मंजूर न कर ली जाय तब तक आस्ट्रिया के द्वारा शुरू किये हुए किसी भी काम में सहयोग न दिया जाय। जब आस्ट्रिया के राजा ने हंगरी का दौरा किया तो उसका बहिष्कार किया गया।

डीक ने लोगों को जो उपदेश दिया उनके मुख्य सूत्र इस प्रकार थे–''किसी भी प्रकार के हिंसाकाण्ड के प्रलोभन में मत फंसो और न कानून की मर्यादा ही छोड़ो। यही एक सुरक्षित रास्ता है जिसके द्वारा हम निःशस्त्र होने पर भी सशस्त्र शक्तियों के विरुद्ध टिक सकते हैं। यदि मुसीबतें उठानी पड़े तो बड़े धैर्य के साथ उठाओ।'' उसने घोषणा की–''हिंसा के अतिरिक्त सब तरीकों से प्रतिकार करो।''

हंगरी की जनता ने आस्ट्रिया के लोगों को कर देने से साफ इंकार कर दिया। आस्ट्रियन अधिकारियों ने धन–सम्पत्ति पर कब्जा कर लिया लेकिन उसे खरीदने–बेचने के लिये कोई भी हंगरियन तैयार नहीं हुआ। सरकार ने अनुभव किया कि कर लगाने की अपेक्षा माल जब्त करने में अधिक खर्चा होता है। बाद में कुछ दिनों तक आस्ट्रिया के सैनिकों को हंगरी के घरों में रखने की व्यवस्था की गई। लोगों ने शारीरिक प्रतिकार नहीं किया लेकिन असहयोग की नीति अपना ली। जब जनता ने किसी भी प्रकार की मदद करने से शांतिपूर्ण इंकार कर दिया तो आस्ट्रियन सैनिकों की स्थिति असह्य हो गई। सरकार ने आस्ट्रियन माल का बहिष्कार गैरकानूनी करार दे दिया। लेकिन हंगरियन पीछे नहीं हटे। सारी जेलें भर गईं। आस्ट्रिया की पार्लियामेन्ट में एक भी प्रतिनिधि भेजने से हंगरी ने इंकार कर दिया। कौन्टी कौन्सिल ने भी आस्ट्रिया की देखरेख में काम करने से इंकार कर दिया। इस पर फ्रांसिस जोसफ ने समझौते के लिए प्रयत्न किया। कैदियों को मुक्त कर दिया गया और थोड़ा–बहुत स्वायत्त शासन दिया गया। लेकिन हंगरियनों ने इस बात पर जोर दिया कि उनको सम्पूर्ण अधिकार मिलने चाहिए। राजा ने गुस्से में आकर जबरदस्ती सैनिक भर्ती करने की आज्ञा निकाली। लेकिन जनता ने इस आज्ञा को मानने से इंकार कर दिया। अंत में आस्ट्रिया को झुकना पड़ा और 18.02.1867 को हंगरी को शासन–विधान के सम्पूर्ण अधिकार मिल गये।

3.3.12 पेक्स की खानों के मजदूरों की हड़ताल

1926 की इंग्लैण्ड की आम हड़ताल अहिंसक प्रतिकार में विशेषतः नेताओं में मूलभूत कमियां रह जाने के कारण असफल हुई लेकिन हंगरी में पेक्स की हड़ताल ने तथा उसे अंत में जो सफलता मिली उसने एक बात सिद्ध कर दी कि यदि कुछ इने–गिने दृढ़निश्चयी लोग सही स्थिति ग्रहण कर लें और अंत तक उसपर डटे रहें तो जो चाहें वही करके दिखा सकते हैं।

हड़ताल का कारण था– आर्थिक। सन् 1934 में पेक्स के 1200 मजदूरों ने ज्यादा काम और एक सप्ताह के 14 शिलिंग के कम वेतन के लिए हड़ताल कर दी। मंदी के कारण उनको सप्ताह में केवल तीन दिन काम मिलता था। मजदूरी बिल्कुल अपर्याप्त होती थी। उसमें भी उनकी तनख्वाह में से आठ प्रतिशत काट लिया जाताा था।

जब मजदूर लोग खानों में थे तभी हड़ताल की घोषणा कर दी गई। वे वहीं बैठ गये और जबतक उनकी मांग मंजूर न हो तब तक ऊपर आने से इंकार कर दिया। दो दिन के बाद उनमें से 44 व्यक्तियों की हालत खराब हो जाने से उनको ऊपर लाना पड़ा। भूख–प्यास और थकावट से वे बेहाल हो गये थे। उनमें से कुछ लोग तो बेहोश हो गये थे। कितने ही बड़बड़ा रहे थे और कितने ही मृत्यु के नजदीक पहुंच गये थे। हंगरियन सरकार ने यह जाहिर किया कि पेक्स के आसपास के क्षेत्र में खतरा पैदा हो गया है और वहां सेनाएं तैनात कर दीं। खान के मजदूरों से जो समझौते की बातचीत हुई उससे कोई नतीजा नहीं निकला।

खान के अंदर से मजदूरों ने संदेशा भेज दिया कि ''जबतक आप हमारी सारे मांगें अभी मंजूर करने का वचन नहीं देते तबतक आगे बातचीत करना व्यर्थ है। ऊपर आकर भूखों मरने के बजाय हम यहीं दम घुटकर मर जाना पसन्द करेंगे। हम हंगरियन हैं और हमें आशा है कि खान के गर्त में से और हमारे पीड़ित हृदय में से जो करुण चीत्कार उठ रही है वह हमारे देशवासियों तक अवश्य पहुंचेगी .....। जब हम युद्ध के सैनिक थे तब हमें संरक्षण प्राप्त था। आज हम उत्पादन के सैनिक हैं। अतः हमारा दावा है कि हमें अब भी उसी प्रकार का संरक्षण मिलना चाहिए।'' इसके बाद उन्होंने 345 शव–पेटियां भेजने की प्रार्थना की और संदेशा दिया– कि हमने मृत्यु को अपना लेने का निश्चय कर लिया है। हमारी याद भुला दीजिये। बाल–बच्चों को हमारा अंतिम आशीर्वाद।

तीसरे दिन खानों के मालिकों ने दूसरे 3000 मजदूरों के लिए तालेबंदी कर दी। इससे खान विभाग के 40000 लोगों में और कटुता फैल गई। रास्तों पर सेना की गश्त शुरू हो गई। हड़ताल से सहानुभूति रखने वाले और ये सब बातें अपने सामने देखने वाले दो व्यक्ति समझौते का प्रयत्न करने के लिए मजदूरों के पास गये। सोशल डेमोक्रेटिक दल को पार्लियामेन्ट का सदस्य चार्ल्सपेअर ने कहा–''मैंने कई उग्र हड़तालें देखी हैं, लेकिन पेक्स की हड़ताल में मैंने जितना जबरदस्त दृढ़ निश्चय देखा है, उसका मुकाबला किसी से भी नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार हंगरियन पार्लियामेन्ट के डेमोक्रेटिक–सोशलिस्ट सदस्य जनरल जेमास ने खानों के गर्भ में ऐसे मजदूरों को देखा जिनको उनके मित्रों ने, इसलिए खम्भों से बांध दिया था कि कहीं वे आत्महत्या न कर लें। वहां उसे भूख, थकावट, सामूहिक उन्माद साकार रूप में दिखाई दिये। उसने इस घटना का–''मेरे जीवन का एक भयंकर दृश्य'' कहकर वर्णन किया है।

चार दिनों के बाद समझौता करने के लिए उनको तैयार किया गया। सरकारी रेलों ने कम्पनी से ज्यादा कोयला खरीदना स्वीकार कर लिया। सरकार ने यह जाहिर किया कि वह वेतन काटने के बारे में जांच करेंगी। कम्पनी ने वादा किया कि वह किसी भी मजदूर को हड़ताल करने के लिए परेशान नहीं करेगी और उसने थोड़ा–सा बोनस भी दिया।

लेकिन जब हड़तालियों की हालत सुधरी तब उनके समाधान का कोई कारण नहीं दिखाई दिया। उनका कहना था कि जब उन्होंने शर्तें मंजूर कीं तब उनका मन अत्यन्त दुर्बल हो गया और वे अच्छी तरह नहीं जानते थे कि, वे क्या कर रहे हैं। चार दिनों तक खानों में रहने के कारण वे इतने थक गये थे कि उनका अपने दिमाग पर कोई काबू नहीं रहा।

साढ़े तीन महीनों के बाद पेक्स के 698 खान के मजदूरों ने दस फीसदी मजदूरी बढ़ाने के लिए फिर हड़ताल कर दी। तालेबंदी और सेनाओं का प्रदर्शन हमेशा की तरह हुआ ही; परन्तु 29 घंटों में ही व्यवस्थापकों ने उनकी मांग मंजूर कर ली और हड़ताल करने के लिये मजदूरों को कोई तकलीफ न देना भी मंजूर कर लिया।

इस हड़ताल के बारे में ग्रेग ने कहा–''हड़ताल के कुछ काम और उसके कुछ मजदूरों की अंतःप्रवृत्ति यद्यपि हिंसक थी, फिर भी उनकी तीव्र निराशा, कष्टसहन, एक्यता और सहनशीलता, अन्याय के सम्बन्ध में स्पष्टता– ये सब बातें इतनी विचित्र थीं कि संसार की लापरवाही और अज्ञान एकदम नष्ट हो गया। दूसरी हड़ताल में मालिकों को मजदूरों की सब मांगें मंजूर करनी पड़ीं।

3.3.13 रौलट एक्ट सत्याग्रह

चंपारन (1917) और खेड़ा (1918) के छोटे–छोटे सत्याग्रह के बाद जब रौलट बिल पर कानून की मुहर लग गई तो गांधीजी को राष्ट्रव्यापी आंदोलन करने का मौका अचानक मिल गया।

प्रथम महायुद्ध का अंत नवम्बर 1918 में हुआ और विजय का दायित्व मित्रराष्ट्रों को मिला। विजय प्राप्ति के युद्ध में हिन्दुस्तान ने स्वेच्छापूर्वक अपना रक्त बहाया था और तिजोरियां खाली कर दी थीं। हिन्दुस्तान को यह आशा थी कि यदि पूर्ण स्वराज्य नहीं तो कम–से–कम स्वराज्य का अधिकांश भाग तो उसे मिलेगा ही। लेकिन उनके नागरिक अधिकारों को कुचल देने वाला रौलट एक्ट पास कर दिया गया। सरकार ने राजद्रोह का नाम–निशान तक मिटा देना तय किया और इस कानून के द्वारा भारत रक्षा कानून अथवा आर्डिनेन्सों के समान सरकारी जांच करने के अधिकार सरकार ने इस कानून के द्वारा अपने हाथ में ले लिये।

हिन्दुस्तान के क्रांतिकारी अपराध और राजद्रोह रौलट रिपोर्ट 19.1.1919 को प्रकाशित की गई। 6.2.1919 को गांधीजी ने यह घोषित किया कि यदि यह बिल कानून बन गया तो वे इसके विरुद्ध सत्याग्रह करेंगे। दूसरा बिल तो रोक दिया गया था किंतु 'क्रिमिनल लॉ अमेन्डमेन्ट एक्ट' पास हो गया। 18 मार्च 1919 को उन्होंने सत्याग्रह के लिए एक प्रतिज्ञापत्र प्रकाशित करवाया। यह सब अभी नई स्थापित की हुई सत्याग्रह समिति के नाम से ही किया गया। मद्रास से यह सूचना भेजी गई कि 30 मार्च सत्याग्रह के पहले दिन के रूप में मनाया जाय। लेकिन बाद में इसे बदलकर 6 अप्रैल कर दिया गया। यह नई सूचना दिल्ली तथा अन्य कुछ स्थानों पर न पहुंच सकी और वहां 30 मार्च को ही सत्याग्रह दिवस मनाया गया।

प्रतिज्ञापत्र में रौलट एक्ट का वर्णन ''अन्यायपूर्ण तथा न्याय और स्वाधीनता के सिद्धान्तों के लिए घातक और व्यक्ति के उन मौलिक अधिकारों को हानि पहुंचाने वाला, जिनपर भारत और स्वयं राज्य की रक्षा अवलम्बित है'' कहकर किया गया था।

28 फरवरी 1919 को, जो घोषणापत्र प्रकाशित किया गया उसमें गांधीजी ने कहा–''आज हम जो कदम उठा रहे हैं वह हिन्दुस्तान के इतिहास में सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण गिना जायगा। ज्यादा–से–ज्यादा कष्टसहन करने का निश्चय करके तथा सरकार के प्रति किसी भी प्रकार की द्वेषभावना मन में न आने देते हुए प्रतिज्ञाबद्ध सत्याग्रही सरकार से अंतिम प्रार्थना करता है। अपनी शिकायतों को दूर करवाने के साधन के रूप में जो हिंसा की क्रियाशीलता में श्रद्धा रखते हैं उन्हें सत्याग्रह एक अमोघ उपाय बताता है। इसके अलावा जो इस उपाय को अपनाता है और जिसके विरुद्ध इसे अपनाया जाता है उन दोनों के ही लिए यह कल्याणकारी है। यह अन्याय अत्यन्त भयंकर है और इसे मिटाने के सारे सौम्य उपाय असफल सिद्ध हो गये हैं। सत्याग्रही इस बात का निश्चय पहिले ही कर लेता है।''

सम्पूर्ण हिन्दुस्तान में सत्याग्रह दिवस किस प्रकार मनाया जाय इस सम्बन्ध में गांधीजी ने कहा–''सत्याग्रह खासकर एक धार्मिक आंदोलन है। वह तपस्या और आत्मशुद्धि का ही एक मार्ग है। सत्याग्रह कष्टसहन के द्वारा अन्याय को मिटाने का सुधार करने का प्रयत्न करता है। 6 अप्रैल का दिन हमारे अपमान और उसके निवारण के लिए प्रार्थना दिवस के रूप में मनाया जाना चाहिए। सत्याग्रह दिवस के लिए उन्होंने निम्नलिखित कार्यक्रम सुझाए–

1. चौबीस घंटों का उपवास किया जाय। लेकिन वह भूख हड़ताल की तरह सरकार पर दबाव डालने के लिए न हो। बल्कि सविनय कानून भंग के लिए एक योग्य सत्याग्रही बनाने वाले आवश्यक अनुशासन के साधन के रूप में हो। जिसने सत्याग्रह की प्रतिज्ञा नहीं की है उन्हें भी अपनी जख्मी भावनाओं की तीव्रता के प्रतीक के रूप में उपवास करना चाहिए।
2. उस दिन सब जगह हड़ताल रखी जाय।
3. आम सभाओं का आयोजन करके उनमें रौलट एक्ट वापस ले लेने का प्रस्ताव पास किया जाय।

यह कार्यक्रम आम जनता के लिए था। लेकिन प्रतिज्ञाबद्ध सत्याग्रही के लिए एक विशेष कार्यक्रम बनाया गया था। अकेले बम्बई में ही प्रतिज्ञाबद्ध सत्याग्रहियों की संख्या 600 थी। उन्हें सत्याग्रह समिति की ओर से जब्त साहित्य तथा अखबारों के रजिस्ट्रेशन के कानून को सविनय भंग करने की सूचना दी गई थी। दूसरी बातों के साथ ही उन्हें इस बात की भी सविस्तार सूचना दी गई थी कि सजा जुर्माना, तख्ती आदि के लिए कोर्ट में कोई बचाव न करते हुए किस प्रकार निर्भयपूर्वक उनका मुकाबला किया जाय।

सारे हिन्दुस्तान से इस आंदोलन का बहुत जोरदार समर्थन किया गया। बहुत–से स्थानों पर शांतिपूर्ण हड़ताल, उपवास, प्रार्थना और विशाल आम सभाएं आदि कार्यक्रम हुए। उनमें लाखों लोगों ने भाग लिया। लेकिन दुर्भाग्य से कहीं–कहीं जनता ने जरूरत से ज्यादा उत्साह दिखाया। पुलिस ने भी परिस्थिति को सहानुभूति और चतुरता से संभालने का प्रयत्न नहीं किया। दिल्ली में 30 मार्च को ही यह दिन मनाया गया। वहां पुलिस ने गोली चलाई। जिसमें 5 व्यक्ति मारे गये और कितने ही जख्मी हो गये। दूसरे स्थानों पर भी सरकार ने दमन–चक्र चलाया। कांग्रेस के आगामी अधिवेशन की तैयारी करने के लिए डॉ. किचलू और डॉ. सत्यपाल अमृतसर गये थे। वहां उनको गिरफ्तार करके अज्ञात स्थान में ले जाया गया। सरकारी अफसर के प्रक्षोभजनक व्यवहार के कारण गुजरानवाला व कसूर के लोगों ने हिसां का अवलम्बन किया। इस प्रकार पंजाब की स्थिति भी अत्यन्त गंभीर हो गई। गांधीजी को जल्दी ही वहां बुलाया गया। अतः वे वहां जाने के लिए रवाना हो गये। लेकिन पंजाब सरकार ने उनको रास्ते में ही रोककर पुलिस के पहरे में वापस बम्बई पहुंचा दिया। इस बात से अहमदाबाद ओर बीरमगांव की जनता ने हिंसा का अवलम्बन करके जानमाल पर आक्रमण कर दिया।

इसके बाद जलियानवाला बाग ने तो दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं की हर हद पार कर दी। वहां जनरल डायर ने जो गोली चलवाई उससे ही सरकारी रिपोर्ट के अनुसार 400 निःशस्त्र और असहाय लोग उसके शिकार हुए और लगभग 1000 व्यक्ति घायल हुए। इसके साथ फौजी कानून लगा दिया गया जिसके द्वारा मुल्की और फौजी अधिकारियों ने जनता पर मनमाने अत्याचार किये। खुलेआम कोड़े लगाना, कतार बांधकर चलाना, जल्दी ही मुकदमा चलाकर सजा देना आदि बातें चालू रहीं। कितने ही महीनों तक पंजाब पर मानो शैतान के राज्य की काली छाया फैली रही। वे कृत्य ब्रिटिश शासन पर ऐसे कलंक हैं जो कभी भी मिट नहीं सकेंगे। अकेले पंजाब में ही 51 व्यक्तियों को फांसी की सजा दी गई और लगभग 200 व्यक्तियों को लम्बी–लम्बी सजाएं दी गई। कई लोगों को देश–निकाला दिया गया। इनमें से कुछ घटनाओं से तो गांधीजी बौखला उठे। किसी को

सत्याग्रह के नाम पर कलंक लगाने का मौका न मिले यह विचारकर उन्होंने 18 अप्रैल 1919 को आंदोलन स्थगित कर दिया। उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि लोग सामुदायिक हिंसा करने पर आमादा हो जाते हैं। जनता द्वारा किये हुए हिंसक कार्यों की आड़ लेकर सरकार ने जो क्रूर दमनचक्र चलाया था वे उसे रोक देना चाहते थे। उस समय के एक वक्तव्य में वे कहते हैं–'आज सत्याग्रह पर मेरी श्रद्धा पहले से भी ज्यादा दृढ़ हो गई है। यह मेरा सत्याग्रह–शास्त्र का दर्शन ही है जिसके कारण मुझे यह आंदोलन बंद करना पड़ रहा है। ... मैं हिंसक प्रवृत्ति के अस्तित्व से परिचित हूं .... अहमदाबाद और बीरम गांव में जो हिंसा हुई है उसका सत्याग्रह से तनिक भी सम्बन्ध नहीं हैं ..... उस हिंसा से सत्याग्रह का थोड़ा–सा भी कार्यकरण–सम्बन्ध नहीं है। यदि कुछ है तो सत्याग्रह ने उसे रोकने में ही मदद की है। ..... पंजाब की घटनाओं से सत्याग्रह का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। हमें इस अपराध करने की प्रवृत्ति का अंत करके शांति प्रस्थापित करने के मार्ग में सरकार की जितनी भी हो सके मदद करनी चाहिए। एक सत्याग्रह के नाते आज हमारा यही कर्तव्य है। हमें निर्भयता से सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों का समर्थन करते रहना चाहिए। जब ऐसा होगा तभी हम सामुहिक सत्याग्रह के मार्ग पर चलने के योग्य हो सकेंगे।''

गांधीजी ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि सरकारी नीति में वांछनीय परिवर्तन के चिन्ह दिखाई देने के कारण अनेक मित्रों और हितचिंतकों की सलाह के अनुसार वे सविनय कानून भंग प्रारम्भ नहीं करेंगे। क्योंकि वे सरकार को परेशान नहीं करना चाहते। उन्होनें सारे सत्याग्रहियों को शुद्ध स्वदेशी तथा हिन्दू–मुस्लिम ऐक्य का प्रचार करने की आज्ञा दी।

किंतु जिस रौलट एक्ट हो वापस लेने के लिए सत्याग्रह प्रारंभ किया गया था उसका भविष्य निश्चित हो गया था। एक भी बिल कानून नहीं बन सका और जिसपर कानून की मुहर लगी वह कभी भी लागू नहीं किया जा सका। वह कानून कागजों में ही रहा।

जितने राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह हुए उनमें यह पहली राष्ट्रव्यापी लड़ाई थी। यह सत्याग्रह केवल 6 अप्रैल से 18 अप्रैल तक ही चालू रहा। इस युद्ध में एक ओर हिन्दुस्तान की सरकार और दूसरी ओर आम जनता थी। लड़ाई का कारण था नागरिकों की स्वतंत्रता पर आघात करने वाले अन्यायपूर्ण और प्रक्षोभक कानूनों का जनता पर लादा जाना और सत्याग्रह का स्वरूप था– सत्याग्रह समिति द्वारा चुने हुए कुछ अनुचित कानूनों का सविनय भंग करना। शांतिपूर्ण हड़ताल, उपवास, प्रार्थना तथा आम सभा का कार्यक्रम जनता के सामने रखा गया। दुर्भाग्य से कई जगह सामूहिक हिंसाकाण्ड शुरू हो गये और सरकार ने भी अत्यन्त निर्दयतापूर्वक उसका दमन करना शुरू कर दिया। अंत में सत्याग्रह का मूल उद्देश्य रौलट एक्ट को बेजान बना देना, सफल हो गया।

4. अभ्यास प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अहिंसा पर आधारित जीवन शैली के विभिन्न सूत्रों की विवेचना करें।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. ''व्यवस्था परिवर्तन'' को समझाइये।

2. ''सम्यक आजीविका'' के आयाम का वर्णन कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. आक्रमण का हेतु है–

अ. क्रोध ब. लोभ

स. क्षोभ द. उपरोक्त सभी

2. भोगवादी संस्कृति का मूल कारण क्या है?

अ. हिसां ब. शोषण

स. असंयम द. लोभ

3. महावीर के काल में मुख्य व्यवस्था थी–

अ. बढ़ईगिरी ब. साहूकारी

स. कृषि द. उपरोक्त सभी

4. अहिंसक चिकित्सा पद्धति के उदाहरण हैं–

अ. आयुर्वेद ब. प्राणायाम

स. ध्यान द. उपरोक्त सभी

5. मतदान की पद्धति के साथ कौन–सी बुराई जुड़ी है–

अ. हत्या ब. प्रलोभन

स. हिंसा द. अहम्

6. गांधी द्वारा आत्मसंयम की दिशा में किए गए प्रयास का उदाहरण है–

अ. स्वदेशी ब. अस्पृश्यता

स. ग्रामोद्योग द. उपरोक्त सभी

7. ..... जीवन का शाश्वत मूल्य है।

8. स्वार्थ ..... साम्राज्यवाद को विकसित करता है।

9. विकास की वर्तमान अवधारणा ..... और ..... पर टिकी है।

10. ..... मृत्यु व्यक्ति की सबसे बड़ी पराजय है।